भक्ति-काव्य के मूल स्रोत



दुर्गाशंकर मिश्र
एम० ए०, साहित्यरत्न



प्रकाशक

नवयुग ग्रंथागार

सी ७४७ : महानगर
लखनऊ



प्रथमावृत्ति

दिसम्बर १९५८





मूल्य

पाँच रुपए पचहत्तर नए पैसे



मुद्रक

रामचरण लाल श्रीवास्तव

पवन प्रिंटिंग-प्रेस

नजीराबाद, लखनऊ

कुछ, बहुत कुछ, कुछ भी नहीं !!!

प्रस्तुत पुस्तक जब आद्योपांत छप चुकी थी तब एक दिन इसके छपे हुए पृष्ठों को देखते समय मुझे ऐसा लगा कि इसका नाम 'भक्ति-काव्य के मूल स्रोत' न होकर 'भक्ति-काव्य के प्रेरणा स्रोत' होना चाहिए था; कारण कि पुस्तक का नाम 'भक्ति-काव्य के मूल स्रोत' कतिपय भ्रांतियाँ भी उत्पन्न कर सकता है। सामान्यतया पुस्तक के इस नाम को पढ़कर बहुत से व्यक्ति यही अनुमान करेंगे कि इसमें भक्तिकालीन काव्यधारा की विविध प्रवृत्तियों का ही विवेचन किया गया होगा लेकिन वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है। तेरह अध्यायों की इस दो सौ सोलह पृष्ठों की पुस्तक में कहीं भी भक्ति-काव्य की विभिन्न धाराओं को विवेचना का विषय नहीं बनाया गया और वास्तविकता तो यह है कि लेखक का उद्देश्य निर्गुण एवं सगुण धारा की काव्य प्रवृत्तियों या सिद्धांतों एवं उनके दार्शनिक पक्ष पर विचार करना नहीं था। वह तो केवल यह स्पष्ट करना चाहता था कि भक्ति-काव्य का जो स्रोत इस भारतवर्ष में प्रवाहित हुआ है मूलतः उसे प्रेरणाएँ कहाँ से प्राप्त हुई हैं और उसका प्रारंभिक रूप सामान्यतया कैसा था? लेखक कभी भी यह स्वीकार करने के पक्ष में नहीं रहा कि भक्ति-आंदोलन भारत में एकाएक उठ खड़ा हुआ था या विदेशियों के आक्रमण से इसके पुनर्जीवित होने में सहायता मिली? ये सब बातें तो भारत की अंतरात्मा के—उस देश के जिसने कि ज्ञान-विज्ञान का शुभ्र प्रकाश चारों व्याप्त किया है—सर्वथा विरुद्ध है? अतः हमें यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि भारतीय भक्ति-साधना शनैः शनैः विकसित हुई है और उसे प्रभावित करने या उत्प्रेरित करने में किसी भी बाह्य शक्ति का सहयोग नहीं रहा। वह तो पूर्णतया भारतीय ही है और भारत की होते हुए ही वह दूसरों को प्रभावित कर रही है?

इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय भक्ति-साधना के कुछ मूल स्रोतों पर प्रकाश डाला गया है लेकिन यहाँ यह सब स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि आखिर लेखक ने 'कुछ' विषयों पर ही प्रकाश क्यों डाला और क्या कारण है कि उसने नवीन अनुसंधानों का अवलम्ब नहीं लिया? लेखक यह स्वीकार करता है कि इस पुस्तक में अभी बहुत कुछ सामग्री जोड़नी चाहिए थी तभी यह पुस्तक नाम के अनुरूप हो पाती अन्यथा इससे हमें भक्ति-साधना के मूल

स्रोतों का पूर्णत: आभास नहीं हो पाता है परन्तु इन सब तर्कों का उत्तर इस छोटी सी कथा में मिल जाता है और उसे जान लेने पर कम से कम यह भावना तो हृदय से दूर हो ही जाएगी कि इस पुस्तक में तथाकथित 'बहुत कुछ' न रहने से 'कुछ भी नहीं' की आशंका अनुपयुक्त सी है।

मेरी कथा साधारण सी है। बचपन से ही घोर आस्तिक परिवार में पलने के कारण और छोटी सी आयु में ही मातृविहीन हो जाने से मैं अप्रत्यक्ष ईश्वर को न केवल सर्वशक्तिमान समझता था अपितु उस समय भी मुझे यही भास होता था कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ और मेरे जीवित रहने में भी एक अदृश्य शक्ति का सहयोग अवश्य है अन्यथा जिन संघर्षों के मध्य मुझे रहना पड़ा उनमें मेरी इस हार्दिक भक्ति-भावना ने ही मुझे कभी निराश न होने दिया। अपने लेखकीय जीवन के प्रारम्भ में मैंने जो धर्माचार और वेदान्त, रामकृष्ण परमहंस की विचार धारा, विवेकानन्द का आध्यात्मिक दृष्टिकोण, अनीश्वरवाद का औचित्य आदि निबन्ध लिखे थे वे उन्हीं दिनों अर्थात् सन् ४६-४७-४८ के मध्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुए थे।

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर दूँ कि विभिन्न शास्त्रों, पुराणों एवम् धार्मिक साहित्य के अध्ययन का जो अवसर मुझे उन दिनों प्राप्त हुआ था वह अभी तक फिर कभी न प्राप्त हो सका। उन्हीं दिनों मैं कुछ-कुछ समीक्षाएँ भी लिख लेता था, परीक्षाओं के व्यामोह में भी ग्रस्त था और जीविकोपार्जन की समस्या भी मेरे सामने थी अत: इस त्रिधारा के मध्य मेरी चिन्तना-शक्ति दर्शन एवं अध्यात्म से दूर हटती गयी और परिणाम यह हुआ कि बहुत दिनों तक मैं इस दिशा में कुछ भी न कर सका। परन्तु समय निकाल कर मैं इस सम्बन्ध में विविध पुस्तकों का अध्ययन अवश्य करता रहा और इसीलिए न जाने कितनी विभिन्न भाषाओं की पुस्तकें मेरी दृष्टि में आईं तथा जिज्ञासु की भाँति मैंने उन्हें देखा, पढ़ा और समझने का प्रयास भी किया।

सन् ५५ के नवम्बर-दिसम्बर की बात है कि मैं जब नागपुर में अपने विद्यार्थियों को सूर साहित्य की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते समय कृष्ण काव्य की मूल प्रेरणाओं पर प्रकाश डाल रहा था कि कक्षा में से एक तेलगू भाषा-भाषी छात्रा कुमारी हेमलता नायडू ने मुझसे यह प्रश्न पूँछा कि आप साकारोपासना और निर्गुणोपासना में से किसे प्राचीन समझते हैं? यों यह प्रश्न उस समय विषय से सम्बद्ध न था लेकिन संक्षेप में मैंने उसे समझा दिया परन्तु

मेरा उत्तर मुझे ही काफी समय तक इस बात के लिए प्रेरित करता रहा कि इस विषय पर कुछ लिखना चाहिए। फलत: दिसम्बर ५५ में मैंने 'भक्तिकालीन काव्य धारा' नामक एक पुस्तक लगभग पाँच खण्डों में लिखने का विचार किया और प्रथम खंड की साढ़े तीन सौ पृष्ठों की सामग्री तैयार भी की तथा द्वितीय खंड का कुछ अंश भी उन्हीं दिनों लिखा गया। यह सब मैटर टाइप भी कराया गया और इस प्रकार १० जनवरी ५६ तक इस सम्बन्ध में कुछ कार्य मुझसे हो सका। इन पृष्ठों को तैयार करते समय मुझे स्वर्गीय प्रो. सुशीला अवस्थी एम० ए०, शास्त्री, प्रिय छात्रा कुमारी सरला शर्मा—जो कि अब प्राध्यापिका सरला शर्मा एम० ए० साहित्यरत्न हैं— तथा कुमारी कुमुद बापट ने जो निस्वार्थ सहयोग प्रदान किया उसके लिए उन सबको धन्यवाद न देना कृतघ्नता ही होगी। साथ ही कुमारी हेमलता नायडू के प्रति भी लेखक कृतज्ञ हैं जिन्होंने कि लेखक को इस सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए मूलत: प्रेरित किया है।

परन्तु इन साढ़े तीन सौ पृष्ठों के पश्चात मैं कुछ भी न लिख सका। उन्हीं दिनों जनवरी ५६ के अंत में मैं अन्य स्थानों में घूमता हुआ अलाहाबाद और लखनऊ भी आया था। अलाहाबाद में श्री परशुराम जी चतुर्वेदी तथा भाई नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने उस टाइप्ड प्रति के कुछ अंश सुने तथा उन्होंने उसे पसंद भी किया। लखनऊ में मेरा काफी समय डॉ. भगीरथ मिश्र रीडर, हिंदी विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय के साथ व्यतीत हुआ और टाइप्ड प्रति उनके पास ही कुछ दिनों तक रही। उन्होंने भी उसे देखा तथा मेरे कार्य को पसंद किया।.......... कालांतर में कुछ माह पश्चात जब 'सहज-साधना' नामक विषय पर भाषण देने डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी नागपुर आए तब उनसे भी मेरी भेंट हुई और उन्होंने भी उस अधूरी पुस्तक को देखा तथा उनकी भी यही इच्छा था कि मैं उसे पूरा कर डालूँ।..... यों मैं भी चाहता था कि लगभग साढ़े बारह सौ पृष्ठों की एक पुस्तक तैयार की जाय परन्तु विगत दो वर्षों में मैं कुछ भी न कर सका।........ इधर-उधर खानाबदोशों की सी जिंदगी व्यतीत करनी पड़ी और जीवन के कई कटु अनुभव भी सहन किए। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि मैंने अपनी उस अधूरी साढ़े तीन सौ पृष्ठों की टाइप्ड प्रति के कुछ अंशों को पत्र-पत्रिकाओं में लेखों के रूप में प्रकाशित करवा दिया। ये लेख आकार में संक्षिप्त ही थे और भाषा तथा विषय दोनों की दृष्टि से मेरी मूल टाइप्ड प्रति से विभिन्न थे, परन्तु पत्र-पत्रिकाओं में

प्रकाशित होने के पश्चात् इनका समादर ही हुआ तथा कुछ तो अँग्रेजी और मराठी आदि भाषाओं में अनूदित भी हुए हैं।..........समय बीतता गया और मैं उस अधूरी पांडुलिपि की ओर देख भी न सका।

अपने इस लखनऊ निवास में मेरा ध्यान इस ओर पुनः आकृष्ट हुआ और इसका श्रेय भी डॉ. भगीरथ मिश्र को ही है जिन्होंने कि मुझे लखनऊ रहने के लिए प्रेरित—बल्कि अधिक सुंदर होगा—बाध्य किया तथा मेरी समस्याओं को सुलझाने में अपना उन्मुक्त सहयोग भी दिया। उन्होंने ही एक दिन मुझसे कहा कि भक्ति-काव्य सम्बंधी पुस्तक को शीघ्र ही पूरा कर डालना चाहिए परन्तु अभी मैं अपने आपको सुस्थिर नहीं कर पाया हूँ अतः उस सम्बंध में आगे कुछ लिखना असंभव जाना पड़ा।.......... तब मैंने अपने भक्ति-साधना-सम्बंधी उन प्रकाशित निबंधों को ही पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित करवा देना उचित समझा और इस प्रकार यह पुस्तक प्रकाश में आ सकी। इस दृष्टि से इस पुस्तक में दिए गए विचार तीन वर्ष पुराने हैं और इनमें विषय की संक्षिप्तता भी है अतः आलोचना की निकष में कसते समय इनमें 'बहुत कुछ' तो नहीं मिलेगा। यों तो अब मैं उस टाइप्ड प्रति को भी नए ढंग से लिखने वाला हूँ और मैंने इधर नए अनुसंधान भी किए हैं। समय अवश्य लगेगा लेकिन आशा है मेरी लालसा पूर्ण अवश्य होगी तथा भारतीय भक्ति-साधना पर एक विशद पुस्तक मैं अवश्य लिख पाऊँगा। इस प्रकार अपने इस 'शिशु प्रयास' को प्रस्तुत करते समय मैं इसे 'कुछ, बहुत कुछ, भी नहीं' की सीमाओं में बँधा पाता हूँ क्योंकि 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार इसके सम्बंध में निस्संदेह विभिन्न मत होंगे। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि दक्षिण भारत के सम्बंध में कुछ लिखते समय मैंने सर्वथा नवीन दृष्टिकोण रखने का प्रयास किया है। यदि इस प्रयास में पाठकों को 'कुछ' भी मिल सका तो मेरी दृष्टि में वही 'बहुत कुछ' है; अधिक प्राप्ति की आशा तो लोलुपता की द्योतक होती है..............

कार्तिक पूर्णिमा, सं. २०१५
२१४; राजेन्द्रनगर, लखनऊ

दुर्गाशंकर मिश्र

समर्थ समीक्षक, निबंधकार एवम् रसज्ञ कवि

आदरणीय

भाई

डॉ० भगीरथ मिश्र

को

सादर

जिनके पास सशक्त लेखनी के साथ-साथ एक उदार

एवम् ममतामय हृदय भी है.........

और

जिन्होंने कि लेखक को सर्वदा ही ज्येष्ठ भ्राता की भाँति शुद्ध

निर्मल स्नेह प्रदान कर कर्म-पथ पर प्रवृत्त रहने के

लिए प्रेरित किया है ....

विषय-सूची

भक्ति-काव्य के मूल स्रोत

भक्ति-साधना का क्रमिक विकास

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है।"[1] वस्तुतः भक्ति शब्द 'भज्' सेवायाम् धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगा कर बनाया गया है जिसका अर्थ भगवान् का सेवा प्रकार है। भक्ति की व्याख्या और महिमा को चित्रित करने का सर्वप्रथम प्रयास कदाचित् नारद और शांडिल्य ने ही किया है यद्यपि कुछ विद्वानों का मत है कि शांडिल्य का भक्तिसूत्र बहुत कुछ अंशों में श्रीमद्भगवद्गीता पर ही आधारित है।[2] 'शांडिल्य भक्तिसूत्र' के अनुसार "सा परानुरक्तिरीश्वरे" अर्थात् ईश्वर में अत्यन्त अनुरक्ति ही भक्ति है। श्री आद्याप्रसाद मिश्र के शब्दों में "उनके अनुसार 'परा' भक्ति ईश्वर में अनुरक्ति या अनुराग है। 'अनुरक्ति' का 'अनु' इस बात का द्योतक है कि वह राग, प्रेमभाव, ध्येय के महत्व, अनन्य, नित्यत्व आदि के जान लेने के बाद ही उत्पन्न होता है और जैसे ध्येय के महत्त्वादि गुण आत्मदर्शन का रूप धारण करते जाते हैं वैसे ही वैसे वह रागात्मिका वृत्ति या प्रेमभाव भी प्रगाढ़ और अद्वितीय होता जाता है, यहाँ तक कि परिपाक की चरम सीमा पर पराभक्ति का नामान्तर हो जाता है।"[3] 'नारद भक्तिसूत्र' के अनुसार ईश्वर के प्रति प्रेम का नाम ही भक्ति है। वह ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा दोनों ही है जिन्हें प्राप्त कर

---

१ दे०—चिन्तामणि—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृष्ठ २०७)

२ "जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है, यह सिद्धान्त 'छान्दोग्योपनिषद' में शांडिल्य के नाम से प्रसिद्ध है। अपने 'वेदान्तसार' में इसका उल्लेख करते हुए सदानंद ने इसे शांडिल्य का मत माना है। अतएव शांडिल्य को उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रथम प्रवर्तक कहा जाता है।"—The Bhakti Doctrine in the Shandilya Sutra—By Dr. B. H. Barua M. A., D. Litt., 2nd Oriental Conference Calcutta. (Page 413)

३ दे०—नारद और शांडिल्य की भक्ति-पद्धति— श्री आद्याप्रसाद मिश्र (हिन्दुस्तानी एकडेमी की त्रैमासिक पत्रिका—अक्टूबर—दिसम्बर १९४६)

मनुष्य सिद्ध, तृप्त और अमर हो जाता है तथा न तो किसी वस्तु की आकांक्षा ही करता है और न किसी वस्तु में आसक्त होता है। सांसारिक विषयभोगों के प्रति उसमें तनिक भी उत्साह नहीं रहता और आत्मानंद के साक्षात्कार से वह समस्त सांसारिक विषयों से निरपेक्ष हो जाता है।[1] जैसा कि श्री आद्या-प्रसाद मिश्र ने लिखा है "देवर्षि नारद के अनुसार भक्ति चित्त की वह वृत्ति है जिसकी प्राप्ति होने पर व्यक्ति के सारे कर्म, सारे आचार ईश्वर को अर्पित हो जाते हैं और तदनुरूप ही साधक साध्य अथवा ध्येय की विस्मृति होते ही अत्यन्त व्याकुल और अधीर हो उठता है।"[2] वस्तुतः भक्ति का प्रधान तत्त्व है परमात्मा से अनुराग और उस अनुराग में तल्लीनता तथा आत्मसमर्पण का भाव भी आवश्यकीय है। 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि ईश्वर का अनुशीलन करते समय ज्ञान और धर्म की आवश्यकता नहीं है तथा भक्त के हृदय में तो भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई आकांक्षा होनी ही न चाहिए।[3] श्रीमद्भागवत में भी लिखा है "जब सांसारिक विषयों का बोध करानेवाली इंद्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप से भगवान् में लगती है तब उस प्रवृत्ति को भक्ति कहते हैं।"[4] श्री वल्लभाचार्य ने भी भगवान् के प्रति ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह को भक्ति माना है तथा उनकी दृष्टि में मुक्ति का इससे सुगम अन्य कोई उपाय नहीं है।[5]

---

१ अथातो भक्तिं व्याख्यास्याम् ।१। सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा ।२। अमृत-स्वरूपा च ।३। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।४। यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते नोत्साही भवति ।५। ... तत्रापि न माहात्म्यज्ञान विस्मृत्यपवादः ।२२। तद्विहीनं जाराणामिव ।२३।—नारद भक्तिसूत्र

२ दे० नारद और शांडिल्य की भक्ति-पद्धति—श्री आद्याप्रसाद मिश्र (हिन्दुस्तानी एकडेमी की त्रैमासिक पत्रिका—अक्टूबर—दिसम्बर १९४६)

३ अन्याभिलषित शून्यं ज्ञानकर्मधनावृत्तम ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरूत्तमा ॥—भक्ति रसामृत सिंधु १।९

४ दे० श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३, अध्याय २५, श्लोक ३२-३३

५ माहात्म्यज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा ॥
—तत्त्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई
श्लोक ४६, पृष्ठ १२७

वस्तुतः अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में ज्ञानमार्ग, योगमार्ग तथा भक्तिमार्ग नामक तीन निवृत्ति मार्ग सांसारिक दुःखों से छूटकर मुक्तिलाभ प्राप्त करने के हेतु प्रचलित रहे हैं किन्तु ज्ञान और योग के गहन विषयों को चूँकि सर्वसाधारण जन आश्चर्य और सामर्थ्यहीनता के भाव से श्रवण करते थे अतः लोगों ने आशावादी और सरल सहज भक्तिमार्ग को ही अपनाना उचित समझा। श्रीमद्‌भागवत में भी ज्ञानमार्ग की दुर्लभता के विषय में संकेत करते हुए कहा गया है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित्॥
— अध्याय २, श्लोक २९

अर्थात् कुछ तो आश्चर्य समझकर ज्ञानमार्ग की ओर देखते हैं तथा कुछ कौतूहल के साथ उसका वर्णन करते हैं और कुछ अचरज के साथ उसे श्रवण करते हैं परन्तु वस्तुतः उसे सुनकर भी कोई नहीं जानता। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'नारदभक्तिसूत्र' में भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठतम मानकर उचित ही किया गया है—

सातु, कर्मज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥२५॥ फलरूपत्वात् ॥२६॥
— नारदभक्तिसूत्र—सूत्र २५-२६

इसी प्रकार श्रीमद्‌भागवत के दशमस्कन्ध के चौदहवें अध्याय में भी ब्रह्मस्तुति में कहा गया है—हे विभो ! जो लोग कल्याणकारिणी आपकी भक्ति को तज कर ज्ञान के लिए क्लेश सहन करते हैं उनके हाथों केवल क्लेश ही लगता है और कुछ नहीं जैसे खोखले धानों को कूटनेवालों को भूसी और श्रम के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता—

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो,
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्ध्ये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,
नान्यद्यथा स्थूल तुषावघातिनाम्॥

वेदों में भी भक्ति की महिमा स्वीकार की गई है तथा वैदिककाल में तो भक्ति का महत्त्व विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया था। ऋग्वेद का प्रस्तुत मंत्र देखिए—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टम् देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥

—ऋग्वेद १०-१२५-५

इसी प्रकार अथर्ववेद और सामवेद में भी भक्ति का महत्व स्वीकार किया गया है।[1] चूँकि वेद तो ब्रह्म की वाणी ही कहे जाते हैं और उनमें आर्य धर्म के व्यापक सिद्धान्तों का समावेश है अतः ऋग्वेद में तो विभिन्न देवताओं की स्तुतियों की प्रचुरता है ही तथा सामवेद में तो उपासना के विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश भी डाला गया है। वेदों की भाँति उपनिषद् भी भक्ति का महत्त्व स्वीकार करते हैं और 'छान्दोग्य उपनिषद्' में तो प्राणोपासना आदि के रूप में भक्ति की श्रेष्ठता को ही प्रतिपादित किया गया है।[2] 'मुण्डक उपनिषद्' के निम्नांकित श्लोक में भी ईश्वर की प्राप्ति के हेतु भक्ति का महत्त्व स्वीकार किया गया है और कहा जाता है कि परमात्मा की प्राप्ति उसी को होती है जिस पर ईश्वर कृपा करते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मां वृणुते तनूस्वाम् ॥

— तृतीय मुण्डक, द्वितीय खंड, श्लोक ३

वेदों की भाँति श्रीमद्भगवद्गीता में भी भक्ति-भावना का चरम विकास देख पड़ता है और गीता का तो यही प्रधान उपदेश है कि जीवन को परमेश्वर को अर्पित कर दो। गीता में सर्वसाधारण के लिए ईश्वरोपासना ही श्रेष्ठतम समझी गई है और स्पष्ट रूप में लिखा है कि दुराचारी मनुष्य भी यदि ईश्वर के प्रति भक्ति प्रदर्शित करता है तो उसे महात्मा ही समझना चाहिए। भगवद्-भक्ति का आश्रय पाकर शूद्र और पातकी तक भी परमगति को प्राप्त करते हैं।[3] बौद्ध धर्म का महायान पंथ भी भगवान् बुद्ध की भक्ति पर ही आधारित

---

१ देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अश्वान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥
—अथर्ववेद

२ मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्य संकल्प आकाशात्मा ।
सर्व कर्मा सर्वगंधः सर्व रसः सर्वमिदमभ्यातोऽवाक्यनादरः ॥
(छान्दोग्यपनिषद् ३।१४।२)

३ दे० श्रीमद्भगवद्गीता अ० ९, श्लोक ३०-३४

है और जैन धर्म में तो तीर्थंकरों की भक्ति पर ही विशेष जोर दिया गया है तथा पुराणों में भी उसे जीवन का एक आवश्यक तत्त्व माना गया है। इस प्रकार भक्ति की यह धारा प्राचीन समय में अनवरत गति से प्रवाहित होती रही है और उसे ज्ञान, जप, तप, व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ आदि से श्रेष्ठ माना जाता रहा है।[1]

इस्लाम धर्म में भी भक्ति साधना पर विशेष जोर दिया गया है और मुहम्मद साहब का तो यही उपदेश था कि परमेश्वर एक है। मुहम्मद ईश्वर के अनुराग में मस्त हो जाता था और आठवीं सदी में तो खुरासान आबू मुस्लिम आदि संत परमेश्वर के अनुराग में इस प्रकार तन्मय हो गए कि अपने आपको ईश्वर ही समझने लगे। ईश्वर को उन्होंने इस प्रकार आत्म-समर्पण किया और उसमें वे इस प्रकार तन्मय हो गए कि समस्त भेद-भाव ही विलुप्त हो गए। इसी भक्ति-मार्ग को आगे चलकर फारस के धुनिया संत हल्लाज द्वारा सूफी धर्म का रूप दे दिया गया। हल्लाज का कथन है कि जो कोई भी तप द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र कर सांसारिक कामनाओं से मुक्त हो जाता है उसमें ही परमात्मा का प्रवेश हो जाता है। जब वह इस आध्यात्म गति को प्राप्त होता है तब उसके समस्त कार्य ईश्वर के कार्य कहलाने लगते हैं और जो कुछ वह चाहता है वही होता है। सूफी धर्म द्रुतगति से समस्त मुस्लिम जगत में व्याप्त होने लगा तथा प्रसिद्ध मुस्लिम विद्वान् और उपदेशक अलगज्जाली के समय तक वह समस्त मुस्लिम संसार में व्याप्त हो चुका था। सूफी धर्म में वेदान्त और भक्ति-मार्ग का सामंजस्य सा पाया जाता है तथा वह ईश्वर को ही सर्वव्यापी मानता है और एकमात्र उसकी ही आराधना पर जोर देता है। कुछ सूफियों को तो यह भी विश्वास सा हो गया था कि वे ईश्वर में सम्मिलित हो गए हैं और उन्होंने अपने लोचनों से परमेश्वर की छवि को निहारा भी है तथा उससे सम्भाषण भी किया है। जहाँ कि इस्लाम का कथन है कि परमेश्वर की प्रशंसा हो वहाँ इसकी अपेक्षा आबू यजीद विस्तामी का कहना है कि "मेरी प्रशंसा हो।" सूफी महन्तों ने "हम ऐसा कहते हैं" के स्थान पर "परमेश्वर ऐसा कहते हैं" लिखना प्रारम्भ किया। अतएव सूफियों का यह आदर्श सा हो गया कि उन्हें ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टि-गोचर न हो तथा उनके ज्ञान और कर्म ईश्वर की आराधना रूपी उदधि में मिल जाएँ। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति का महत्त्व प्रायः सभी प्रधान

१ दे० श्रीमद्भागवत् महात्म्य अ० २ श्लोक १७-२१।

धर्मों में किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया जाता है। अब यहाँ भक्ति-साधना की प्रारम्भिक अवस्था का चित्रण करना अति आवश्यक है।

प्राचीन वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है कि भक्ति-भावना वैदिककाल में ही विकसित-रूप धारण कर चुकी थी। जैसा कि श्री लोकमान्य तिलक का मत है "ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में जितनी स्वाधीन उत्तम चिन्ता है उतनी आज तक मनुष्य जाति नहीं कर सकी" वह पूर्णतः सत्य ही है। वैदिककाल में प्राकृतिक शक्तियों की प्रतीक रूप में उपासना की जाती थी अर्थात् प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों को दैवी रूप प्रदान किया गया था और इस प्रकार उनकी उपासना के हेतु बहुत से मंत्रों का सृजन भी किया गया। चूँकि हमारे पूर्वजों का जीवन सरल तथा उनके कृत्य बहुत सीदे साधे होते थे अतः उनकी धर्म-साधना के प्रधान अंग देवपूजन, पितृपूजन व यज्ञ ही थे और विभिन्न प्रार्थनाओं द्वारा वे अपने अभीप्सित ऐहिक सुख के हेतु याचना किया करते थे। कभी-कभी प्रार्थना व पूजनादि की अपेक्षा याज्ञिक अनुष्ठानों को ही विशेष महत्त्व दिया जाता और उपासना के अन्तर्गत यज्ञ को ही अनिवार्य समझा जाता। शनैः शनैः अग्नि को भी दैवी रूप प्रदान किया गया और इन्द्र, वरुण, रुद्र, मरुत, सूर्य आदि जिन देवताओं की कल्पना पृथक्-पृथक् रूपों में की गई थी उन्हें एक ही समझा जाने लगा तथा वे सब एक ही ब्रह्म के विविध रूप माने गए। उदाहरणार्थ अब इस प्रकार कहा जाने लगा—हे अग्निदेव, तुम्हीं वरुण हो। तुम्हीं मित्र हो, तुम्हीं इन्द्र हो तथा तुम्हीं अर्यमा होकर स्वामिवत् भी कार्य किया करते हो—

त्वमग्ने वरुणो यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥१॥
त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि।
अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद् दम्पती समनासा कृणोषि ॥२॥

—ऋग्वेद मंडल ५, सूक्त ३

कभी-कभी तो यहाँ तक कहा जाता कि बहुधा विद्वद्जन उसी सत् को इन्द्र, वरुण, मित्र अथवा अग्नि के नाम से पुकारते हैं और वही विस्तीर्ण पंखोंवाला दिव्य गरुड़ भी है। उसी एक पदार्थ का वर्णन अनेक प्रकार से किया जाता है तथा वही एक सत् अग्नि, संस्तुति एवं यम तथा मातारिश्वान् भी कहलाता है —

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान् माहुः ॥
—ऋग्वेद-१-१६४-४६

इस प्रकार वैदिककाल में ही ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय हो चुका था तथा वैदिक प्रार्थनाओं के द्वारा मानव और देवताओं के मध्य स्नेह-भावना को सुदृढ़ बनाने का प्रयास भी किया गया था। डॉ० बेणीप्रसाद के शब्दों में "ऋग्वेद में मनुष्य और देवताओं का जैसा सम्बन्ध है वैसा आगे के हिन्दू साहित्य में नहीं। आर्यों का विश्वास है कि देवता उनकी सहायता करते हैं, उनके शत्रुओं का नाश करते हैं। वे मनुष्य से प्रेम करते हैं और मनुष्य का प्रेम चाहते हैं। भारतीय भक्ति-सम्प्रदाय का आदिस्रोत ऋग्वेद है। यहाँ कुछ मंत्रों में आदमी और देवता के बीच में गाढ़े प्रेम और मित्रता की कल्पना की गई है।"[1]

स्मरण रहे कि वेदों में कुछ ऐसी सूक्तियाँ भी मिलती हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि बहुत से लोग वायु के आधार पर प्राणाभ्यास के द्वारा जीवनयापन किया करते थे तथा तपश्चर्या एवं श्रम के साथ साधना कर मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते थे। बहुत से साधक व्रात्य कहलाते थे जो कि यज्ञादि से सर्वदा दूर रहकर किसी अरूप वस्तु को ध्यान में रख चिन्तन में रत रहते एवम् तत्वचिन्तन को ही विशेष महत्व देते थे। मुण्डकोपनिषद् में तो यज्ञों की कटु आलोचना भी की गई है तथा उन्हें धर्मसाधना का एक अत्यंत निर्बल साधन माना गया है।[2] इस प्रकार एकेश्वरवाद की भावना और कर्म की प्रधानता के साथ-साथ तप का मेल हो जाने से योगमार्ग की ओर भी कुछ लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। विद्वानों का मत है कि योगमार्ग के सर्वप्रथम प्रवर्तक जैगीषव्य है।[3] योगमार्ग की साधना सांख्य के ज्ञानवाद द्वारा अत्यधिक प्रभावित थी तथा उसी के सेश्वर-वादी रूप में प्रकट हुई। यद्यपि ध्यानावस्था एवं शारीरिक प्रक्रियाओं में

---

१ दे०—हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता—डॉ० बेणीप्रसाद (पृष्ठ ४२)

२ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियान्ति ॥
—मुण्डकोपनिषद् १-२-७

३ दे० उत्तरी भारत की संत परंपरा—श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृष्ठ २१)

प्राचीन-तपश्चर्या का ही आधार लिया गया था लेकिन शनैः शनैः उनके मूल रूप में भी परिवर्तन किए गए। साथ ही उपनिषदों ने सत्य, सुकृत एवं सदाचरण को ही परम धर्म मानकर यह उपदेश दिया कि मानवमात्र केवल अपने किए हुए कर्मों का ही फल प्राप्त करता है तथा उसमें ईश्वर का कुछ भी हाथ नहीं रहता। सत्य, धर्म व सदाचरण द्वारा परमात्मा का आसन तक डिगाया जा सकता है लेकिन इन सब विविध मार्गों की अपेक्षा भक्तिसाधना का ही प्रचार विशेष रूप से हुआ तथा उपनिषदों में तो स्पष्ट रूप से लिखा है "आत्मा की उपलब्धि किसी बलहीन को नहीं होती और न वह उपदेशों से, अध्ययन से अथवा मेधा से ही संभव है। वह जिस किसी को स्वयं वरण कर लेती है वही उसे पाने में समर्थ हो जाता है और उसी के समक्ष वह अपने स्वरूप को प्रकट भी करती है।"[1] वस्तुतः उपनिषद्काल में बृहदारण्यक तथा कठोपनिषद् आदि में निवृत्तिपरक ज्ञानमार्ग की उपासना पर विशेष जोर दिया गया और इसीलिये यह काल ज्ञानप्रधान कहलाता है लेकिन आगे चलकर कर्मपरक ज्ञानमार्ग से ही भक्तिमार्ग का विकास हुआ जिसमें बुद्धिपक्ष की अपेक्षा हृदयपक्ष को प्रधानता प्राप्त हुई और रागात्मक तत्त्व को महत्त्व मिला। उपनिषदों में तो हमें ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमर्त्य, स्थित और चल, अणु और महान् दोनों ही रूपों का वर्णन दृष्टिगोचर होता है लेकिन उसे मूर्त और अमूर्त दोनों से ही परे चित्रित किया गया है।[2] संक्षेप में विशुद्ध तत्त्वज्ञान के हेतु उपनिषदों में ब्रह्म को निर्गुण और अव्यक्त माना गया है किन्तु उपासना के लिए उसका सगुण रूप ही स्वीकार किया गया। श्री लोकमान्य तिलक के शब्दों में "परब्रह्म का ज्ञान होने के लिए ब्रह्म चिन्तन करना आवश्यक है। इस हेतु पारब्रह्म का सगुण प्रतीक प्रथम आँखों के सामने

---

१ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो नमेधया बहुनाश्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
(कठ० १-२-२२) व (मुंडक० ३-२-३)

२ अणोरणीयान् महतो महीयान्।
आत्मा गुह्यायां निहितोऽस्य जन्तोः॥
(श्वेत० ३-२०)

साथ ही बृहदारण्यक उपनिषद् में भी लिखा है—

द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चेवामूर्तञ्च।
मर्त्यञ्चामृतं, च स्थितं च, यच्च, सच्च, तच्च॥

रखना चाहिए, ऐसा छान्दोग्य आदि पुराने उपनिषदों ने कहा है। उपासना मार्ग में सगुण प्रतीक के स्थान पर क्रमशः परमेश्वर का व्यक्त मानवरूपधारी प्रतीक ग्रहण ही भक्तिमार्ग का आरम्भ है। ..... ब्रह्म चिन्तनार्थ प्रथम यज्ञ के अंगों की या ओंकार की तथा आगे चलकर रुद्र, विष्णु इत्यादि वैदिक देवताओं अथवा आकाशादि सगुण व्यक्त ब्रह्म प्रतीक की उपासना प्रारम्भ होकर अंत में इसी हेतु ब्रह्म प्राप्त्यर्थ राम-कृष्ण, नृसिंह आदि की भक्ति प्रारम्भ हुई।"[१] यद्यपि अवतारवाद के विषय में वेदों में स्पष्ट रूपेण कुछ भी नहीं कहा गया परन्तु विचारपूर्वक देखा जाए तो यही विदित होता है कि वैदिक-काल में अवतारवाद की भावना किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान थी। श्री दाँडेकर ने लिखा भी है "It must be said that there is no clear difference to the avtar theory as such in the Vedas. But the germs of the features of that conception are certainly to be found in Vedic passages."[२] वस्तुतः वैदिक काल में ही ब्रह्म की नराकार रूप में पुरुष सूक्त द्वारा प्रार्थना की गई तथा भक्ति-साधना में आराध्य के प्रति जिस सान्निध्य भावना तथा सामीप्यता की आवश्यकता होती है उसकी पूर्ति के हेतु अवतारवाद का सिद्धान्त आविर्भूत हुआ जिसके कि बीज उक्त पुरुषसूक्त में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। इस तरह शनैः शनैः निर्गुण ब्रह्म का स्थान सगुण ब्रह्म ने ग्रहण किया तथा ब्रह्म के सगुण स्वरूपों में विष्णु को प्रधानता मिलने लगी और उन्हें भक्तिमार्ग में उपास्य के स्थान पर प्रतिष्ठित भी किया गया अतः यहाँ वैष्णव भक्ति की प्राचीनता के संबन्ध में विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

वैष्णव धर्म के अंतर्गत भगवान विष्णु और उनके अवतारों की उपासना पर ही जोर दिया जाता है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने वैष्णव मत की प्राचीनता पर संदेह प्रकट किया है लेकिन विचारपूर्वक देखा जाए तो उनकी यह धारणा असंगत ही जान पड़ती है। वस्तुतः वेदों को ही समस्त विश्व का सर्वप्रथम साहित्य माना जाता है और यों तो उनकी उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में

---

१ दे० गीतारहस्य—श्री लोकमान्य तिलक (पृष्ठ ५३७)

२ Volume of studies in Indolgy presented to Mr. Kane.
(Vishnu in the Vedas By R. N. Dandeker; Page 95)

मतभेद सा है तथा पाश्चात्य विद्वान उनकी उत्पत्ति का समय ईसा से सात आठ सहस्त्र वर्ष पूर्व से प्राचीन नहीं मानते जब कि वेदों के अन्त:साक्ष्यों के अनुसार उनकी उत्पत्ति सृष्टि के साथ ही हुई थी।[१] ऋग्वेद के साथ-साथ यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि के मंत्रों से यह भी बात सिद्ध होती है कि ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार वेदों के सृजन को विक्रम संवत् के लगभग डेढ़ अरब से भी अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके हैं परन्तु यह भी सत्य है कि वैदिक साहित्य के जो संस्करण और पाठान्तर आज हमें दृष्टिगोचर होते हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका विभाजन और संकलन कई बार हो चुका है। मत्सत्य पुराण के अनुसार द्वापर के अंत में महर्षि व्यास ने वेदों का संकलन किया था तथा महाभारत के शल्यपर्व की एक कथा के अनुसार एक बार अतिवृष्टि होने के कारण ऋषि लोग बारह वर्षों तक वनों में भटकते रहे तथा वेदों को विस्मरण कर गए तब दधीचि और सरस्वती के पुत्र 'सारस्वत' ने उन्हें वेदों का अध्ययन कराया। पाश्चात्य विद्वानों ने तो पुराणों का रचनाकाल ईसा की सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी माना है परन्तु विचारपूर्वक देखा जाए तो वैदिक काल में ही पुराणों की स्थिति के कई प्रमाण हमें उपलब्ध होते हैं और वैदिक काल का सूक्ष्माति-सूक्ष्म अध्ययन करने पर तो हमारा मत स्पष्ट भी हो जाता है। अथर्ववेद के प्रस्तुत मंत्र के अनुसार "ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह" पुराणों की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। अथर्ववेद (११।४।२४) में भी चारों वेदों के साथ 'पुराण' का भी उल्लेख है तथा उसी वेद (५।१९।९) में नारद के प्रति जो श्लोक कहा गया है वह स्पष्टतः किसी पुराण के संवाद से ही उद्धृत जान पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है कि अध्वर्यु पुराणों का कीर्तन करते रहते हैं तथा बृहदारण्यक के अनुसार जिस प्रकार गीली लकड़ी से धुआँ निकलता है उसी प्रकार महतत्त्व से निश्वास के रूप में वेद, पुराण आदि निःसृत होते हैं।[२] शतपथ ब्राह्मण (१३।४।३ तथा

१ तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि यज्ञिरे।
छंदांसि यज्ञिरे तस्माद्यजुः तस्माद्जायत ॥

—ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ९०

२ एतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवेतानि सर्वाणि निःश्वासितानि। —बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।१०

१२।१३) में भी इतिहास एवं पुराण को वेद कहा गया है तथा उनके नित्य-पाठ का विधान भी दिया गया है। छान्दोग्य में भी पुराण का सम्मानपूर्वक उल्लेख है। इस प्रकार न केवल पुराणों की वैदिक काल में सत्ता ही प्रतिपादित होती है अपितु यह भी ज्ञात होता है कि उस समय उनका कितना आदर था। ईसा की पाँचवी शताब्दी के पूर्व आपस्तंब धर्मसूत्र में तो पुराणों के बहुत से अवतरण प्राप्त हुए हैं जो कि अभी तक जैसे के तैसे वर्तमान पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं। श्री पार्जिटर ने Ancient Indian Historical Tradition (एन्सिएन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन) नामक ग्रंथ में इस बात को स्वीकार भी किया है। अतः इतना तो स्पष्ट है कि पुराणों को इतना अर्वाचीन नहीं माना जा सकता जितना कि उन्हें पाश्चात्य विद्वानों तथा उनका अन्धानुसरण करनेवाले कुछ भारतीय विद्वानों ने माना है। हो सकता है पुराणों की वस्तुसामग्री में क्रमशः कुछ परिवर्तन भी हुए हों परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि उनका मूलरूप वैदिककालीन ही है।

पुराणों का प्रतिपाद्य विषय वस्तुतः सृष्टि प्रकरण ही है तथा स्वयं पुराणों में उनके सर्ग अर्थात् सृष्टि विज्ञान, प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय और पुनः सृष्टि, सृष्टि की आदि वंशावली, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित नामक पाँच विषय माने गए हैं।[१] परन्तु श्रीमद्भागवत के अनुसार सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अंतर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु और अपाश्रय ये दस लक्षणपुराणों के हैं।[२] लेकिन हमारी दृष्टि में तो उनमे त्रिदेव, देवासुर संग्राम, अवतार, युगक्रम, प्रलय और विराट् नामक छः प्रमुख विषयों का ही विशेष रूप से वर्णन किया गया है। चूँकि पुराणों में ब्रह्म के सगुण रूप का ही विशद विवेचन किया गया है अतः अवतारवाद की भावना ने उसमें बलवती

---

१ सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

२ पुराणलक्षणं ब्रह्मन्ब्रह्मर्षिभिनिरूपितम्।
शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः॥
सर्गोस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुर पाश्रयः॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।
केचित्पंचविधं ब्रह्मन्महदल्पव्यवस्थया॥
—श्रीमद्भागवत–१२।७।८—१०

रूप धारण किया है। इस प्रकार पुराणों में जिन अवतारों की चर्चा की गई है वस्तुत: उन सभी का स्रोत वैदिक साहित्य ही है; हाँ यह अवश्य है कि पुराणों में उनकी कथाओं और माहात्म्य में परिवर्द्धन अवश्य कर दिया गया है।

वैदिक साहित्य में धर्मसाधना के हेतु इन्द्र, वरुण, सूर्य, विष्णु आदि की उपासना के लिए प्रेरित किया गया है परन्तु चूँकि वेदों में अन्य देवताओं की अपेक्षा विष्णु के सम्बन्ध में कही गई ऋचाओं की संख्या न्यून है अत: बहुत से विद्वानों ने इन्द्र और सूर्य की अपेक्षा विष्णु का महत्त्व गौण माना है। मैकडानल के मतानुसार तो विष्णु ऋग्वेद में एक साधारण देवता के रूप में ही चित्रित किए गए हैं तथा कहीं-कहीं पर वे सूर्य की शक्ति के साकार स्वरूप भी माने गए हैं।[1] श्री रामदास गौड़ ने तो यहाँ तक लिख दिया है "वैदिक ग्रन्थों में देवतत्त्व का जिस प्रकार आभास है, वही पुराणों में विकृत होकर बड़े पैमाने में दिखाई पड़ता है। पहले के देवता-विशेष अनेकानेक उपाख्यानों में रूपान्तरित और परिवर्तित हो गए हैं। जैसे 'विष्णु' शब्द सूर्य के अर्थ में वेदों में आया है, परन्तु पुराणों में सूर्य से भिन्न अलग एक देवता का नाम है जिसका माहात्म्य पुराणों में भर दिया गया है और जिसके अवतारों की कथा का विकास कर दिया गया है। भक्तजनों ने दूसरों के सुशोभित अलंकारों का अपहरण करके अपने-अपने इष्टदेव का मनमाना शृंगार किया है। इस तरह ऊधौ की पगड़ी माधौ के सिर पहिनाकर हिन्दूधर्म का एक नया रूप गढ़ लिया है। इस प्रकार हिन्दू शास्त्र क्रमश: परिवर्तित और विपर्यस्त हो गया है।"[2] गौड़ जी के कथन की आलोचना-प्रत्यालोचना करने की अपेक्षा उचित तो यह होगा कि हम वेदों में प्रतिपादित विष्णु के महत्त्व को ही अंकित करें। वस्तुत: एकमात्र संख्या को ही आधार मानकर विष्णु के महत्त्व को गौण सिद्ध करना उचित नहीं है क्योंकि ऋचाओं की संख्या मात्र से ही किसी देव-विशेष का महत्त्व कम सिद्ध नहीं होता। साथ ही वैदिक काल में जिस प्रकार इन्द्र मनुष्यों की सहायता में तत्पर रहते हैं उसी प्रकार विष्णु ने भी लोक-रक्षा में कुछ कम तत्परता नहीं दिखाई है। श्री दाँडेकर ने तो विष्णु और

---

१ दे० वैदिक रीडर—मैकडानेल—विष्णु का दर्शन

२ दे० हिन्दुत्व—श्री रामदास गौड़ (पृष्ठ १६५)

इन्द्र में तीन प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किए हैं। प्रथम तो इन्द्र और विष्णु एक दूसरे के सहायक हैं, द्वितीय कई ऐसे अवसर आते हैं जब कि विष्णु को इन्द्र से अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता है और तृतीय विष्णु ने वामन रूप में इन्द्र की सहायता भी की है। दाँडेकर जी का मत है कि कदाचित इसीलिये पुराणों में विष्णु का दूसरा नाम उपेन्द्र भी रखा गया है।[1] इस प्रकार उन्होंने अपरोक्ष रूप से विष्णु की महत्ता को ही स्वीकार किया है।[2] 'तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम' अर्थात् मैं विष्णु के प्रिय धाम को प्राप्त करूँ तथा 'महस्ते विष्णोः सुमतिं भजामहे' अर्थात् हे विष्णु! आप महान् हैं, आपकी सुमति का हम भजन करते हैं और आपकी कृपा के लिए प्रार्थना करते हैं नामक ऋचाओं के द्वारा यह तो स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य में विष्णु के प्रति सान्निध्य-भावना विशेष रूप से प्रकट की गई है। इतना ही नहीं आगे चल कर भक्तिग्रन्थों में जिस नवधा भक्ति को विशेष महत्व दिया गया वस्तुतः

---

१ Volume of Studies in Indolgy presented to Mr. Kane (Vishnu in the Vedas by R. N. Dandeker; Page 90)

२ वस्तुतः ऋग्वेद में ही कई ऐसी ऋचाएँ उपलब्ध हैं जिनसे कि विष्णु अन्य सभी देवताओं से श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥
प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २ ॥
प्रविष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे ।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः ॥ ३ ॥
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥
तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥ ५ ॥
ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृंगा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥ ६ ॥

— ऋग्वेद मंडल १; सूक्त १५४

उसका स्रोत ऋग्वेद में ही विद्यमान है।[1] ऋग्वेदिक विष्णु का अध्ययन करने पर स्पष्ट विदित होता है कि अन्य देवताओं की अपेक्षा उनमें मानवोचित-गुणों की अधिकता सी है तथा अत्यन्त व्यापकत्व, अतुलनीय पराक्रम, विश्व-धारण सामर्थ्य, अमृतत्व, पोषणशक्ति एवं अवतार धारण शक्ति आदि विशिष्टताएँ विद्यमान हैं और शनैः शनैः उनके इन गुणों का विकास होता गया जिससे कि आगे चलकर न केवल अन्य देवताओं की प्रभा विष्णु के सर्वांगीण एवम् सर्वतोमुखी दिव्यालोक के सामने धूमिल सी पड़ गई किन्तु प्रकाशपुंज प्रभाकर को भी अपना अंतर्भाव उन्हीं में कर देना पड़ा। उनका स्थान अब त्रिदेवों में माना गया तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में उन्हें देवाधिदेव माना जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण में तो उन्हें देवताओं का मुख तथा अन्य सभी देवताओं में श्रेष्ठ माना गया है। एतरेय ब्राह्मण के 'अग्निर्वैदेवानां अवमः विष्णुः परमः तदन्तरेण सर्वादेवताः'' के अनुसार अग्नि को विष्णु से गौण माना गया है तथा एक स्थल पर तो उन्हें सर्वोपरि देव कहा गया है।[2] मैत्रेयी उपनिषद् (६।१३) में उन्हें जगत्पालक, अन्न का स्वरूप कहा गया है और कठोपनिषद् (३।७) में आत्मा की उर्ध्वगामी गति को विष्णु के परमधाम की ओर जानेवाला पथिक तथा विष्णु को 'परमं पदम्' माना गया। वस्तुतः विश्व का भरण-पोषण करनेवाले अन्न को विष्णु का स्वरूप सिद्ध कर साधकों के मानस में विष्णु के प्रति श्रद्धा, कृतज्ञता तथा प्रेम की भावना सुदृढ़ की गई और उपास्यदेव के रूप में उनकी प्रतिस्थापना कर जीवन का ध्येय उनके प्रति अनुराग ही माना गया अतः वैदिक काल में ही विष्णु में शील, शक्ति और सौन्दर्य नामक तीन विभूतियों की प्रतिष्ठा कर दी गई। इसमें कोई संदेह नहीं कि उपनिषदों में विष्णु और मनुष्य में सान्निध्य-लालसा की प्रेम-भावना विशेष रूप में प्रकट की गई है। विष्णु के स्वरूप का साक्षात्कार करने के हेतु साधकों के लिए कर्मों की आवश्यकता भी सिद्ध की गई तथा शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ऐश्वर्य और सर्वस्व की प्राप्ति के हेतु 'पाँचरात्र पद्धति' की विधि भी प्रारम्भ की गई तथा वैष्णव यज्ञों में हिंसा करना वर्जित समझा गया। वैष्णवधर्म में अहिंसा का प्रवेश होने से तथा यज्ञों में सत्वगुण की अधिकता रहने से वैष्णव धर्म को 'सात्वत धर्म' भी कहा जाने लगा। 'सात्वत विधि' कहलाने वाली पूजन पद्धति में भक्ति, आत्मसमर्पण और अहिंसा

१ दे० 'वेद में नवधा भक्ति'—आचार्य कृष्णदत्त भारद्वाज एम०ए०, शास्त्री (कल्याण वर्ष २०, अंक ५)

२ ऐतरेय ब्राह्मण १।१

की भावना को प्रधानता दी गई तथा उसका प्रचार करनेवालों में वासुदेव कृष्ण तक की गणना की गई जिससे कि किसी समय एकमात्र 'विष्णु' में एकाग्रभाव से की जानेवाली जिस धर्मसाधना को 'एकांतिक धर्म' कहा जाता था वह 'वासुदेव धर्म' 'भागवत धर्म' या 'वैष्णव धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जैसा कि हम कह चुके हैं वस्तुत: वैष्णव भक्ति को पुष्ट करने वाली वेदकालीन भावपूर्ण ऋचाओं का विस्तृत विवेचन उपनिषत्काल में ही हुआ तथा उसको व्यवस्थित, प्रशस्त एवम् सुनिश्चित स्वरूप प्राप्त होने का अवसर रामायण तथा महाभारतकाल में प्राप्त हुआ क्योंकि महाभारत में श्रीकृष्ण की उपासना के रूप में वर्णित नारायणीय एवम् सात्वत तथा भागवत धर्म आदि वैष्णव संप्रदायों के रूप में भक्ति-भावना अपने पूर्ण विकसित रूप को पहुँची। श्रीमद्भगवद्गीता—जो कि महाभारत का ही एक अंग है—की रचना के समय ज्ञानयोग जिसमें कि आत्मोपासना को प्रधानता दी जाती थी तथा मनुष्य का कर्त्तव्य अपने चित्त को सभी भवबन्धनों से विलग कर नित्य, शुद्ध एवं ज्ञानमय आत्मा की ओर उन्मुख कर पूर्ण आत्मज्ञान की प्राप्ति करना माना जाता था और कर्मयोग जिसमें कि कर्म-सम्बन्धी व्यापारों का निर्वाह यज्ञ व कर्त्तव्य के रूप में कर आत्यंतिक सुख की प्राप्ति पर जोर दिया जाता था नामक दो धर्मसाधनाएँ प्रधान रूपेण प्रचलित थीं। इन्हें क्रमश: निवृत्ति मार्ग तथा प्रवृत्ति मार्ग भी कहा जाता था परन्तु भगवान श्रीकृष्ण ने उन दोनों को सीमित कर उनका 'ज्ञान कर्मयोग समुच्चय' के रूप में समन्वय कर दिया जिससे कि निष्काम भावना के साथ भक्ति-साधना के लिए एक सरल मार्ग सामने आया। वस्तुत: महाभारत वा गीता के पूर्व जो ज्ञानप्रधान और कर्मप्रधान मार्ग चले आ रहे थे उनमें हृदय के योग का महत्त्व प्रतिपादित नहीं किया गया था परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता के उक्त समन्वयात्मक मार्ग द्वारा वैदिककाल से प्रचलित विविध धर्मसाधनाओं में हृदय के योग का महत्त्व स्वीकार किया जाने लगा तथा ईश्वरार्पण की प्रक्रिया के फलस्वरूप भक्तिभावना सुखमयी, सहज, सरल व सुगम सी प्रतीत होने लगी। "उपनिषदों के अनुसार ज्ञान के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति संभव हो सकती है लेकिन गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे आत्मसमर्पण करनेवाला भी समस्त भवबन्धनों से छुटकारा पा सकता है। गीता के पूर्ववर्ती दर्शनों ने पापियों का कर्मों से मुक्ति पाना असंभव माना है परन्तु गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि महान पापी भी मेरे सामने साधु हो जाता है।"[१] श्रीमद्भगवद्-

१—Evolution of Vaishnavism by R. B. K. N. Mitra (B.C. Law Volume, p. 678)

गीता के अनुसार जीवात्मा में श्रद्धा, समर्पण और भक्तिभावना का सर्वप्राथम्य होना चाहिए तथा उपासकों को नित्य व्यवहार में भी ईश्वरार्पण की बुद्धि आवश्यक समझी गई है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट ही कहा है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डवः॥—११;५५

अर्थात् जो पुरुष केवल मेरे ही लिए सब कुछ मेरा समझता हुआ सम्पूर्ण कर्त्तव्य-कर्मों को करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मेरे को परम आश्रय और परमगति मानकर मेरी प्राप्ति के लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है और आसक्ति रहित है और सम्पूर्ण भूत प्राणियों के वैरभाव से रहित है; ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मेरे को ही प्राप्त होता है।

गीता में कर्मों का समर्पण ही भक्ति तत्त्व माना गया है तथा श्री अरविंद घोष ने भी Essays on Gita में गीता को कर्मयोग का ग्रंथ मानते हुए भी उसकी आत्मनिवेदन की भावना को स्वीकार किया है। गीता के अंतिम अध्याय में तो भगवान ने स्पष्ट कहा है कि अपने मानस में मुझे स्थान देकर मेरी शरण आ जाओ मेरी कृपादृष्टि से तुम्हें अत्यंत शांति प्राप्त होगी।[1] इस प्रकार गीता आत्मसमर्पण के भावों से ओतप्रोत है जिसे कि भक्ति की अंतिम व श्रेष्ठ प्रक्रिया माना जाता है अतएव उसे भक्ति का सर्वप्रथम शास्त्रीय ग्रंथ माना जा सकता है जिसमें कि हृदय की स्वाभाविक प्रेरणाओं से उद्भूत होनेवाली भक्ति का स्वरूप और प्रक्रियाएँ अंकित की गई हैं तथा भागवत धर्म को भी प्रतिष्ठित किया गया है।[2]

---

१ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, अ० १८, श्लो. ६५-६६

२ गीता का महत्त्व अंकित करते हुए श्री ऋग्वेदी ने भी 'हिन्दु धर्म दीपिका' में लिखा है "गीता ही मनुष्याचा अंतकरणांत निरंतर चालणाऱ्या द्वंद्व युद्धांत यश प्राप्त करून घेण्याची कुरूकिल्ली आहे. भौतिक व्यवहाराची क्षुद्रता दर्शविणारा परन्तु हे व्यवहार मानवी दृष्ट्या कशा रीती ने सुखदायक व शांतिदायक करावे हे शिकविणारा गीताग्रंथ मानवोन्नति-शास्त्रच आहे.

महर्षि वैशम्पायन ने इसीलिये महाभारत को भागवतधर्म का चित्रण करने वाला ग्रंथ माना है और उनकी दृष्टि में गीता में भी उसकी चर्चा है। महाभारत (शांतिपर्व ३४७।८१) में जिस नारायणीय धर्म को प्रवृत्तिपरक अर्थात् सांसारिक व्यावहारों से सम्बन्धित माना गया है वस्तुतः उसमें और गीता के भागवत धर्म में बहुत कुछ सादृश्यता सी है लेकिन जैसा कि श्री लोकमान्य तिलक का मत है "इसका तात्पर्य यह नहीं है कि "श्रवणं कीर्तनं विष्णोस्मरणं" आदि नवविधा भक्ति गीता को मान्य नहीं है। वह कर्मों को गौण कहकर छोड़ देने और नवविधा में ही लीन रहने की स्थिति उचित नहीं बताती। हमें शास्त्रीय कर्मों का सम्पादन, परमेश्वर का स्मरण करते हुए, उसी की निर्मित सृष्टि के संग्रहार्थ निष्काम बुद्धि से करना चाहिए।" [1] अतः कहा जा सकता है कि यद्यपि गीता में नवविधा भक्ति का प्रतिपादन किया गया है लेकिन वह प्रेमस्वरूपा भक्ति की पोषक न होकर वैधी अर्थात् मर्यादा भक्ति की समर्थक

गीतानिवेदन करणारा श्रीकृष्ण हा मूर्तिमंत शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान असून तो अवतार किंवा दैवी गुणांनी युक्त असा भूतलावर अवतरलेला पुरुशोत्तम आहे. गीतेंत सांगितलेला उन्नतीचा मार्ग आत्मार्थी मनुष्याला आत्मदर्शन घडवितो. आत्मदर्शनाचा उपाय म्हणजे कर्मफल त्याग आहे. हे श्रीकृष्णानें उत्तम प्रकारे सिद्ध केलें आहे. भक्तिज्ञानादि उपायांनी हे कर्माचें व कर्मफल त्यागाचे कोडें उकलता येतें, म्हणून त्यांचा विषयींचें विवरण गीतेंत सांपडतें. निष्कामता किंवा कर्मफल त्याग बुद्धीच्या प्रयोगानें साध्य नाहीं. ज्ञान व तें ही भक्तियुक्त असेल तरच हा कर्मयोग साध्य होईल. गीतेंतील भक्ति मिथ्याचार नव्हे. गीतेंतील ज्ञान शुष्कवादाचें पांडित्य नव्हे. ज्ञान प्राप्त करून घेणें म्हणजेच भक्त होणें आणि भक्त होणें हेंच आत्मदर्शन आहे. आत्मदर्शन ज्याला घडलें तो कर्मांच्या फलाविषयीं उदासीन राहून केवल कर्तव्य. म्हणून कर्मामध्यें तन्मय राहतो विधिनिषेधाचा प्रश्न किंवा उच्चनीचत्वाचा प्रश्न गीतेस मान्य नाहीं.

असा हा बहुमोल, सर्वकालास, सर्वलोकांस योग्य असा गीताधर्म बुद्धीच्या कसोटीस न लावतां हृदयाच्या कसोटीस लावला पाहिजे. हृदयगम्य होईल तेव्हांच गीताधर्म समजेल—अंतःकरणाची शुद्धी होईल—सदैव शांति सुखाची प्राप्ति होईल या साठीं गीतापठण अत्यंत जरूरीचें आहे."

—दे० हिन्दुधर्म दीपिका—श्री "ऋग्वेदी" (पृष्ठ १८०-१८१)

१ दे०—गीतारहस्य—श्री लोकमान्य तिलक, पृष्ठ ४३५

है और श्रद्धा विश्वास की उपासना को विशेष महत्त्व देने के कारण उसे निस्संदेह एक भक्तिग्रंथ समझना चाहिए जिसमें भक्ति की समस्त विधियों का समावेश हो सका है।[1]

१ "The Geeta must be juged mainly as a treatise on Bhakti by virtue of the prominence accorded to the element of faith." (From "The Bhakti Doctrine in the Shandilya Sutra" by Dr. B. M. Baruas, M. A., D. Litt.; 2nd Oriental Congress Calcutta Page; 437)

बौद्ध-धर्म : सिद्ध-साहित्य

कुछ आधुनिक विचारकों का मत है कि बौद्ध-धर्म सर्वथा अभारतीय प्रतीत होता है लेकिन ऐसा सोचना और समझना अपनी ऐतिहासिक अनभिज्ञता का परिचय देना ही है क्योंकि बौद्ध धर्म का उद्‌भव और विकास भारतवर्ष में ही हुआ है और साथ ही उन दोनों के बीच उपनिषदों में भी विद्यमान है अतएव जैसा कि डॉ० देवराज का मत है "उपनिषदों के व्यावहारिक संकेतों का विकसित रूप ही बौद्धधर्म है।"[1] डॉ० राधाकृष्णन् का भी यही विचार है कि बौद्ध-धर्म कम से कम अपने मूल में हिन्दू धर्म की ही एक शाखा है।[2] जिस प्रकार उपनिषदों में कहा गया है कि जो सब भूतों को आत्मा में देखता है तथा सब भूतों में आत्मा को वह किसी से घृणा नहीं करता" उसी प्रकार 'बोधिचर्यावतार' आदि बौद्ध-धर्म संबंधी ग्रंथों में विश्वप्रेम की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि भय और दु:ख मेरे समान ही दूसरों को भी प्रिय नहीं हैं अत: फिर मुझमें दूसरों की अपेक्षा ऐसी कौन सी विशिष्टताएँ हैं जिनके कारण मैं उनसे अपनी ही रक्षा करूँ—

यदा मम परेषांच भयं दु:खं च न प्रियम्।
तदात्मन: को विशेषो यतं रक्षामि नेतरम्॥

वस्तुत: गौतम बुद्ध ने अपनी घोर तपस्या के अनन्तर मुख्य रूप से चार सिद्धान्त निश्चित किए थे जिन्हें कि "चत्वारि आर्य-सत्यनि" कहा गया है और जो कि क्रमश: दु:ख, दु:ख समुदाय, दु:खनिरोध और दु:खनिरोध मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा जिनका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं। अरिय सच्चं। जातिपि दुक्खं जरापि दुक्खो व्याधिपि दुक्खो मरणंपि दुक्खो अपियेभिसंपयोगो दुक्खो पियेभिविप्पयोगो दुक्खो यं पिच्छतं न लभंति तपि दुक्खं सखित्तेन पंचोपादानक्खन्धोपि दुक्खं।

---

१ दे० दर्शन शास्त्र का इतिहास—डॉ० देवराज, पृष्ठ १५८
२ दे० राधाकृष्णन्; भाग १, पृष्ठ ३६१

अर्थात् हमारा जीवन दुःखमय है, उसमें आनन्द की अभिलाषा करना ही दुःख का कारण है अतएव उस कामना व तृष्णा का त्याग करने पर ही दुःख की निवृत्ति हो सकती है और उसका त्याग सरल पवित्र जीवन व्यतीत करने से ही सम्भव है।

बौद्ध साधकों का लक्ष्य निर्वाण है तथा कुछ विद्वान् निर्वाण का अर्थ शांत हो जाना या ठंडा पड़ जाना मानते हैं परन्तु कई विचारक निर्वाण का अभिप्राय व्यक्ति की सत्ता का पूर्णनाश अथवा शून्य में सम्मिलित हो जाना समझते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वान् तो केवल उसका यही अर्थ मानते हैं लेकिन यदि निर्वाण का अर्थ पूर्ण नाश हो तो बौद्ध-धर्म का इतना अधिक प्रचार नहीं होता। प्रो० मैक्समूलर और चाइलर्स भी निर्वाण का यह अर्थ नहीं मानते तथा बौद्धों के दार्शनिक साहित्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट भी हो जाता है कि निर्वाण का अर्थ विनाश नहीं है। नागार्जुन का विचार है कि विश्व में निर्वाण की अपेक्षा अन्य कोई विशेषता नहीं है और इसी प्रकार निर्वाण में भी विश्व की अपेक्षा अन्य कोई विशिष्टता नहीं है तथा दोनों में अणुमात्र भी अंतर नहीं है। देखिए—

न संसारस्य निर्वाणात् किंचिदस्ति विशेषणम्।
न निर्वाणस्य संसारात् किंचिदस्ति विशेषणम्॥
न तयोरंतरं किंचिद् सुसूक्ष्ममपि विद्यते।

—माध्यमिक कारिका, २५।१९-२०

श्री यामाकामी सोगेन ने उक्त उद्धरण की टीका करते हुए कहा है कि बौद्धदर्शन यह कभी नहीं सिद्ध करता कि निर्वाण विश्व से अलग है। साथ ही निर्वाण की उपलब्धि के हेतु गौतम बुद्ध ने 'अष्टांगिकी' अथवा "आर्य अष्टांगिकी मार्ग" का अनुसरण करना आवश्यक माना था जिसके अनुसार सम्यक् वा उचित दृष्टि, सम्यक् वा उचित संकल्प, सम्यक् वा उचित वाणी, सम्यक् वा शुद्ध कर्म, सम्यक् वा शुद्ध आजीविका, सम्यक् वा उचित उद्योग, सम्यक् वा शुद्ध चित्तवृत्ति तथा सम्यक् व पूर्ण समाधि नामक आठ मार्ग आवश्यक समझे गए और जहाँ कि एक ओर भोग विलासमय जीवन की भर्त्सना की गई वहाँ दूसरी ओर शरीर को व्यर्थ कष्ट पहुँचानेवाली तपश्चर्या को भी आवश्यक न समझा गया—

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरिय सच्चं। अयमेव अरिय सच्चं अट्ठंगिको मग्गो। सेय्यथेदं सम्मा दिट्ठी सम्मा संकप्पो सम्मा वाचा सम्मा कम्मंतो सम्मा आजीवो सम्मा वायामो सम्मा सति सम्मा समाधि।

गौतम बुद्ध ने कभी भी किसी ईश्वर की पूजा करने की शिक्षा नहीं दी और न पतंजलि के योगदर्शन की भाँति किसी पुरुष विशेष का अवलम्ब लेने का उपदेश ही दिया बल्कि वे तो यही कहते थे कि "स्वयं ही अपना आलोक बनो और अपना आश्रय स्वयं ही लो तथा किसी अन्य का अवलम्ब न ग्रहण करो" क्योंकि किसी भगवान विशेष के अनुग्रह से मुक्ति नहीं प्राप्त होती। इंद्रिय-निग्रह, शील एवम् समाधि पर ही बौद्ध-धर्म में विशेष जोर दिया गया तथा सत्य, संतोष और अहिंसादि गुणों को आवश्यक समझा गया तथा जैसा कि धम्मपद के प्रथम श्लोक में कहा गया है "मनो पुब्बंगमा धम्मा:" अतएव धर्मसाधना को शारीरिक न मानकर मानसिक ही माना गया और चित्तवृत्ति की शुद्धता ही वास्तविक शुद्धता समझी गई। साथ ही गौतम बुद्ध ने गूढ़ दार्शनिक रहस्यों के खोज की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन के प्रश्नों की ओर ही विशेष ध्यान दिया है अत: उनकी शिक्षा मनोविज्ञान के अनुकूल ही है। यद्यपि उन्होंने सामाजिक कर्त्तव्यों पर विशेष जोर नहीं दिया और वे जन्म की अपेक्षा कर्मों को ही अधिक महत्वपूर्ण समझते थे परन्तु यह कहना तो भ्रमपूर्ण ही है कि बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया है।[1] धम्मपद में तो उसे ही ब्राह्मण माना गया है जो कि मन, वचन और वाणी से पाप नहीं करता तथा इन सब पर संयम रखता है—

यस्य कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं
संवुतं तिहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्।

लेकिन गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त उनके शिष्यों ने व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया तथा दार्शनिक पक्ष पर कम और इसके फलस्वरूप बुद्ध के निजी अनुभवों के आधार पर स्थित, आदर्शपूर्ण नैतिक जीवन से संचरित और व्यावहारिकता की भावना से संनिहित बौद्ध-धर्म में

---

१ कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती प्रजा।
कम्मनिबंधना सत्ता रथस्साऽणीवयायतो॥

सरल सुगम धर्मसाधना के स्थान पर दार्शनिक गुत्थियों के सुलझाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा अत: बौद्धधर्मावलम्बियों में पारस्परिक मतभेदों की वृद्धि होने लगी और उनमें कई संप्रदाय बन गए। प्रोफेसर कीथ का कथन है कि 'गौतम बुद्ध के उपरान्त बौद्धों के कम से कम अठारह संप्रदाय बन गए' परंतु अभी तक इतने संप्रदायों के विषय में कुछ भी महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त नहीं हुए हैं; हाँ हीनयान और महायान नामक दो प्रमुख उत्तरकालीन बौद्ध-संप्रदाय अवश्य प्रसिद्ध हैं। वस्तुत: यान का अर्थ यात्रा का साधन या मार्ग है और स्मरण रहे कि महायान संप्रदायवालों ने ही हीनयान नाम उस दूसरे सम्प्रदाय का रखा है। वास्तव में महायान संप्रदाय अपने मूल बौद्ध-धर्म का एक विकसित रूप था तथा वह अपने प्रतिपक्षी संप्रदाय सन्यसमार्ग प्रधान हीनयान से कई बातों में भिन्नता रखता था।[1] प्रारंभ में हीनयान वाले अपने आपको हीनयान अर्थात् छोटा रथ या संकुचित विचारवाला कहलाना उचित नहीं समझते थे तथा उनका कथन था कि 'त्रिपिटक' ग्रंथ उन्हीं के मत का पोषण करते हैं और उनका मत ही बुद्ध की वास्तविक शिक्षाओं का पालन करता है। हीनयान संप्रदाय थिरवाद या स्थविरवाद अर्थात् वृद्धों का सम्प्रदाय कहलाता है। महायान संप्रदायवालों का विचार था कि वे ऊँचे-नीचे, बड़े-छोटे सभी को अपने विशाल रथ में बिठाकर निर्वाण तक पहुँच सकते हैं जब क हीनयानवाले अपनी छोटी सी सँकरी गाड़ी द्वारा केवल संन्यासियों और विरक्तों को ही सहारा दे सकते हैं। इस प्रकार हीनयानवाले चाहे अपने आपको हीनयान कहलाना प्रारंभ में पसंद न करते हों परन्तु चूँकि उसमें केवल नैतिक प्रवृत्तिवाले व्यक्तियों को ही स्थान दिया गया तथा वह संक्षेप में यथार्थवादी, अनेकवादी और नैरात्म्यवादी ही रहा जब कि महायान का

---

१ "हीनयान का साधन जहाँ पर केवल अपने व्यक्तिगत निर्वाण के लिए प्रयत्नशील होता था, वहाँ महायान अपने को सभी प्राणियों के उद्धार के हेतु उद्योगशील होनेवाला प्रदर्शित करता था और उसका परम आदर्श इसी कारण 'अर्हता' की जगह 'बोधिसत्व' बन गया था। बोधिसत्व हो जाने का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति को बोधिचित्त की उपलब्धि हो जाना था, जिसमें शून्यता व करुणा का सामंजस्य रहा करता है।"—श्री परशुराम चतुर्वेदी

(उत्तरी भारत की संतपरम्परा; पृष्ठ ३२–३३)

विस्तार बहुत अधिक था तथा उसमें सभी वर्ण, विचार एवं मत के व्यक्तियों को आसानी से समान स्थान मिलता था अतः स्वाभाविक ही उसे हीनयान की अपेक्षा बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई और वह विशेष रूप से मानवीय, लोकगम्य, सहज तथा समन्वयमूलक समझा जाने लगा।[1] साथ ही महायानवालों ने तो अपने धर्म के मूलप्रवर्तक गौतम बुद्ध को देवत्व प्रदान कर और उनकी विविध जातक कथाओं का काल्पनिक आधार ले बोधिसत्वों की उपासना में प्रवृत्त होकर बौद्ध-धर्म के मूल ढाँचे को ही परिवर्तित कर दिया। संस्कृत भाषा को अपनाने से भक्तिवाद एवं तंत्रोपचार की पद्धतियों के भी वे समर्थक बन गए तथा तत्कालीन तंत्रवाद के प्रभाव के कारण प्रचलित विभिन्न गुह्य साधनाओं की ओर आकर्षित होने के कारण और रहस्यपूर्ण गूढ़ातिगूढ़ परिभाषाओं की सृष्टि के फलस्वरूप महायान भी कई उपायानों में विभाजित होने लगा और इन उपायानों में ही बहुत अधिक विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती थीं जिसमें कि उनको (उपायानों को) मूल बौद्ध-धर्म या महायान संप्रदाय का विकसित रूप सिद्ध करना भी सहज नहीं है।

---

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने महायान सम्प्रदाय की निम्नलिखित सात विशेषताएँ मानी हैं—

(१) सर्वभू-हितवाद में विश्वास रखना और समस्त जगत के प्राणियों के कल्याणार्थ प्रयत्न करना ; स्वयं कष्ट सहकर भी, नरक भोग कर भी अन्य जीवों के उद्धारार्थ प्रयत्न करना।

(२) बोधिसत्वों में विश्वास रखना और यह भी विश्वास करना कि मनुष्य अपने सत्कर्मों और भक्ति के द्वारा बोधिसत्व प्राप्त कर सकता है। "हरि को भजै सो हरि को होई।"

(३) बुद्धों के लोकोत्तर तत्त्व में विश्वास। यह भी विश्वास करना कि बुद्ध गण काल और देश की सीमा में परिच्छिन्न हैं।

(४) जगत् को सार-शून्य और नश्वर मानना।

(५) कर्मकाण्ड की बहुलता और मंत्र-तंत्र में विश्वास।

(६) संस्कृत के ग्रन्थों में विश्वास, पाली में नहीं।

(७) बुद्ध में और विशेष करके अमिताभ बुद्ध में विश्वास और उनके नाम-जपसे निर्वाण-प्राप्ति में विश्वास।

—दे० हिन्दी साहित्य की भूमिका (पृष्ठ ८–९)

चूँकि महायान द्वारा गौतम बुद्ध को देवत्व प्रदान करने के फलस्वरूप उनके उपदेश भी अलौकिक समझे जाने लगे अतः साधना की सरलता, सदाचार की महानता और कर्म के परिष्कार के लिए जो बौद्धधर्म प्रसिद्ध था वही अब साधना की उलझनों, मंत्रों की जटिलताओं और योग-समाधि, तंत्रमंत्र तथा डाकिनी-शाकिनी की सिद्धि के लिए उन्मुख हो उठा। यों तो बुद्ध के समय में ही 'गन्धारी विद्या' या 'आवर्तनी विद्या' मंत्र-कल्प से ही प्रचलित थी और गौतम बुद्ध ने उन्हें 'मिथ्याजीव' ही माना था परन्तु उनके शिष्यों में इस विद्या के प्रति आकर्षण विद्यमान था, अतएव गौतम बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त तो यह आकर्षण उत्तरोत्तर अत्यधिक मात्रा में बढ़ता ही गया और जब सर्वसामान्य जनता को आकर्षित करने की भावना बलवती होने लगी तो उन्होंने मंत्र चमत्कार की सिद्धि पर ही विश्वास किया। फलतः महायान की यह सुगम साधना मंत्रयान के रूप में परिवर्तित हुई और सन् ४०० से ७०० ईस्वी के लगभग तो इसका प्रचार व्यापक रूप से होने लगा। प्रारम्भ में गौतम बुद्ध के उपदेशों को जो कि साधारणतः दीर्घ आकार के होते थे लघुतम रूप अर्थात् छोटे-छोटे सूत्रों का आकार दिया गया और आगे चलकर जब इन सूत्रों को और भी अधिक संक्षिप्त रूप दिया जाने लगा तो ये मंत्रों के रूप में परिवर्तित हो गए तथा इन मंत्रों के अर्थरहित होने में ही इनकी सार्थकता भी समझी गई और इनका प्रभाव उन लम्बे-लम्बे उपदेशों से किसी भी प्रकार गौण न समझा गया। केवल दो एक वर्णों की विभिन्न स्थिति एवं संयोग द्वारा ही इन मंत्रों का निर्माण कर उच्चारण की विशिष्ट शैली पर ही ध्यान दिया जाता और लिखित रूप में अभिव्यक्त करते समय तो इन विभिन्न वर्णों की स्थिति के अनुकूल ही इनसे अन्य मंत्र निर्मित किए जाते तथा उनके विभिन्न प्रयोगों द्वारा उन्हीं परिणामों का अनुमान किया जाता जो कि मूल उपदेशों द्वारा संभव थे। इस प्रकार महायान की इस नवीनतम शाखा में मंत्रों को ही विशिष्टता प्रदान की गई तथा इसके अनुयायियों को विश्वास सा हो गया कि अपने अभीष्ट की प्राप्ति के हेतु इन मंत्रों की साधना ही नियमित रूप से आवश्यक है।

साथ ही इसके समानान्तर वाम मार्ग की धारा भी महायान सम्प्रदाय में प्रवाहित होने लगी और वह मंत्रयान के साथ-साथ वाममार्ग की विकृतावस्था

का हीन चित्र भी प्रस्तुत करने लगा। वे बौद्धसाधक जो कि मंत्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने पर विश्वास करते थे और मंत्रयान सम्प्रदाय का प्रचार करते थे, सिद्ध कहलाने लगे। चूँकि शंकराचार्य ने बौद्ध-धर्म के उन्मूलन का बीड़ा उठा लिया था अत: जब उत्तर भारत में शंकराचार्य के सिद्धान्तों का प्रचार अत्यधिक बढ़ा तब बौद्धधर्म के प्रश्रय के लिए वहाँ कोई उपयुक्त स्थान न रह गया और चूँकि दक्षिण भारत के तत्कालीन आन्ध्र शासकों का अनुराग अभी भी बौद्ध-धर्म पर था, अत: उनकी क्रमिक राजधानियों प्रतिष्ठान (पैठन) और धान्यकटक के निकट ही श्री पर्वत इन सिद्धों का प्रधान केन्द्र हुआ तथा यहीं पर मंत्रयान सम्प्रदाय का प्रसिद्ध ग्रंथ "मंजु श्री मूलकल्प" का सृजन हुआ जिसमें कि अनेकानेक मंत्र तंत्रों का उल्लेख है और इस प्रकार इन मंत्र तंत्रों की सिद्धि के हेतु दक्षिण भारत के इस "श्री पर्वत" को प्रसिद्धि भी प्राप्त हुई :—

श्री पर्वते महाशैले दक्षिणा पथसंज्ञिके ।
श्री धान्य कटके चैत्ये जिन धातुरे भुवि ॥
सिध्यन्ते तंत्र मंत्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थ कर्मसु ॥

स्मरण रहे कि उत्तर भारत में उस समय भारशिव (नाग) तथा वाकाटक नरेशों का प्रताप वृद्धि कर रहा था जो कि कट्टर शैव थे और शुंग तथा कण्व राजाओं की भाँति बौद्ध धर्मावलम्बियों से घृणा करते थे और उनका राज्य ईस्वी सन् १५० से गुप्त साम्राज्य के उदय अर्थात् सन् २७५ तक रहा तथा आगे चल कर गुप्त सम्राट भी कट्टर वैदिक मतानुयायी ही रहे और वे सन् ८२० तक उत्तरी भारत में अपना साम्राज्य सुदृढ़ बनाने में भी सफल रहे अत: लगभग ६५० वर्ष तक बौद्ध-धर्म के इन परिवर्तित स्वरूपों को दक्षिण में ही विकसित होने का सौभाग्य मिल सका। इस समय दक्षिण भारत में आंध्र के शालिवाहन अथवा शालवाहन राजाओं का प्रताप पुँज प्रखरता के साथ चमक रहा था और उन्होंने ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर लगभग ४०० वर्षों तक दक्षिण भारत से लेकर समस्त मध्यभारत तक का प्रदेश अपने आधीन रखा और चूँकि वे बौद्धमतावलम्बी थे अत: महायान के मूल प्रवर्त्तक नागार्जुन को जो कि दक्षिण भारत के ही निवासी थे तथा जिनका स्थान अभी भी मद्रास प्रान्त के समीप गंटूर जिले में नागार्जुनी कोंडा बतलाया जाता है अपने मत का प्रचार करने में पूर्ण सफलता मिल सकी। आंध्र नरेशों ने धान्य-

कटक में एक बौद्ध विश्वविद्यालय भी स्थापित किया था और उन्हीं के राज्यत्वकाल में अजन्ता, एलोरा, कार्ले, नासिक, बेडसा तथा रामगढ़ के सुप्रसिद्ध गुफामन्दिर बनाए गए जिनमें से अजन्ता और एलोरा तो अभी भी विश्व में अनुपमेय माने जाते हैं।

लेकिन मन्त्रयान का ज्यों-ज्यों अधिकाधिक प्रचार होता गया तथा उसके श्रध्दालुओं की संख्या में भी वृद्धि होने लगी त्यों-त्यों लोगों की उदारता से लाभ उठाकर अनेक मंत्रयानी साधकों ने विविध प्रयत्नों द्वारा धनसंग्रह की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया और इसके फलस्वरूप उनमें विलासिता की भी प्रवृत्तियाँ उदय होने लगीं तथा मंत्रयान के विकास की एक ऐसी चरमावस्था आ गई जब कि वह 'भैरवी चक्र' के रूप में सदाचार की अवहेलना करने लगा और फलतः वह वज्रयान के रूप में परिवर्तित हो गया। सन् ८०० ई० के लगभग मंत्रयान में ये परिवर्तन प्रारम्भ हो गए थे क्योंकि मंत्रयान के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मन्जुश्री मूलकल्प' में 'भैरवी चक्र' का निर्देश नहीं है तथा बाद में ही वज्रयान में मंत्रयान के मंत्र और हठयोग के साथ-साथ मद्य और मैथुन तथा हठयोग की क्रियाओं को भी सम्मिलित किया गया जिसके फलस्वरूप लगभग अपने ८०० वर्षों के जीवनक्रम में महायान वज्रयान के रूप में परिवर्तित होकर सदाचार विहीन हो गया और ई० ८०० से ११७५ ई० तक यह वज्रयान सम्प्रदाय ही विकसित होता रहा तदुपरान्त शनैः शनैः वह भी पतनोन्मुख होने लगा।

स्मरण रहे कि आगे चलकर वज्रयान सम्प्रदाय के साधकों को देश के पूरबी भागों में प्रश्रय मिला तथा तत्कालीन बौद्ध धर्मावलम्बी पालशासकों ने उनके प्रति अपनी संरक्षणशील प्रवृत्ति का परिचय देकर बौद्ध-धर्म को बिहार से लेकर आसाम तक फैलने में सहायता दी और जिसके फलस्वरूप बौद्ध तांत्रिकों के मध्य वामाचार अपनी चरमावस्था पर जा पहुँचा। वज्रयान के प्रचारकों में प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों की भी गणना की जाती है जो कि अपनी अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे।[1]

---

१ त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृत्यायन ने इन चौरासी सिद्धों का नाम निम्न क्रम से दिया है :-

लुइपा, लीलापा, विरूपा, डोम्बिपा, शबरपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चोरंगिपा, वीणापा, शांतिपा, तंतिपा, चमारिपा, खड्गपा, नागार्जुन,

इन सिद्धों में प्रायः सभी वर्ग के साधक थे तथा शूद्रों की तो अधिकता ही थी। अतः स्वाभाविक ही इनमें वर्णभेद और वर्गभेद की भावना न थी। साथ ही जैसा कि श्री परशुराम चतुर्वेदी का मत है "वज्रयानियों ने महायान की शून्यता एवं करुणा को क्रमशः प्रज्ञा एवं उपाय के नाम दे दिए और इन दोनों के मिलन को "युगनद्ध" की दशा बतलाकर उसे ही प्रत्येक साधक का अन्तिम लक्ष्य ठहराया। बोधिचित्त भी जो पहले विशुद्ध एवं व्यापक कारुण्यभाव का द्योतक रहा, इस प्रकार 'वज्रसत्व' माना गया है।"[1] स्मरण रहे प्रज्ञा जिसे कि इन साधकों ने स्त्री का रूप प्रदान किया था एक निर्विशिष्ट किन्तु निष्क्रिय मात्र थी, जब कि इसके विपरीत उपाय जिसे कि पुरुषवत् माना गया एक सक्रिय तत्त्व था। अतः इन दोनों का अन्तिम मिलन ही शक्ति एवं शिव के सम्मिलन के समान आवश्यक समझा गया है।[2]. इन दोनों के पारस्परिक संयोग की अन्तिम अवस्था को 'समरस' व महासुख कहा गया जो कि वज्रयानियों का परमलक्ष्य था। वज्रयानी साधकों ने महासुख की दशा यह बतलाई है कि साधक शून्य में इस प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार नमक पानी में और इस अवस्था का प्रतीक उपस्थित करने के हेतु युगबद्ध अर्थात् स्त्री-पुरुष की आलिंगनबद्ध युग्म की कल्पना की गई तथा सिद्ध कण्हपा के इस कथन को "जिमि लोण बिलिज्जइ पाणिएहिं तिमि

कण्हपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शलिपा, तिलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखंधिपा, अजोगिपा, कालपा, धोम्भिपा, कंकणपा, कर्मरिपा, डेंगिपा, भदेपा, तंधेपा, कुकुरिपा, कुचिपा, धर्मपा, महीपा, अचिंतिपा, भलहपा, नलिनपा, भुसुकिपा, इन्द्रभूति, मेकोपा, कुठालिपा, कमरिपा, जालंधरपा, राहुलपा, धर्वरिपा, धोकरिपा, मेदिनीपा, पंकजपा, घंटापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुंडरिपा, लचिकपा, निगुंणपा, जयानन्त, चर्पटीपा, चम्पकपा, भिखनपा, भलिपा, कुमरिपा, चवरिपा, मणिभद्रा, मेखलापा, कनखलापा, कलकलपा, कंतालीपा, धहुलिपा, उधलिपा, कपालपा, किलपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिकपा, पुतुलिपा, पनहपा, कोकालिपा, अनंगपा, लक्ष्मीकरा, समुद्रपा, भलिपा।

१. दे० उत्तरी भारत की संत परम्परा—पृष्ठ ३४।

२. डॉ० एस० दासगुप्ता "आब्स्क्योर रिलीजस कल्टस" कलकत्ता युनि० १९४६, पृ० ३०

धरणी लई चित्त" को महत्त्व दिया जाने लगा। कण्हपा तो यहाँ तक कहते हैं कि जब तक अपन अपनी गृहणी का उपयोग ही न करेंगे तब तक पंचवर्ण की स्त्रियों के साथ भला क्या विहार कर सकेंगे ? इस प्रकार वज्रयानियों की इन योगतन्त्र साधनाओं में मद्य तथा स्त्रियों का अबाध सेवन आवश्यक माना गया और प्रत्येक वज्रयानी साधक के लिए एक महामुद्रा के सम्पर्क में रहना आवश्यक समझा जाने लगा तथा उसे सर्वप्रथम किसी नीच जाति की रूपवती स्त्री को अपने लिए चुन लेना पड़ता था और तदुपरांत वह उसे अपने गुरु के निकट ले जाकर उनके आदेशानुसार उसे अपनी महामुद्रा बना लेता।[1] इन वज्रयानियों की योग तन्त्र साधनाओं में मद्य तथा डोमिनी, रजकी आदि नीच कुल की स्त्रियों का अबाध सेवन आवश्यक समझा गया तथा सिद्ध कण्हपा तो डोमिनी का आह्वान गीत इस प्रकार गाते थे......

नगर बाहिरे डोंबी तोहरि कुड़िया छइ
छोइ जाइ सो बाम्ह नाड़िया।
आलो डोंबि। तोए सम करिब म सँग।
निघिण कण्ह कपाली जोइ लाग ॥
एक सो पदमा चौषट्ठि पाखुड़ी।
तहि चढ़ि नाचअ डोंबी बापुड़ी ॥
हालो डोंबी ! तो पुछमि सदभावे।
अइससि जासि डोंबी काहरि नावे ॥

इस प्रकार प्रत्येक वज्रयानी साधक की हर प्रकार की साधना उस महा-मुद्रा के सहवास में रहकर चला करती और दोनों की मनोवृत्तियों में साम्यता लाने के प्रयत्न किए जाते तथा यह समझ लिया जाता कि अनेक तीव्र एवं कठिन नियमों के पालन से जितनी शीघ्रता से सिद्धि नहीं होती उससे कहीं अधिक शीघ्र समस्त प्रकार के कामोपभोगों से हो जाया करती है .....

दुष्करैर्नियमैस्ती व्रैः सेव्यमानो न सिध्यति।
सर्वकामोपभोगांस्तु सेवयश्चांशु सिध्यति ॥
—गुह्यसमाजतन्त्र (पृष्ठ २७)

---

१ डा० एस० दास गुप्त "आब्स्क्योर रिलीजस कल्टस्" कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९४६, पृ० ३०.

इस प्रकार के सिद्धान्तों के प्रचार के फलस्वरूप साधकों में कामवासना की भावना ही बलवती होने लगी और वे स्वयं विभिन्न दुर्व्यसनों में प्रवृत्त हो गए जिसका परिणाम समाज के लिए अहितकर होने लगा तथा वज्रयानी साधकों ने महामुद्रा, एवं उसके सहयोग में होनेवाली साधना और प्राप्त होनेवाले सुख के संबंध में जो संकेत दिए—

चांडालकुल सम्भूता डोम्बिकांवा विशेषतः।
जुगुप्सित कुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥
स्त्रीन्द्रियंच यथा पद्मंवज्रं पुंसेन्द्रियं तथा ॥

(ज्ञानसिद्धि)

अर्थात् "महामुद्रा को चांडाल विशेषकर डोमिन होना चाहिए और जितना ही अधिक घृणित जाति की वह होगी उतनी ही सफलता मिल सकती है तथा स्त्रीन्द्रिय वास्तव में पद्मस्वरूप है और पुंसेन्द्रिय उसी प्रकार वज्र का प्रतीक है" उनके फलस्वरूप साधकों की भावना व्यभिचारपरक ही हो गई।

यह वज्रयानी सम्प्रदाय ही शनैः शनैः आगे चलकर सहजयान सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गया और जिन चौरासी सिद्धों का उल्लेख हम अभी-अभी कर चुके हैं उनमें से बहुत से ऐसे थे जो कि वस्तुतः सफल साधक सिद्ध थे तथा साधना के वास्तविक रहस्य से विज्ञ भी थे कदाचित इसीलिए उन्होंने उक्त साधना के वास्तविक स्वरूप का नाम "सहज" रखा तथा उसके द्वारा "सहज सिद्धि" अथवा समस्त सिद्धियों को सुगमता के साथ प्राप्त कर लेना सम्भव समझा। "प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धिः" (श्लो० ४०, पृ० २४) के "तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः। संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु नैव सिद्धिः कदाचन।" नामक श्लोक के अनुसार उनकी दृष्टि में साधना ऐसी होनी चाहिए जिससे कि चित्त विक्षुब्ध न हो सके क्योंकि चित्तरत्न के क्षुब्ध हो जाने पर सिद्धि प्राप्त होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार सहजयान सम्प्रदाय के साधकों ने मन्त्रयान और वज्रयान में प्रचलित मन्त्रादि बाह्य साधनाओं की उपेक्षा कर योग एवं मानसिक शक्तियों के विकास पर ही विशेष ध्यान दिया यद्यपि उनके मूल पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार कर लेने पर भी व्याख्या उन्होंने अपने निजी मतानुसार भिन्न-भिन्न रूप में ही की। उदाहरणार्थ 'वज्र' शब्द से अब उस 'प्रज्ञा' का बोध किया जाने लगा जो कि बोधिचित्त का सार स्वरूप है। सहजयान सम्प्रदाय में योग-साधना के हेतु योग्य गुरु से दीक्षा लेना अनिवार्य

था और यह गुरु अपने शिष्यों की आंतरिक वृत्तियों की परीक्षा लेने के उपरान्त उन्हें तदनुकूल साधना विशेष में प्रेरित करता था तथा उस साधना के अनुरूप वह शिष्य किसी एक विशेष कुल या वर्ग का सदस्य समझा जाता और ये कुल जिनका कि नामकरण बौद्धों के पंचस्कंधों या मूलतत्त्वों के स्वभावानुसार किया गया था वस्तुतः डोंबी, नटी, रजकी, चांडाली और ब्राह्मणी नामक पाँच प्रकार के थे। स्मरण रहे गुरु इस बात की पूर्ण परीक्षा करने के पश्चात् ही कि शिष्य में कौन सा तत्त्व विशेष रूप से विद्यमान है उसके लिये साधना का निर्णय करता था। लेकिन विचारपूर्वक देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि वज्रयान एवम् सहजयान दोनों सम्प्रदायों का लक्ष्य वस्तुतः 'महासुख' या 'पूर्ण अनन्द' प्राप्त करना ही था और इस समरस की दशा का एक नाम 'सहज' था जिसके फलस्वरूप यह सम्प्रदाय सहजयान कहलाया।

सहजयान सम्प्रदाय में ही सिद्धों के तथाकथित प्रथम कवि सरहपा की भी जिन्हें कि सरहपाद वा सरोरूहपाद भी कहा जाता है गणना की जाती है। सहजयान सम्प्रदाय के चौरासी सिद्धों का समय वि० सं० ७९७ से १२५७ वि० सं० तक माना जाता रहा है यद्यपि सिद्धों की परम्परा आगे भी चलती रही है और जो कि मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ द्वारा नाथ-पन्थ के नाम से प्रसिद्ध भी हुई तथा बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी की समाप्ति तक जो कि अपनी पूर्ण चरमोत्कर्ष अवस्था पर जा पहुँची। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इसे स्वीकार किया है कि नाथ-पन्थ चौरासी सिद्धों द्वारा ही निकला है तथा गोरख-सिद्धान्त-संग्रह में "चतुर शीति सिद्ध" शब्द के साथ-साथ चौरासी सिद्धों में से आदिनाथ जालधर पा और अन्य छः सिद्धों के नाम भी दृष्टिगोचर होते हैं। स्मरण रहे नाथपन्थ ही हिन्दी साहित्य में सन्तकाव्य का उत्प्रेरक रहा है बल्कि उपयुक्त तो यह होगा कि हम उसे उसका जन्मदाता ही कहें और इस प्रकार कहा जा सकता है कि सन्त-साहित्य की नींव सिद्धों द्वारा ही डाली गई है। कबीर ग्रन्थावली (पृष्ठ ५४) में लिखा भी है —

धरती अरु असमान बिचि, दोई तू बड़ा अवध।
षटदर्शन संसे पड्या, अरु चौरासी सिद्ध॥

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत के "स-स्क्य-विहार" के पाँच प्रधान गुरुओं की ग्रन्थावली "स स्क्य-ब्कं-बुम्" जो कि चीन की सीमा के समीप "तेर-गीं" मठ में मुद्रित हुई है के आधार पर सिद्धों का विवरण प्रस्तुत किया है तथा

उन्होंने सरहपा का समय सं० ८१७ माना है क्योंकि सरहपा महाराज धर्मपाल (सं० ८२६-८६६) के समकालीन थे लेकिन डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा को ही सिद्धों का आदिम सिद्ध मानते हुए उनका समय सं० ६९० माना है।[1] जैसा कि प्राय: अधिकांश विद्वानों का मत है वस्तुत: सिद्धों ने ही सर्वप्रथम हिन्दी में अपनी काव्य-रचना प्रारम्भ की तथा उनकी कृतियाँ मगही में लिखी गई हैं और भोटिया में अनुवादित ग्रन्थावली जो कि भोटिया ग्रन्थ संग्रह 'तन्जूर' में सुरक्षित हैं द्वारा ही प्रकाश में आ सकीं। अतएव धार्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा साहित्यिक दृष्टिकोण से इस सिद्ध-साहित्य का विशेष महत्त्व है। स्मरण रहे सिद्धों के आदिम सिद्ध सरहपा एक ब्राह्मण भिक्षु ही थे यद्यपि वे जाति-व्यवस्था के भयंकर विरोधी थे और उन्होंने सहजयान सम्प्रदाय में जाति भेद की भावना को बलवती न होने दिया तथा ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मणों की कटुतम आलोचना की। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं—"ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे—जब हुए थे, तब हुए थे। इस समय तो ये भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं वैसे ही पैदा होते हैं। तो फिर ब्राह्मणत्व रहा कहाँ ? यदि यह कहा जाए कि संस्कार-वश ब्राह्मण होता है तो फिर चाण्डाल को भी संस्कार करने दो वह भी ब्राह्मण हो जाएगा। यदि यह कहा जाए कि वेदाध्ययन से

---

१ दे० बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जर्नल, खण्ड १४, भाग ३, पृष्ठ ३४९

परन्तु महापण्डित राहुल सांकृत्यायन भट्टाचार्य जी से सहमत नहीं हैं और उनका विचार है कि "भोटिया ग्रंथों से मालूम होता है कि बुद्धज्ञान जो सरहपा के सहपाठी और शिष्य थे, दर्शन में हरिभद्र जी के भी शिष्य थे। हरिभद्र शांतरक्षित के शिष्य थे, जिनका देहान्त ८४० ई० के करीब तिब्बत में हुआ था। वहीं से यह भी मालूम हुआ है कि बुद्धज्ञान और हरिभद्र महाराज धर्मपाल (७६९-८०९) के समकालीन थे। सरहपा के शिष्य शबरपा लूइपा के गुरु थे। लूइपा महाराज धर्मपाल के कायस्थ (लेखक) थे। शांतरक्षित का जन्म सं० ७४० के करीब विक्रम शिला के पास सहोर राजवंश में हुआ। फलत: हम सरहपा को महाराज धर्मपाल का (६६८-८०९) समकालीन मान लें तो सभी बातें ठीक हो जाती हैं। इस प्रकार चौरासी सिद्धों का आरम्भ हम आठवीं शताब्दी के अंत (८०० ई०) से मान सकते हैं।"

(पुरातत्त्व निबन्धावली, श्री राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १५५-१५६)

कोई ब्राह्मण होता है तो फिर चाण्डालों को भी वेद का अध्ययन कर ब्राह्मण क्यों नहीं बनने दिया जाता। वास्तव में देखा जाए तो शूद्र भी व्याकरणादि पढ़ते ही हैं और इन व्याकरणों में भी वेद के शब्द हैं। फिर इस प्रकार शूद्रों ने भी वेदों को पढ़ लिया है और यदि अग्नि में घृत डालने से ही मुक्ति होती है तो फिर सबको क्यों नहीं यज्ञादि करने देते जिससे कि सबके सब मुक्त हो जाएँ। यज्ञ करने से मुक्ति चाहे प्राप्त होती हो या नहीं लेकिन धुआँ लगने से तो नेत्रों को पीड़ा पहुँचती ही है। ब्राह्मण 'ब्रह्मज्ञान' की दुहाई देते फिरते हैं लेकिन वास्तव में उनके अथर्ववेद की सत्ता ही प्रतिपादित नहीं होती और जब तीन वेदों के पाठ ही सिद्ध नहीं हैं तो फिर वेदों को प्रामाणिक मानना ही न चाहिए। वेद तो परमार्थ हैं नहीं वे तो शून्य की शिक्षा ही नहीं देते। अतः उन्हें व्यर्थ की बकवास समझना चाहिए।" इसी प्रकार सरहपा ने शिवोपासक भक्तों का उपहास करते हुए कहा है—"ये शिव के भक्त शरीर में भस्म लगाते हैं, सिर पर जटा धारण करते हैं, दिया जलाकर घर में बैठते हैं और ईशानकोण में बैठकर घंटा बजाया करते हैं, आसन बाँधकर आँख मूँदा करते हैं तथा लोगों को व्यर्थ ही धोखा देकर गुमराह करते हैं। बहुत से लोग इनके बहकाने में आ जाते हैं परन्तु जब कोई वस्तु है ही नहीं तो फिर ईश्वर भी एक पदार्थ ही है और वह भी कैसे रह सकता है? इत्यादि।" इस प्रकार सरहपा ने प्रचलित प्रायः सभी वैष्णव, शैव, बौद्ध व जैन धर्म की साधना पद्धतियों का बड़ी ही कटुता के साथ उपहास किया तथा सहज साधना का प्रचार कर उसे ही श्रेष्ठतम भक्ति-साधना माना है। यह तो स्पष्ट ही है कि अन्य सिद्धों की भाँति सरहपा भी वज्रयान सम्प्रदाय के विशेषज्ञ ही थे तथा उन्हें इसीलिए 'सरोजवज्र' भी कहा जाता है और साथ ही बौद्ध-परम्परा में आने के कारण उन्हें 'राहुलभद्र' भी कहते हैं। प्रारम्भ में सरहपा का निवासस्थान नालन्दा था लेकिन वज्रयान संप्रदाय से प्रभावित होने पर उन्होंने 'शर (सर)' बनानेवाले की सुता को 'जोगिनी' बनाकर उसके साथ आरण्यवास किया और स्वयं ही 'शर (सर)' बनाने का कार्य स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप वे 'सरहपा' कहलाए। उनके लिखे हुए बत्तीस ग्रंथ कहे जाते हैं लेकिन 'दोहाकोष' ही को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हो सकी है और उनके दृष्टिकोण की संक्षिप्त रूपरेखा डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

सहज संयम
|
पांखड और आडंबर विनाश
|
गुरुसेवा
|
सहजमार्ग
|
महासुख की प्राप्ति

सरहपा की सहज-साधना में वज्रयान संप्रदाय की कमल एवं कुलिशवाली प्रचलित भावना को 'सुरत विलास का साधन' समझा गया तथा—

कमल कुलिस वेविभज्झठिउजोसो सुरअ विलास।
कोन रमई णहति हुअणेहि कस्सणपूरइआस॥

नामक पंक्तियों द्वारा स्पष्ट रूप में कहा गया है कि "कमल रूपी स्त्री-न्द्रिय और कुलिश रूपी पुंसेन्द्रिय के संयोग द्वारा जो साधना की जाती है वह तो केवल "सुरतविलास" मात्र है और उसे जगत् में कौन व्यवहार में नहीं लाता तथा ऐसा कौन है जो उससे अपनी असना तृप्ति नहीं करता परन्तु साथ ही स्पष्ट रूप से यह भी कहा जाने लगा कि इस प्रकार हम वास्तव में उस निर्मल परम महासुख का अंशमात्र ही क्षणिक आनंद के रूप में प्राप्त कर पाते हैं तथा वास्तविक रहस्य तो समस्त लक्ष्य एवं लक्षणों से रहित ही है—

कुलिस सरोरुह जोएँ जोइउ, णिम्मल परम महासुख बोहिउ।
खर्णे आणंद भेउ तहिं जाणह, लक्ख लक्खण हीण परिआणह॥

वज्रयानियों में प्रचलित योगिनीमार्ग को ही विसरिअं (विसदृश) अर्थात् अपूर्व वा अनोखा मानते हुए सरहपा ने स्पष्ट ही कहा है कि जो उसे पूर्णतः समझता हुआ अपना चित्त उसमें लगाता है वही चित्तशुद्धि भी प्राप्त कर सकता है और वज्रयानी साधकों द्वारा अवधूती मार्ग, चांडाली मार्ग तथा डोंबी मार्ग या बंगाली मार्ग के नामों से कथित योगिनी मार्ग वास्तव में वैराग्य मार्ग से सर्वथा विपरीत एक राजमार्ग है जिसे अंगीकार करने पर निश्चय ही मोक्षप्राप्ति की सम्भावना हो सकती है तथा सरहपा की दृष्टि में यदि साधक ध्यानहीन और प्रवज्या से रहित होकर घर में भार्या के साथ निवास करते हुए समस्त

विषय भोगों में लिप्त रहने पर भी अपने बन्धनों का परित्याग नहीं कर पाता तो उसका मोक्ष असम्भव ही है। वस्तुतः सहजयान सम्प्रदाय में समस्त साधनाओं का अन्तिम लक्ष्य चित्तशुद्धि ही माना गया है जिसके द्वारा सुगमता के साथ सहजावस्था की प्राप्ति हो सकती है और जो सहज का परित्याग कर निर्वाण प्राप्त करने का स्वप्न देखता है उसे स्पष्ट रूप में परमार्थ साधन में असफल माना गया—

सहजं परित्यज्य येन निर्वाणं भावितम्। न तु परमार्थः एकोऽपि तेन साधितः।
योगेषु यो न भवति सन्तुष्टः मोक्षं किं लभते ध्यान प्रविष्ठः॥

सहज-साधना में अपेक्षित चित्तशुद्धि का रहस्य स्पष्ट करते हुए सरहपा ने लिखा है कि एक चित्त ही सबका बीज रूप है जिससे भव या निर्वाण भी उद्भूत होते हैं और उसी चिंतामणि स्वरूप चित्त का जिससे कि अभीष्ट फल प्राप्ति सम्भव है, आश्रय लेना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुक्त चित्त ही मुक्ति प्राप्त करा सकता है जब कि बद्ध चित्त केवल बन्धन में ही डाल सकता है और जिस चित्त से जड़जीव बन्धन-ग्रस्त होते हैं वस्तुतः उसी की सहायता से विद्वदजन शीघ्र ही मुक्त भी हो जाते हैं—

चितेकेस अलबीअं भवणिव्वाणोवि जस्सविफुरंति।
तंचितामणिरूअं पणयह इच्छा फलंदेन्ति॥
चित्ते बज्झे बज्झइ मुक्के मुक्कइ णत्थिसन्देहा।
बज्झति जेणविजडा लहु परिमुच्चन्ति तेणवि बुहा॥

इस सम्प्रदाय में 'चित्त' को ही सब कुछ मानते हुए कहा गया है कि विभिन्न अनेक संकल्पों रूपी तिमिर से परिपूर्ण, प्रबल प्रभंजन के समान उन्मत्त और चपला के समान चंचल व विषयादि भावनाओं से लिप्त चित्त को ही 'संसार' की संज्ञा दी गई तथा जब वह चित्त आलोकपूर्ण होने के फलस्वरूप समस्त कल्पनाओं से रहित होता है एवम् विषयादि भावनाओं का ह्रास हो जाता है और ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञान का कोई प्रश्न ही नहीं उठता तब उस श्रेष्ठ वस्तु को 'निर्वाण' कहा जाता है और इस प्रकार सहजयानी इस सर्वरूप को खसम (ख=आकाश, सम=समान) अर्थात् आकाश के समान शून्य बना देना उपयुक्त समझते थे और उनकी दृष्टि में चित्त को शून्य स्वभाव का रूप प्रदान कर देना चाहिए जिससे कि वह अपने चंचल स्वभाव को त्यागकर 'अमन' अर्थात् 'मन के विपरीत स्वभाव का' होकर सहजरूप की अनुभूति कर सके—

सव्वरूअ तहि खसम करिज्जइ, खसम सहावे मणवि धरिज्जइ।
सोविमणु तहि अमणु करिज्जइ, सहज सहावै सोबरु रज्जइ॥

सहजयान सम्प्रदाय में मन का शून्य रूप धारण करना अत्यावश्यक समझा जाता था क्योंकि इससे ऐन्द्रिक विषयों की अनुभूति न होती थी और आदि व अंत दोनों से रहित होने के फलस्वरूप यह समसुख 'अद्वय' कहलाता था तथा मन का इस प्रकार अमन कर देना मन का निःस्वभावीकरण या मन का मार डालना समझा जाता और उस क्रिया के अभ्यास को रुई धुनने तथा हिरण के शिकार के रूपकों द्वारा स्पष्ट किया जाता रहा।[1] साथ ही सहजयानी सिद्धों द्वारा यौगिक प्रक्रिया को भी अपनी साधना में स्थान दिया गया और शरीर के अंदर सहज वा महासुख के उत्पत्ति-स्थान की कल्पना इड़ा वा पिंगला नाम की दो प्रसिद्ध नाड़ियों के संयोग के समीप ही की गई तथा वायु-निरोध द्वारा ही उसे प्राप्त करना आवश्यक समझा गया। सिद्धों ने बांयीं नासिका को 'ललना' नामक प्रज्ञारूप चंद्र नाड़ी और दाहिनी नासिका को 'रसना' नामक उपायरूप सूर्य नाड़ी नामक उस महासुख कमल के दो खंड माने हैं और उनकी दृष्टि में उसका पौधा नभ रूपी जल में जहाँ कि अमिताभ व परमानन्दमय प्रकाश पंक रूप में है उत्पन्न होता है और उसका मुख्य नाल अवधूती या मूल शक्ति होती है तथा उसका रूप अहंकार या अनाहत ज्ञान का होता है और इस महासुख कमल किंजल्क का पान योगी और साधक शरीर के भीतर ही प्राप्त कर लेते हैं तथा वह आनन्द 'सुरतवीर' के सुख के समान होता है। इस प्रकार वायु के निर्गमन

---

१ 'बोधिचर्यावतार' में एक स्थल पर लिखा है कि चर्म के ऊपरी अंश को बुद्धि की सहायता से पृथक् कर प्रज्ञा द्वारा अस्थिपंजर को भी मांस से अलग कर दिया जाए तथा अस्थियों को दूर कर अपने विवेक द्वारा विचार करने पर स्वयं ही स्पष्ट हो जाएगा कि अंत में कुछ भी तत्त्व शेष नहीं रहता और सब कुछ वस्तुतः सारहीन ही है। अतः मन का आकार प्रकार पूर्ण करनेवाले संकल्प विकल्प आदि के रहित होने पर इसी प्रकार शून्य मात्र रह जाता है और वही अवस्था परमपद की समझी जाती है—

इमं चर्मपुटं तावत् स्वबुद्ध्यैव पृथक् कुरु।
अस्थि पंजरतोमांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय॥
अस्थीन्यपिपृथक् कृत्वा पश्य ज्ञानमनंततः।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय॥

द्वार को अवरुद्ध कर मानसरूपी घोर अंधकार में शुद्ध और निश्चल मन प्रदीप को प्रज्ज्वलित कर सांसारिक उपभोगों में रत रहने पर ही निर्वाण सिद्धि संभव मानी गई। वायु एवं मन को एक साथ निश्चल और निस्तब्ध होनेवाला स्थान 'उद्धमेरु' अर्थात् मेरुदंड वा सुषुम्ना का सिरा रस मान गया और उसकी पर्वत के समान कल्पना करते हुए उसके शिखर को महा-मुद्रा वा मूल शक्ति का निवास स्थान भी समझा गया। स्मरण रहे कि वज्रयानियों ने जिस प्रकार महामुद्रा की साधना में व्यभिचारपरक चित्र प्रस्तुत किए थे वैसे ही चित्र इन सहजयानियों ने भी प्रस्तुत किए और उसी प्रकार साधक योगी का एकान्त विहार तथा प्रेमपूर्वक विलास करने की अवस्था को भी चित्रित किया। परन्तु इन्होंने अपनी साधना को स्पष्ट करने के हेतु अपने विचारों का अर्थ उन वज्रयानियों की अपेक्षा अन्य दूसरे रूप में प्रस्तुत किया। यौगिक प्रक्रिया की भाँति युगनद्ध की भावना भी सहज-यान सम्प्रदाय में विद्यमान थी तथा प्रज्ञा एवं उपाय को युगनद्ध में परिणत कर बोधिचित्त को उसकी संवृत अवस्था से विवृत दशा में ले जाकर उस दशा को ही पारमार्थिक सत्य की स्थिति समझा गया और बोधिचित्त का यह पथ इड़ा अर्थात् वाम नाड़ी तथा पिंगला अर्थात् दक्षिण नाड़ी से न होकर मध्य नाड़ी अर्थात् सुषुम्ना से जाता है जिससे कि उसे मध्यमार्ग कहा जाता है। सिद्धों की यह साधना 'सहजमार्ग' के नाम से अभिहित की गई तथा उसका उजूवाट (ऋजुबाट) अर्थात् सरलमार्ग के रूप में चित्रण किया गया और उसे विशुद्ध सात्विक जीवन का मार्ग मानकर उसके द्वारा विश्वकल्याण तक की आशा की जाने लगी। इस प्रकार बौद्ध-धर्म जो कि सदाचरण की साधना के रूप में प्रारंभ हुआ था कालांतर में विभिन्न रूपों में परिवर्तित होता हुआ अंत में वज्रयानियों द्वारा विकृत एवं वीभत्स स्वरूप का हो गया। यद्यपि विक्रम की आठवीं शताब्दी में सहजयान सम्प्रदाय ने कतिपय सुधारों द्वारा उसका पुनरुद्धार करने की चेष्टा की थी और इस प्रकार के प्रयास चौदहवीं शताब्दी तक होते रहे लेकिन बौद्ध-धर्म शनैः शनैः भारत में पतनोन्मुख ही होता गया। कहा जाता है कि उस समय तक महायान के अंतर्गत 'काल-चक्रयान' नामक एक अन्य उपायान का भी प्रचलन हुआ जिसमें कि जो कुछ ब्रह्मांड में है वही समस्त पिंडों में भी है नामक सिद्धान्त के आधार पर शरीर को ही विशेष महत्त्व प्रदान कर उसकी शुद्धि तथा प्राण शुद्धि को चित्त से भी अधिक आवश्यक माना गया और 'कालचक्रानुयायियों' ने काल शब्द के

प्रथम वर्ण 'का' को उस कारण का प्रतीक माना जो कि सर्वकारण रहित तत्त्व में समाविष्ट है और 'ल' वर्ण को नित्य संसृति में सर्वदा के लिए सबके अंतर्मुक्त हो जानेवाली लय का प्रतीक माना तथा 'चक्र' शब्द का 'च' चलचित्त का द्योतक तथा 'क्र' उसके क्रम या विकास को पूर्ण विरोध करने की प्रेरक शक्ति माना गया और इस प्रकार इन चार वर्णों के आधार पर वज्रयोग की साधना को चार प्रकारों में विभाजित कर उसका उपदेश दिया जाता रहा तथा मुहूर्त, तिथि, नक्षत्रमण्डल आदि बातों को महत्त्व दे देने से उस पर ज्योतिष का भी प्रभाव पड़ा। लेकिन तत्कालीन भारत में दक्षिण से उद्भूत विभिन्न भक्ति आंदोलनों ने बौद्ध-धर्म को भारत से निर्वासित करने का बीड़ा सा उठा लिया था और कदाचित् इसीलिए आगे चलकर भारत में उसका शुद्ध रूप एक प्रकार से लुप्त सा हो गया।

जैसा कि डॉ० रामकुमार वर्मा का मत है—"हिन्दी कविता का आदि रूप नालन्दा और विक्रमशिला के इन सिद्धों द्वारा बौद्ध-धर्म के वज्रयान तत्त्व के प्रचार की भाषा में मिलता है।"[1] अतः हम संक्षेप में यदि सिद्ध-साहित्य के काव्यत्व पर प्रकाश डालें तो अनुपयुक्त न होगा। वस्तुतः चौरासी सिद्धों में कई ऐसे सिद्ध भी हैं जिन्होंने कि अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कविता द्वारा ही किया है तथा सरहपा (आठवीं शती), शबरपा (नवीं शती), भुसुकपा (नवीं शती), लुइपा (नवीं शती) विरुपा (नवीं शती), डोंबिपा (नवीं शती), दारिकपा (नवीं शती), गुंडरीपा (नवीं शती), कुकुरिपा (नवीं शती), कमरिपा (नवीं शती), कण्हपा (नवीं शती), गोरक्षपा (नवीं शती), तिलोपा (दसवीं शती) तथा शांतिपा (ग्यारहवीं शती) प्रभृति सिद्धों की कृतियाँ उपलब्ध भी हुई हैं और उनमें प्रधान रूप से नैरात्म्य भावना, कायायोग, सहज शून्य की साधना तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की समाधिजन्य दशाओं का ही चित्रण किया गया है। सहजयानी सिद्ध चाहे वज्रयान की परम्परा में ही आते हों, लेकिन उनके दृष्टिकोण में एक यह प्रमुख विशेषता थी कि वे शनैः शनैः ईश्वरवाद की ओर अग्रसर हो रहे थे तथा उन्होंने स्वाभाविक ही धर्म और आचार का प्रतिपादन भी किया था।

स्मरण रहे सिद्ध-साहित्य का विशेष अध्ययन करने की ओर सर्वप्रथम महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० शहीदुल्ला, डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची

---

1 हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ६५

तथा महापंडित राहुल सांकृत्यायन प्रभृति चार विद्वानों की ही दृष्टि गई तथा उन्होंने पर्याप्त परिश्रम कर उसकी बहुत सी सामग्री को प्रकाश में लाने का कष्ट किया और उसकी भाषा तथा काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट कर हिन्दी साहित्य के इतिहास के आदिकाल की रूपरेखा सुस्थिर करने में अपना महत्त्व-पूर्ण योग दिया। सर्वप्रथम पं० हरप्रसाद शास्त्री ने सरहपा और कृष्णाचार्यपा के दोहों का संग्रह 'बौद्ध गान ओ दोहा' के नाम से प्रकाशित करवाया लेकिन इस संग्रह में पाठ-अशुद्धियों की अधिकता के फलस्वरूप आगे चलकर डा० शहीदुल्ला ने उसके पाठ का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन करते हुए मूल प्रति को तिब्बती अनुवाद से मिलाकर 'ला चांट्स मिसनीक्स द कान्ह ऐंद सरह" नामक शुद्ध संकलन प्रकाशित करवाया जिसमें भाषा का शुद्ध रूप प्रस्तुत करने के साथ-साथ अर्थ-स्पष्टता पर भी ध्यान दिया गया। तदुपरान्त डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने राजगुरु हेमराज शर्मा के संग्रह तथा दरबार लाइब्रेरी के हस्तलिखित ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए तिल्लोपादस्य दोहा कोष, सरहपादीय दोहा, सरहपादस्य दोहा कोष, काण्ह पादस्य दोहाकोष, सरहपादीय दोहा संग्रह, संकीर्ण दोहा संग्रह को 'दोहाकोष' के नाम से प्रकाशित किया जिसमें पाठ्य सामग्री व्यवस्थित तथा टिप्पणी सहित है। आगे चलकर महा-पंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्यधारा' नामक एक उल्लेखनीय कृति प्रकाशित की जिसमें कि सिद्ध कवियों की रचनाओं का निकटतम हिन्दी रूपान्तर भी उन्होंने प्रस्तुत किया है। यद्यपि सिद्ध कवियों के साथ-साथ सांकृत्यायनजी ने आठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक के कुछ जैन तथा चारण कवियों की रचनाएँ भी 'हिन्दी काव्यधारा' में संगृहीत की हैं लेकिन प्रधानता उसमें सिद्ध कवियों की ही है। सिद्धों ने किसी सुसंस्कृत भाषा को व्यवहार में न लाकर सर्व सामान्य जनता की भाषा का ही उपयोग किया है तथा उनकी भाषा मागधी अपभ्रंश से निकली हुई अवधी है और मागधी से निःसृत होने के कारण डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य सरहपा को बंगला का प्रथम कवि मानते हैं परन्तु नालन्दा और विक्रमशिला दोनों ही स्थान बंगाल में नहीं हैं तथा वहाँ की भाषा भी स्पष्टतः बिहारी ही है अतः भट्टाचार्य का कथन भ्रांतिपूर्ण ही माना जाएगा। विद्वानों ने सिद्ध-साहित्य की भाषा को 'संध्या भाषा' के नाम से अभिहित किया है और इस नाम के विविध अर्थ स्पष्ट करने के प्रयास भी किए गए हैं। कुछ विद्वानों ने संध्या भाषा का अर्थ यह माना है कि वह एक ऐसी भाषा है जिसमें कि संध्या की भाँति आलोक

और अंधकार दोनों का मिश्रण हो अर्थात् जिसमें स्पष्टता और अस्पष्टता दोनों ही हों तथा जिसे स्पष्ट करने के हेतु ज्ञानरूपी शुभ्रालोक की आवश्यकता पड़ती हो। कुछ अन्य विद्वानों ने संध्या-भाषा को ऐसी भाषा माना है जो कि संधि-स्थल की हो अर्थात् दो भाषाओं की संधि में रहकर जो भाषा निर्मित हो उसे संध्या-भाषा माना गया और कदाचित् बंगाल तथा बिहार की सीमा पर निर्मित होने के कारण ही सिद्ध-साहित्य की भाषा को यह नाम दिया गया। साथ ही संध्या-भाषा से अभिसंधि, रहस्य या अभिप्राययुक्त वाणी का अर्थ भी लिया जाने लगा और कदाचित् वज्रयानी सिद्धांतों में संनिहित गूढ़ार्थ या व्यंजना-सम्पन्न भावों की स्पष्टता के हेतु ही इस भाषा का अवलम्ब लिया गया। पं० विधुशेखर शास्त्री मूल शब्द संध्या-भाषा न मानकर संधा भाषा मानते हैं और इस प्रकार संधा शब्द को संस्कृत संधास (अभिप्रेत) का अपभ्रंशरूप मानकर वे तो संध्या भाषा को अभिसंधि सहित या अभिप्राययुक्त भाषा ही मानते हैं। परन्तु सांध्य-भाषा के ये तीनों ही अर्थ बहुत से विद्वानों को मान्य नहीं हैं। प्रथम अर्थ में स्पष्टता और अस्पष्टता का विचार ही भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि सर्वसामान्य के व्यवहार में आते समय भाषा स्वाभाविक ही देशज शब्दों के मिश्रण से कभी-कभी कुछ न कुछ अस्पष्ट सी हो जाती है परन्तु इसके कारण अंधकार और आलोक के सम्मिश्रण का रूपक प्रस्तुत करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। द्वितीय अर्थ तो किसी भी भाँति उचित नहीं माना जा सकता क्योंकि बंगाल और बिहार की सीमा तो राजनैतिक सुविधाओं के हेतु आधुनिक काल में ही बनाई गई है तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "यह अनुमान स्पष्ट ही बेबुनियाद है क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बिहार और बंगाल के आधुनिक विभाग सदा से इसी भाँति चले आ रहे हैं।"[1] यद्यपि पं० विधुशेखर जी भट्टाचार्य ने प्रमाणों सहित यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वेदों तथा उपनिषदों में भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध हो सकते हैं जिनमें कि संध्या-भाषा का प्रयोग हुआ है तो भी हम संध्या-भाषा को 'अभिसंधि सहित' या 'अभिप्राय युक्त भाषा' की संज्ञा देना उचित नहीं समझते क्योंकि इससे हमारा बहुत सा हिन्दी-साहित्य जिसमें कि गूढ़ार्थ व्यंजनापूर्ण भावों की अधिकता है 'संध्या-भाषा' का ही समझा जाएगा। वस्तुतः डॉ० रामकुमार वर्मा ने जो संध्या भाषा का सीधासादा अर्थ "वह

१ दे० हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, (पृष्ठ ३४)

भाषा जो अपभ्रंश के संध्याकाल या समाप्त होनेवाले काल में लिखी गई"[1] माना है, पूर्णतः उचित और युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वस्तुतः सिद्ध-साहित्य का सृजन अपभ्रंश की अंतिम अवस्था में ही हुआ था और इस प्रकार सिध्दों की काव्यभाषा अपभ्रंश की समाप्ति के अवसर पर सर्वसामान्य की भाषा के निर्माण में सहायक हुई तथा चूँकि हम संध्या से अर्थ किसी स्थिति के अंतिमकाल से ले सकते हैं अतः हमें संध्या-भाषा का यह साधारण अर्थ ग्रहण करने में आपत्ति न होनी चाहिए और फिर सहजयान संप्रदाय के विचारों को ध्यान में रखते हुए तो हमें 'सहजतम' अर्थ ग्रहण करना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। साथ ही सिद्ध काव्य में शृंगार और शांत नामक दोनों रसों का संनिवेश भी कुशलता से हो सका है। चूँकि सदाचार और मध्यमार्ग का अनुसरण करते हुए रूढ़ियों का खंडन कर सिध्दों ने 'महासुख' की प्राप्ति को आवश्यक समझा है अतः उनकी सूक्तियों में शांति और आनन्द की भावना स्वाभाविक ही है लेकिन उनका शांतरस निराशावाद की कोटि में नहीं आता और न वे जगत की नश्वरता या दुःख को देखकर संसार त्याग की राय ही देते हैं अपितु स्वाभाविक ही विश्व को ग्रहण करते हुए उसके उपयोग की शिक्षा प्रदान करते हैं। वस्तुतः सिध्दों की कविता का प्रमुख गुण निराशावाद के अंदर आशावाद की झलक दिखाकर मनुष्य को जीवन की भयानक वास्तविकता रूपी वन्हि से मुक्त कराकर 'महासुख' के सुखद शीतल सरोवर में स्नान कराना ही था। शृंगार रस की अभिव्यक्ति करते समय कहीं-कहीं अश्लीलता की भी झलक दृष्टिगोचर होती है परन्तु इसका मूल कारण वज्रयानी प्रभाव ही है।[2] हो सकता है कि काव्यगत विशिष्टताओं की पूर्णता सिध्द-साहित्य में न दृष्टिगोचर होती हो और रसपरिपाक का भी उसमें अभाव ही हो परन्तु सिध्दों ने जिस अलौकिक आनंद तथा आत्मसंतोष की निर्झरिणी को प्रवाहित किया है उसमें अलौकिक रस की वीचियाँ लहरा रही हैं और जिन्हें देखते हुए काव्य लक्षणों का अभाव तनिक भी नहीं खटकता। यद्यपि सिद्ध-साहित्य ने हिन्दी गीतिकाव्य को ही

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डॉ०—रामकुमार वर्मा (पृष्ठ ६७)

२ गुंडरीपा नामक सिद्ध का एक उदाहरण देखिए—

तिअड्डा चापी जोइनि दे अँकवाली।
कमल कुलिश घाण्ट करहुँ विआली॥
जोइनि तइँ बिनु खनहिं न जीवमि।
तो मुँह चुम्बी कमल रस पीवमि॥

विशेषरूप से अलंकृत किया है क्योंकि सर्व सामान्य जनता को आकर्षित करने के हेतु छोटे-छोटे पद विशेष प्रभावशाली होते हैं और चूँकि सिद्धों में संगीत-साधना के प्रति अभिरुचि भी थी तथा वीणापा नामक एक सिद्ध के विषय में तो यहाँ तक कहा जाता है कि वे वीणावादन करते हुए ही अपने पदों का गान करते थे और इस प्रकार सिद्धों के गीतों में राग-रागनियों की संयोजना स्वाभाविक ही प्रतीत होती है लेकिन साथ ही सिद्ध-साहित्य में दोहा-चौपाईवाली शैली भी प्रयुक्त हुई है और कहीं-कहीं सोरठा तथा छप्पय भी विद्यमान हैं।[1] सिद्धान्त-प्रतिपादन के हेतु तो दोहे की ही विशेष रूप से सहायता ली गई है। स्मरण रहे कुछ समीक्षकों ने दोहा चौपाईवाली शैली में प्रबंध-काव्य सृजन की परम्परा का प्रारम्भकर्ता सूफी कवियों को माना है परन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस तथ्य से किसी भी भाँति सहमत नहीं हैं क्योंकि सरहपा तथा कृष्णचार्य के ग्रंथों में दो-दो चार-चार चौपाइयों के पश्चात् दोहा लिखने की प्रथा दृष्टिगोचर होती है और अपभ्रंश-साहित्य में भी दस-दस बारह-बारह चौपाइयों के बाद छत्ता, उल्लाला आदि लिखकर प्रबंधकाव्य लिखने की परम्परा देख पड़ती है।[2] अतएव-छंद साधना की दृष्टि से भी सिद्ध साहित्य का विशेष महत्त्व है। इस प्रकार हिंदी साहित्य में सिद्धों की कृतियों का न केवल धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा की दृष्टि से महत्त्व है क्योंकि सिद्ध-साहित्य ने ही धार्मिक विकास की शृंखला को सुदृढ़तम करते हुए आगे चलकर नाथ सम्प्रदाय और संत सम्प्रदाय द्वारा भक्तिकालीन काव्यधारा को उत्तरोत्तर विकसित किया है अपितु हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक रूप की सामग्री को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करने के कारण भी उसका महत्त्व बहुत अधिक है। सिद्ध-साहित्य की भाषा ने भाषाविज्ञान विशारदों को तत्कालीन अन्य साहित्यिक और धार्मिक केन्द्रों की जनभाषा का अनुशीलन करने की प्रेरणा दी है तथा साथ ही उसमें रहस्यवाद के बीज भी विद्यमान हैं जिसके फलस्वरूप आगे चलकर रहस्यवाद नामक एक वाद ही विकसित हुआ।

---

१ सरहपाद की कृतियों से दोहे चौपाईवाली शैली का एक उदाहरण देखिए—

अइसें विसन संबि को पइसइ। जो जइ अत्थि पाउ जाव न दीसई।
पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ। दहीइ बुद्ध वसंत ण जाणइ॥
अमणागमण ण तेन् बिखण्डिअ। तो वि गिलज्जइ भणइ हउ पण्डिआ।
जीवंतह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उवएसें बिमलमइ, सो पर धण्णा कोइ॥

२ दे० हिन्दी साहित्य की भूमिका—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

भारतीय भक्ति-आन्दोलन और जैन-धर्म

वस्तुत: भारतीय भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित करने में बौद्ध-धर्म की भाँति जैन-धर्म का भी अपना विशिष्ट स्थान है और यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि जैन धर्मावलम्बी तो अपने धर्म को वैदिक धर्म की ही भाँति प्राचीन समझते हैं और जैन पुराणों के अनुसार मनुष्य को विश्व का सर्वप्रथम ज्ञान चौदह कुलकरों द्वारा ही हुआ जिनमें से प्रथम कुलकर का नाम 'प्रतिश्रुति' है जिन्होंने कि मनुष्य को सूर्यचन्द्र का ज्ञान प्रदान किया। स्मरण रहे कि जैन-धर्म के अनुसार प्रत्येक कल्पकाल के जो कि विश्व के क्रमिक विकास तथा क्रमिक ह्रास का मापदंड होता है, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दो विभागों में चौबीस-चौबीस महापुरुष समय-समय पर जन्म लेते हैं जिन्हें कि तीर्थंकर कहा जाता है। जैनधर्म का प्रथम प्रवर्तक श्री ऋषभदेव को माना जाता है और कहा जाता है कि उन्हीं के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है; लेकिन इस दिशा में पुष्ट प्रमाणों का अभाव सा है। पुराणों में ऋषभदेव को विष्णु का आठवाँ अवतार माना गया है तथा श्रीमद्भागवत में भी उनका सुन्दर चित्रण करते हुए ऋषभदेव के उपदेशों द्वारा ही जैन-धर्म की उत्पत्ति मानी गई है[1] तथा ऋषभदेव से जैन-धर्म का संबंध स्थापित करनेवाले शिला-लेखों का भी अभाव नहीं है।[2] साथ ही मोहिंजेदड़ों की खुदाई में भी बहुत सी ऐसी मुहरें प्राप्त हुई हैं जिनमें कि ध्यानावस्था की खड्गासन प्रतिमाएँ हैं तथा वृषभ का चित्र भी है जो कि ऋषभदेव से संबंध रखता है और यह भी कहा जाता है कि खड्गासन का वर्णन विशेषरूप से केवल जैन शास्त्रों में ही उपलब्ध होता है तथा रावबहादुर प्रो० चन्दा ने भी माडर्नरिव्यू (अगस्त-१९३२) के एक निबंध में इसे जैनों का ही माना है। ऋषभदेव ने जन-

---

१ देखिए—श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध, अध्याय ३, श्लोक १३। स्कन्ध २, अध्याय ७, श्लोक ८०। स्कन्ध ५, अध्याय ३, श्लोक २०। इत्यादि।

२ देखिए—'एपीग्राफिया इंडिका' पहली जिल्द, पृष्ठ ३८६। दूसरी जिल्द पृष्ठ २७६-२७७। 'हाथीगुफा'' नामक लेख, पंक्ति बारहवीं, बिहार उड़ीसा जर्नल, जि० ४ भाग ४।

साधारण को 'असि, मसि और कृषि' का उपदेश देते हुए अपनी ज्येष्ठ सुता 'ब्राह्मी' के हेतु लेखनकला तथा लिपि निर्धारित की जिसके फलस्वरूप उस लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि पड़ा। ऋषभदेव के पश्चात् तेईस अन्य तीर्थंकर भी हुए हैं जिनमें से बाइसवें नेमिनाथ हैं जिन्होंने ऋषभदेव द्वारा संस्थापित जैन-धर्म को गतिशील किया है तथा तेइसवें श्री पार्श्वनाथ हैं जिनके समय का समर्थन ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा भी सिद्ध हो जाता है। जैन-धर्म के अंतिम चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर हैं जिन्होंने जैन-धर्म को अत्यंत व्यवस्थित रूप प्रदान कर उसका संगठन किया और वस्तुतः उन्हीं के समय से ही जैन-धर्म का शृंखलाबद्ध इतिहास भी प्राप्त होता है। वर्द्धमान महावीर का जन्म कुंडग्राम (वैशाली) में हुआ था तथा क्षत्रिय होते हुए भी उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति सन्यास की ओर थी और अपनी तीस वर्ष की आयु में पिता सिद्धार्थ तथा माता त्रिशला की मृत्यु के उपरान्त अपनी नवजात कन्या प्रियदर्शना के उत्पन्न होने के अनन्तर उन्होंने अपने भ्राता को कौटुम्बिक भार सौंपकर सन्यास ग्रहण किया तथा बारह वर्षों तक कठोर तपस्या करने के पश्चात् उन्हें श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति हुई और तीस वर्ष तक जैन-धर्म का प्रचार करने के उपरान्त उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ। वर्द्धमान महावीर का निर्वाणकाल पावापुरी (पटना) में ईस्वी पूर्व ५२७ माना जाता है।

वस्तुतः जैन-धर्म बौद्ध-धर्म से न केवल अधिक प्राचीन है तथा कई ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं जिनसे स्पष्ट है कि महावीर के शिष्यों ने गौतम बुद्ध से शास्त्रार्थ भी किया था और यह तो हम पहले ही लिख चुके हैं कि महावीर के सन्यास ग्रहण के पूर्व ही जैन-धर्म प्रचलित था तथा प्रो० कर्न तो यहाँ तक कह देते हैं कि जहाँ तक अहिंसा के सिद्धान्त का प्रश्न है, बौद्धों के सिद्धान्तों की अपेक्षा जैन-धर्म के सिद्धान्तों से अशोक के नियमों में अधिक साम्यता देख पड़ती है।[1] साथ ही वह बौद्ध-धर्म की अपेक्षा हिन्दूधर्म के अधिक समीप भी है क्योंकि उसमें परमात्मा की स्थिति को स्वीकार कर उसे सृष्टि का नियन्ता न मानकर चित्त और आनन्द का स्रोत माना गया है तथा उसे जगत् से परे समझ संसार चक्र से उसका कोई संबंध न चिन्तित कर उसे एक सम्पूर्ण विशुद्ध एवं परम आत्मा माना गया है और साधना द्वारा प्रत्येक जीव में परमात्मा बनने की क्षमता स्वीकार की गई है। इस प्रकार वैदिक धर्म की भाँति

---

१. 'इंडिया एंटीकरी', भाग ५, पृष्ठ २०५

विशुद्ध चैतन्य और आनन्दमय परमात्मा का रूप स्वीकार करते हुए भी उसे शक्ति सम्पन्नता और प्रभुत्व से रहित ही समझा गया। चूँकि कर्मानुसार ही प्रत्येक व्यक्ति को फल प्राप्ति होती है तथा मनसा, वाचा एवं कर्मणा किसी प्राणी को दुःख न देना, संयमशील जीवन व्यतीत करना, सदाचार का पालन करना, बिना अधिकार और अनुमति के अन्य वस्तु को अंगीकार न करना, दान न लेना तथा विषयवासना से चित्त को मोड़ व्रत उपवास करना प्रत्येक का धर्म माना गया तथा आवरण का पूर्णतः क्षय होने के लिए सम्यग् दर्शन जिससे कि जीवोक्त तत्वों में पूर्ण रुचि हो सके, सम्यग् ज्ञान जिससे कि संपूर्ण वस्तुस्थिति का असंदिग्ध ज्ञान हो और सम्यग् चरित्र को जिससे कि निंद्यनीय भोगों का सर्वथा परित्याग होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक पाँच महाव्रतों का पालन किया जा सके, आवश्यक समझे गए। वस्तुतः जैन शब्द 'जिन' से बना है और उसका अर्थ विजय प्राप्त करनेवाला माना जाता है तथा इस प्रकार विश्व के समस्त आकर्षणों पर जो विजय प्राप्त कर सके उसे जैन कहा जाने लगा। साथ ही जैन धर्मानुयायियों को 'निर्ग्रन्थ' भी कहा जाता है जिसका कि अर्थ 'बंधनों से रहित' होता है। स्मरण रहे देहली में सम्राट अशोक का जो स्तम्भ उपलब्ध हुआ है उसकी आठवीं प्रशस्ति में 'निगन्थ' अर्थात् निर्ग्रन्थ का उल्लेख है और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार अशोक ने अन्य धर्मों के प्रचारार्थ 'धर्म महामालों' की नियुक्ति की थी उसी प्रकार 'निगन्थ' पंथ के लिए भी व्यवस्था की थी।

वस्तुतः 'जैन-धर्म' में धर्म निश्चय धर्म तथा व्यवहार धर्म नामक दो रूपों में विभाजित है और जहाँ कि 'निश्चयधर्म' जो कि साध्य है तथा जिसमें कि लक्ष्य अर्थात् शुद्ध आत्मा के स्वरूप का चित्रण किया गया है वहाँ 'व्यवहार धर्म' जो कि साधक है उस लक्ष्य तक पहुँचने का वास्तविक मार्ग दिखलाता है अतएव इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों का परस्पर संबंध है क्योंकि निश्चय के अभाव में व्यवहार धर्म का पालन नहीं हो सकता तथा व्यवहार धर्म का पालन किए बिना निश्चय प्राप्ति भी असंभव ही है। स्मरण रहे कि जैनाचार्यों ने ज्ञान और चरित्र दोनों को समान महत्त्व दिया है और वे आचरणहीन ज्ञान तथा ज्ञानहीन आचार दोनों को व्यर्थ समझते थे। अतएव निश्चय धर्म वस्तु के स्वाभाविक स्वरूप को चित्रित करता है और वह आत्मा की नित्यता, निर्मलता तथा ज्ञानमयता को अंकित करता है तथा अन्य पदार्थों को अनित्य एवम् कर्मजन्य मानता है—

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा ।
विनिर्मलः साधि गमस्वभावः ॥
बहिर्भवाः सन्त्यप रे समस्ता ।
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥

(अमित गति—२६)

साथ ही और भी—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः ।
गुणपर्याय समवेतः समाहितः समुदायव्ययध्रौव्यैः ॥
परिणाममानां नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च ॥

(पुरुषार्थ सिद्धउपाय—९-१०)

जैन-धर्म में सृष्टि को अनादि माना गया है तथा कर्मफल के किसी प्रदाता में विश्वास न किए जाने के कारण वह निरीश्वरवाद का प्रचारक ही है लेकिन जैनियों ने अपने तीर्थंकरों को देवतुल्य अलौकिक व्यक्ति माना है और इस प्रकार मूर्तिपूजन का विधान उनके यहाँ प्रारम्भ हो गया। प्रतिमा-पूजन का उद्देश्य स्वामी समन्तभद्र ने इस प्रकार माना है:—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे,
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि तव पुण्यगुणस्मृतिर्नः
पुनातु चित्तं दुरितान्जनेभ्यः ॥

(बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, ५७)

अर्थात् हे नाथ; तुम वीतराग और वीतद्वेष हो अतएव न तुम्हें पूजक से अनुराग और न निन्दक से द्वेष लेकिन फिर भी आपके पुण्य गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पापकालिमा के स्पर्श से बचाता है ।

वस्तुतः जैनधर्म में ईश्वर विषयक जो भावना है उस पर भी विचार करना आवश्यक है। कहा जाता है कि हिन्दूधर्म में जब बहुदेववाद का प्रचार हो रहा था और किसी एक सर्व शक्तिमान ईश्वर की कल्पना करने में वह असमर्थ ही रहा उसी समय जैन-धर्म के सिद्धान्तों का निर्माण हुआ होगा।

साथ ही कुछ लोगों का अनुमान है कि जीव को जगत में ऊँची से ऊँची सिद्धि प्राप्ति की क्षमता लाने के उद्देश्य से ही जैनियों ने महान आशावाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है तथा यह भी विचार है कि हो सकता है हिन्दू धर्म के ब्रह्मविषयक सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही जैन-धर्म का उद्भव हुआ हो। परन्तु यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि जैनियों ने विश्व के चेतन रूपों के प्रति जितनी श्रद्धा प्रदर्शित की है उतनी दार्शनिकता की ओर रुचि नहीं दिखाई और जड़ पदार्थों में भी वे आत्मा की स्थिति स्वीकार करते थे अतएव उन्होंने जीव को अपने भाग्य का स्वयं निर्माता और निजी कर्मों का उत्तरदायी माना है जिसके कारण उसे सुख-दुख सहन करना पड़ता है। जैन-धर्म में यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि जीव यदि चाहे तो निजी पुरुषार्थ तथा कार्य कुशलता से अपने शुभकर्मों का निर्माण कर स्वयं ही परमात्मा बन सकता है। इस प्रकार उन्होंने परमात्मा को केवल शुद्ध आत्मा मानते हुए कर्म विषयक सफलता या असफलता से जीव का कोई संबंध स्वीकार न कर उसे विशुद्धता का एक आदर्श तथा प्रतीक मानकर जैन-धर्म को ब्रह्म की कल्पना से दूर रखते हुए जीवन की परिस्थितियों में कर्मों का परिष्कार कर साधना के उच्चतम सोपान तक चढ़ने की प्रेरणा दी। वस्तुतः जिस प्रकार कर्मों से जीव शासित है उसी प्रकार जगत भी प्राकृतिक शक्तियों के सहारे ही चल रहा है तथा किसी ब्रह्म या परमात्मा ने उसका निर्माण नहीं किया है। अनुमान और कल्पना की अपेक्षा जीवनगत सत्यता को मान्यता देते हुए जैन-धर्म में जीवन के प्रति चरम श्रद्धा का विकास हुआ है तथा आचार की सुदृढ़ता के साथ-साथ सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों के प्रति दयार्द्रता और करुणा की भावना भी आवश्यक मानी गई है तथा आचरण-संबंधी विभिन्न मान्यताओं के कारण उसमें अहिंसा का सिद्धान्त ही परमोधर्म माना गया और अहिंसा द्वारा ही जैन-धर्म में त्याग भावना भी उत्पन्न हुई तथा न केवल इन्द्रियानुशासन में अपितु कष्ट-सहन में. हमें उसकी झलक दृष्टिगोचर होने लगी और सुस्वादु भोजन, सुविधाजनक वस्तुओं तथा वस्त्रों तक का परित्याग करने के साथ-साथ शारीरिक कष्ट सहन की सक्षमता दिखाने के हेतु उपवास भी साधना का प्रमुख अंग बन गया।

वस्तुतः मौर्यकाल में जब जैन-धर्म में भद्रबाहु तथा स्थूलभद्र नामक दो प्रसिद्ध आचार्य हुए तो उसमें भिन्न-भिन्न दो संप्रदायों की भी सृष्टि हुई और इस प्रकार भद्रबाहु ने दिगम्बर सम्प्रदाय जिसमें कि तीर्थंकरों की वस्त्रविहीन

प्रतिमा का पूजन किया जाता है और दिगम्बर साधु भी वस्त्रों का परित्याग कर देते हैं तथा स्थूलभद्र ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय जिसमें कि तीर्थंकरों की प्रतिमाओं को वस्त्रों से सुसज्जित कर पुष्प और धूप से पूजा जाता है तथा साधु भी श्वेतवस्त्र धारण करते हैं नामक दो सम्प्रदाय निर्मित किए। दिगम्बर सम्प्रदायियों का मत था कि जब तीर्थंकर वीतराग थे तब उन्हें सामाजिक नियमों से वस्त्राभूषणों की आवश्यकता ही क्या थी और इस प्रकार उन्होंने त्याग, संयम तथा कष्ट-सहन को ही विशेष महत्त्व दिया। श्वेताम्बर सम्प्रदायी जैन-धर्म के प्राचीन ग्रंथ 'अंगों' के प्रति विशिष्ट श्रद्धा दिखाते हैं लेकिन दिगम्बर सम्प्रदायवाले अपने चौबीस पुराणों में कथित धर्म को ही महत्त्व देते हैं तथा वे स्त्री का मोक्ष होना स्वीकार नहीं करते जब कि श्वेताम्बर स्त्री का मोक्ष होना स्वीकार करते हैं। वस्तुतः श्वेताम्बर की अपेक्षा दिगम्बर सम्प्रदाय का ही अधिक प्रचार हुआ तथा साथ ही इन दोनों सम्प्रदायों के अतिरिक्त 'यापनीय संघ' नामक एक अन्य संप्रदाय और भी है जिसे कि हम इन दोनों का मिलनबिंदु कह सकते हैं क्योंकि वे मूर्तियाँ तो वस्त्ररहित ही पूजते हैं परंतु उनकी साधना-पद्धति श्वेताम्बर सम्प्रदाय की सी है। स्मरण रहे कि बौद्ध-धर्म की भाँति जैन-धर्म का भी प्राचीन प्रमुख ध्येय स्थिर न रह सका और विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी में तो तत्कालीन हिन्दू एवं बौद्ध धर्म की प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर उसमें विविध बाह्याचारों का समावेश भी हुआ यद्यपि इसी बीच कुछ ऐसे जैन धर्मानुयायी भी हुए जिनमें सुधार की प्रवृत्ति विद्यमान थी और जिन्होंने लोकभाषा को माध्यम बनाकर समाज में प्रचलित अनेकानेक दुर्गुणों की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट करते हुए उनको दूर करने का प्रयास भी किया। वि. सं० ९९० के लगभग देवसेन नामक जैन साधु का अपने सहधर्मियों को सदाचार का उपदेश देकर उसके विविध अंगों के महत्त्व एवं उपयोगिता पर प्रकाश डालना वस्तुतः उपर्युक्त उद्देश्य को पूर्ण करना ही था। आगे चलकर विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में मुनिराम सिंह नामक एक अन्य जैन साधु ने प्रचलित पाखंडादि का खंडन करते हुए तर्कपटु और आडम्बरपूर्ण पंडितों, सन्यासियों तथा अन्य बाह्याचारों का खंडन किया और मंत्र-तंत्र, ध्येय, धारण तथा उच्छ्वास को न धारण करने पर ही मुनियों को परमसुख प्राप्त करने योग्य समझा। उन्होंने चित्त को निरंजन में लगाना आवश्यक समझा जिसने कि मोक्ष के कारणों का अनुभव किया है और साथ ही उनकी दृष्टि में इंद्रियसुख तथा मोक्ष दोनों ही एक साथ नहीं हो सकते। ज्ञानमयी आत्मा

को ही सर्वस्व मानते हुए शुद्ध स्वभाव का ध्यान करने की प्रेरणा देते हुए अन्य समस्त बातों को वे पराये भाव की ही संज्ञा देते हैं। उनके पूर्ववर्ती एक जोगी इन्द्र ने भी उसे परमात्मा माना है जिसके अन्दर सारा विश्व है तथा जो जगत् के भीतर रहने पर भी उससे निर्लिप्त रहता है। इस प्रकार जिसके हृदय में निर्मल एवं शुद्ध स्वरूपीय ज्ञानमयी आत्मा की अनुभूति हो सके उसमें त्रिभुवन में स्वतन्त्र विचरण करने की क्षमता स्वीकार की गई और यह भी माना गया कि किसी भी प्रकार के पापादि उसे भयभीत नहीं कर सकते और न उसके लिए किसी भी प्रकार की उपासना ही अपेक्षित है और न किसी प्रकार के विधिनिषेध की आवश्यकता ही है। इस प्रकार बौद्धमत व जैन-धर्म दोनों ही सद्व्यवहार व सदाचार के परिपोषक थे तथा प्रथम का लक्ष्य जहाँ कि चित्तशुद्धि द्वारा सहजावस्था की उपलब्धि कर विश्वकल्याण के भावों में मग्न होना था वहाँ द्वितीय ज्ञान द्वारा शुद्ध स्वभाव की पूर्णानुभूति कर उसी के आधार पर परमात्मा की कोटि तक पहुँचना चाहता था परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव से दोनों में एक ही समय में भिन्न-भिन्न बातें समाविष्ट हुईं। इधर भक्तिक्षेत्र में बौद्धों का अनुसरण करते हुए भी ईश्वरवादी नाथ-सम्प्रदाय नामक योगियों का एक नया पंथ भी शनैः शनैः प्रगति कर रहा था जिसने कि आगे चलकर भक्तिकालीन काव्यधारा में निर्गुण धारा को विकसित होने में सहायता दी।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जैन भिक्षुओं तथा जैन उपासकों के आचरण सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से 'आचारांग सूत्र' तथा 'उपासक दशासूत्र' नामक धर्मग्रन्थों का प्रणयन हुआ। वस्तुतः सन् ४५४ ई० में देवर्धिगणि द्वारा गुजरात में प्राकृतभाषा में जैन-धर्म के ग्रंथों का आलेखन हुआ था तथा आगे चलकर अपभ्रंश में भी जैन-धर्म की कृतियाँ प्रस्तुत की गईं परन्तु जब अपभ्रंश में आधुनिक भाषाओं के चिन्ह स्पष्ट होने लगे तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय का साहित्य विशेष रूप से गुजराती में और दिगम्बर सम्प्रदाय का हिन्दी में लिखा गया तथा हो सकता है कि श्वेताम्बरों ने भी हिन्दी में अपनी कृतियाँ प्रस्तुत की हों परन्तु अभी तक ऐसी कोई भी कृति उपलब्ध नहीं हुई है। स्मरण रहे कि हिन्दी साहित्य के उद्भव और विकास में जैन-धर्म का भी महत्त्वपूर्ण योग रहा है तथा स्वयंभूदेव, आचार्य देवसेन, महाकवि पुष्पदन्त, धनपाल, मुनि रामसिंह, अभयदेव सूरि, चन्द्रमुनि, कनकामर मुनि, जिनवल्लभ सूरि, जिनदत्त सूरि, योगचन्द्र मुनि, हेमचन्द्र सूरि,

हरिभद्र सूरि, शालिभद्र सूरि, सोमप्रभ सूरि, तिनपद्म सूरि, विनयचन्द्र सूरि, विजयभद्र, दयासागर सूरि आदि ने अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा हिन्दी की उल्लेखनीय सेवा भी की है। चूँकि जैन साहित्य का रचनाक्षेत्र समस्त जीवन में परिव्याप्त है अत: न केवल उसमें भावों की व्यापकता विद्यमान है अपितु शैली की उत्कृष्टता भी है तथा उसके लौकिक पक्ष और अलौकिक पक्ष दोनों में ही अमित साधना तथा अंतदृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। तीर्थंकरों और श्रावकों की जीवनियों तथा चित्रण के साथ-साथ जगत के सांसारिक वर्णनों की ओर भी जैन आचार्यों और कवियों की दृष्टि गई है। यद्यपि जैन साहित्य की प्रेम कथाओं में भौतिक उत्कर्ष की पूर्णता सी है पर साथ ही नश्वरता की भावना को चित्रित कर अलौकिक पक्ष या आध्यात्मिक पक्ष की ओर भी संकेत किया गया है। जैन साहित्य में यद्यपि कहीं-कहीं कथानकों में श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति भी हुई है परन्तु अधिकता शांत रस की ही है। साथ ही छन्द-साधना की दृष्टि से चरित्र, रास, चतुष्पदी, चौढ़ालिया, ढाल, सिज्झाय, कवित्त, छन्द, दोहा और रड्डा का प्रयोग भी सफलता के साथ हुआ है। स्मरण रहे अपभ्रंश और प्राकृत में पटुता के साथ ग्रन्थ प्रणयन करते हुए जैनियों ने गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलगू, तमिल और कनाडी साहित्य में भी बहुत सी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार भारतीय साहित्य में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मत्स्येन्द्रनाथ और उनकी साधना-पद्धति

स्मरण रहे कि भारतीय भक्ति-साधना के विकास में जिन विभिन्न प्राचीन पंथ एवम् सम्प्रदायों ने अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया है उनमें नाथ सम्प्रदाय का अपना विशेष महत्त्व है। वस्तुत: बौद्धों के महायान, हीनयान, वज्रयान सम्प्रदायों तथा सिद्ध-सम्प्रदाय की भाँति नाथ-पंथ नामक एक और सम्प्रदाय बहुत दिनों से प्रचलित था जिसका कि उद्‌गम वेदों से माना जाता है। कतिपय विद्वानों ने तो नाथ-पंथ का बौद्ध-धर्म से सम्पर्क स्थापित करते हुए मंत्रयान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान, और सहजयान से नाथ-पंथ की विकासोन्मुख परम्परा का चित्रण कर उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न करते हुए उसे सहजयान सम्प्रदाय का विकसित और शक्तिशाली रूप माना है लेकिन वास्तव में वह एक सर्वदा स्वतन्त्र मत ही है तथा जैसा कि श्री पूर्णगिरि गोस्वामी ने सरस्वती भाग ४७, खंड १, संख्या २ में प्रकाशित अपने निबन्ध 'नाथ सम्प्रदाय' में लिखा है "यदि नाथ लोग सिद्धों के दिखाए गए मार्ग को ही अपना साधन चुन लेते तो उनको कोई भी महत्त्व न मिलता।"

वस्तुत: नाथ सम्प्रदाय के प्रारम्भिक इतिहास का हमें कुछ भी पता स्पष्ट रूप से नहीं चलता; हाँ 'हठयोग प्रदीपिका' के प्रारम्भ में आदिनाथ, मत्स्येन्द्र-नाथ, सारदानन्द, भैरव, चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरुपाक्ष, विलेशय, संथानभैरव, सिद्धबोध, कन्हड़ीनाथ, कोरटंकनाथ, सुरानन्द, सिद्धपाद, चर्पटी-नाथ, कणेरीनाथ, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजननाथ, कापालिकनाथ, विन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, मयनाथ, अक्षयनाथ, प्रभुदेव, घोड़ा चूलीनाथ, टिण्ढिणीनाथ, भल्लारीनाथ, नागबोध और खंड कापालिका नामक कुछ सिद्धों के नाम अवश्य दिए गए हैं जिनके विषय में कहा जाता है कि वे आज भी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ब्रह्मांड में विचरण कर रहे हैं। यह तो परम्परा से प्रसिद्ध है कि प्रारम्भ में नव मूल नाथ हुए हैं परन्तु अभी तक कोई भी इस सर्वसम्मत निर्णय तक नहीं पहुँच सका कि वस्तुत: वे नव नाथ कौन से थे। 'महावर्ण तंत्र' के आधार पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गोरक्षनाथ, जालंधरनाथ, नागार्जुन,

सहस्लार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जड़भरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ नामक नव नाथ माने हैं लेकिन 'योगि सम्प्रदाय विष्कृति' में नव नारायणों के नव नाथों के रूप में अवतरित होने की कथा दी गई है परन्तु उसमें स्पष्टता नहीं है। इसी प्रकार 'सुधाकर चन्द्रिका' में एक नाथ, आदि नाथ, मत्स्येन्द्र नाथ, उदयनाथ, दंडनाथ, सत्यनाथ, संतोषनाथ, कूर्मनाथ और जालंधरनाथ नामक नव नाथ माने गए हैं। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि मराठी के प्रसिद्ध संत कवि ज्ञानेश्वर ने अपनी प्रसिद्ध कृति "ज्ञानेश्वरी" में लिखा है कि—

क्षीरसिंधु परिसरीं। शक्तीच्या कर्णकुहरीं।
नेणों के श्रीत्रिपुरारी सांगितलें जें॥
तें क्षीर कल्लोळआंत। मकरोदरीं गुप्त।
होत तयाचा हात। पैठे झालें॥
तो मत्स्येन्द्र सप्तश्रृंगी। भग्नावयवा चौरंगी॥
भेटला कीं तो सर्वांगीं। संपूर्ण जाला॥
मग समाधी अव्यत्यया। भोगावी वासना या॥
ते मुद्रा श्री गोरक्षराया। दिधली मीनीं॥
तेणें योगा बिजनी सरोवर। विषय विध्वंसैकवीर॥
तिये पदीं कां सर्वेश्वर। अभिषेकिले॥
मग तिहीं ते शांभव। अद्व्यानंदवैभव॥
संपादिलें सप्रभव। श्रीगैणीनाथा॥
तेणें कळिकळित भूतां। आला देखोनि निरुता।
ते आज्ञा श्री निवृत्तिनाथा। दिधली ऐसी॥
"ना आदि गुरु शंकरा—। लागोनि शिष्य परंपरा।
बोधाचा हा संसरा। जाला जो आमुतें॥
तो हा तूं घेऊनि आघवा। कळीं गिळितयां जीवां॥
सर्वप्रकारीं धांवा। करी पा वेगीं॥"
अधींच तंव तो कृपालु। वरि गुरु आज्ञेचा बोलु।
जाला जैसा वर्षा काळु। खळणें मेघां॥
मग आर्तांचेति वौरसें गीतार्थग्रथनमिसें।
वर्षला शांतरसें। तो हा ग्रंथ॥

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट हो जाता है कि क्षीरसागर के तट पर पार्वती जी के कर्णकुहरों में जिस ज्ञान का उपदेश शंकर जी ने दिया था वह उस

समय क्षीरसिंधु में रहने वाले एक मत्स्य के उदर में गुप्त रूप से वास करने वाले मत्स्येन्द्रनाथ को प्राप्त हुआ और मत्स्येन्द्र के दर्शनों से सप्तश्रृंग पर्वत पर अंग भंग चौरंगीनाथ पूर्णत: चंगे हो गए तथा सर्वांगी बन गए। विषयोपभोग की गंध तक न जहाँ पहुँच सके इस प्रकार की अविचल समाधि लगाने की योग-विद्या मत्स्येन्द्र ने गोरखनाथ को दी और फिर गोरखनाथ 'योग कमलिनी सर' तथा 'विषय विध्वंसक वीर' बनकर योगीश्वर कहलाए तथा उनके शिष्य गैनीनाथ, गैनीनाथ के शिष्य निवृत्तिनाथ और निवृत्तिनाथ के शिष्य स्वयं ज्ञानेश्वर हुए जिन्होंने कि महाराष्ट्र में प्रसिद्ध वारकरी सम्प्रदाय की स्थापना की। इस प्रकार हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चूँकि नाथ सम्प्रदाय के सर्वप्रथम आचार्य आदिनाथ को भगवान शंकर ही मान लिया गया है अतएव मानव गुरुओं में मत्स्येन्द्रनाथ को ही नाथ-पंथ का सर्वप्रथम आचार्य स्वीकार करना होगा। स्मरण रहे कि नेपाल में तो मत्स्येन्द्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार भी माना गया है तथा काश्मीर के शैवागम सम्प्रदाय में भी उनका नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है और वे गोरखनाथ के गुरु के रूप में न केवल साम्प्रदायिक ग्रंथों में अपितु सहस्रों दंतकथाओं में भी प्रसिद्ध हैं।

यद्यपि मत्स्येन्द्रनाथ नाम ही शुद्ध और वास्तविक है तथा वही सर्वाधिक प्रचलित भी है परन्तु इसके अतिरिक्त उनके मच्छिन्द्रनाथ, मीनपाद, मच्छेन्दपाद, मच्छघ्नपाद, मत्स्येन्द्रपाद और मत्स्यैन्द्र नामक कई विकृत रूप भी प्रचलित हैं। उनके नामकरण के विषय में कहा जाता है कि एक बार आदिनाथ शिवसागर के तट पर योग-विद्या का रहस्य पार्वती को समझा रहे थे लेकिन पार्वती को तो नींद आ गई और मत्स्येन्द्रनाथ मछली के रूप में उस योग-विद्या का रहस्य श्रवण करते रहे अत: उनका नाम मत्स्येन्द्रनाथ पड़ा। पं० हरप्रसाद शास्त्री उन्हें मछली मारनेवाली कैवर्त जाति में उत्पन्न मानते हैं और 'कौल ज्ञान निर्णय' नामक ग्रंथ के अनुसार वे जाति के तो ब्राह्मण थे परन्तु किसी विशिष्ट कारणवश उनका नाम 'मत्स्यघ्न' पड़ गया। यह भी कहा जाता है कि जब कार्त्तिकेय ने कुलागम शास्त्र का हरण कर उसे सागर में फेंक दिया तो उसका उद्धार करने के हेतु स्वयं भैरव अर्थात् शिव मत्स्येन्द्रनाथ का अवतार धारण कर उस अथाह पयोधि में प्रविष्ट हो गए और उन्होंने उस शास्त्र का आहार करनेवाले मत्स्य का उदर विदीर्ण कर शास्त्र

की रक्षा की अत: वे 'मत्स्यघ्न' कहलाए। अभिनवगुप्त की दृष्टि में 'आतन वितान वृत्तात्मक' जाल को छिन्न-भिन्न करने के कारण उन्हें मच्छन्द कहा गया तथा जयद्रथ के अनुसार चूँकि उन्होंने मच्छ अर्थात् चंचल चित्तवृत्तियों का छेदन किया था अत: उन्हें मच्छ द कहा गया। साथ ही मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ वस्तुत: एक ही व्यक्ति थे या भिन्न-भिन्न इस पर भी विद्वानों में मतभेद हैं परन्तु जैसा कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रबल प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है अतएव दोनों को एक ही मानना उचित है और हो सकता है कि प्राचीन काल में मत्स्येन्द्रनाथ का नाम मीननाथ ही रहा हो। साथ ही अभी तक उनकी जाति, कुल तथा देश और काल-निर्णय के संबंध में कुछ भी प्रमाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं हुए। किसी-किसी विद्वान ने तो बौद्ध सहजयानियों के आदि सिद्ध लुईपाद और मत्स्येन्द्रनाथ को एक ही व्यक्ति माना है जब कि श्री हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि चूँकि वे मछली मारनेवाले कैवर्त थे और बौद्धों के स्मृतिग्रन्थों में मल्लाह तथा कैवर्त आदि को बौद्धधर्म में दीक्षित न करने के लिए लिखा गया है अत: मत्स्येन्द्रनाथ को बौद्ध माना ही नहीं जा सकता। यह अवश्य है कि बौद्ध सिद्धों में मछुआ जाति वाले एक मीनपा नामक सिद्ध का उल्लेख अवश्य किया गया है परन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी उन्हें भी बौद्ध नहीं मानते। स्मरण रहे कि मत्स्येन्द्रनाथ के प्रिय शिष्य तथा नाथ-पंथ के प्रवर्तक समझे जाने वाले गोरक्षनाथ या गोरखनाथ को तिब्बत के लामा अत्यधिक घृणा की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि कहा जाता है कि गोरखनाथ जिनका कि पहले अनंगवज्र नाम था, (यद्यपि पं० हरप्रसाद शास्त्री उनका नाम अनंगवज्र नहीं अपितु रमणवज्र मानते हैं) बौद्धधर्मावलम्बी थे परन्तु बाद में उन्होंने बौद्ध-धर्म त्याग कर शिव की उपासना स्वीकार की। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा रचित कही जानेवाली पुस्तक 'कौलज्ञान निर्णय' की प्रस्तावना में मत्स्येन्द्रनाथ का जन्मनाम—श्री विष्णु शर्मा, जाति—ब्राह्मण, जन्म-भूमि—वारणा (बंगाल), चर्यानाम—श्री गौडीश देव, पूजानाम-श्री पिप्पलीशदेव, गुप्तनाम—श्री भैरवानंद तथा कीर्तिनाम—वीरानंदनाथ, इन्द्रानंदनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ माने हैं जिनमें से अन्तिम कीर्तिनाम से ही उन्हें अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। मत्स्येन्द्रनाथ के विषय में अनेकानेक कथाएँ प्रचलित हैं तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उनके संबंध की अधिकांश कथाएँ अपनी प्रसिद्ध कृति 'नाथ सम्प्रदाय' (पृष्ठ ४५ : ५६) में संग्रहीत भी की हैं।

स्मरण रहे इनमें से अधिकांश कथाओं में गोरखनाथ द्वारा मत्स्येन्द्रनाथ के उद्धार तथा महाज्ञान की पुनः प्राप्ति के विषय में ही लिखा गया है। इन अधिकांश कहानियों से मत्स्येन्द्रनाथ का गोरखनाथ का गुरु तथा जालंधरनाथ का समसामयिक होना तथा उनकी साधना-पद्धति से भिन्नता रखना और योगप्रवर्त्तक होते हुए भी संयोगवश स्त्रियों के साथ केलिविलास में रत हो जाना आदि कई तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। साथ ही इन कथाओं के अनुशीलन से तथा उन ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नाथ-पंथ के आदि प्रवर्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्य भाग ही है। यह भी कहा जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ चन्द्रगिरि नामक स्थान पर जो कि कामरूप के समीप या बंगाल के समुद्रीतट पर या तिब्बती परम्परा के अनुसार ब्रह्मपुत्र से घिरे किसी द्वीपाकार भूमि पर स्थित था पैदा हुए थे। इस प्रकार हम उनका स्थान पूर्वी भारतवर्ष में कामरूप के समीप मान सकते हैं। अब हम मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतरित कौलज्ञान के विषय में विचार करेंगे।

यद्यपि तंत्रालोक की टीका में मत्स्येन्द्रनाथ को सकलकुल शास्त्र का अवतारक तथा 'कौल ज्ञान निर्णय' में कौलमार्ग का प्रथम प्रवर्तक माना गया है परन्तु 'कौल ज्ञान निर्णय' में ही कई एक ऐसे स्थल हैं जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वस्तुतः यह कौलज्ञान दीर्घकाल से एक कान-से दूसरे कान तक पहुँचता हुआ परम्परा क्रम से चला आ रहा है। साथ ही इस पुस्तक में कई कौलमार्गों का उल्लेख है अतः डॉ॰ प्रबोधचंद्र बागची का विचार कि मत्स्येन्द्रनाथ सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुवर्ती थे तथा उन्होंने योगिनी कौलमार्ग का प्रवर्तन किया था और 'कौल ज्ञान निर्णय' में निम्नांकित जिन विषयों का वर्णन किया गया है "सृष्टि, प्रलय, मानसलिंग, का मानसोपचार से पूजन, निग्रह अनुग्रह, क्रामणहरण, प्रातिमा जल्पन, घट पाषाण स्फोटन आदि सिद्धियाँ भ्रान्ति निरसन ज्ञान, जीवस्वरूप, जरामरण, पलित (केशों) का निवारण अकुल से कुल की उत्पत्ति तथा कुल का पूजनादि, गुरुपंक्ति, सिद्धपंक्ति और योगिनी पंक्ति, चक्रध्यान, अद्वैतचर्या, पालचर्या, न्यायविधि, शीघ्र सिद्ध होने वाली ध्यान-मुद्रा, महाप्रलय के समय भैरव की आत्मरक्षा, भक्षयविधान, तथा कौल ज्ञान का अवतरण, आत्मवाद, सिद्धपूजन और कुलद्वीप विज्ञान, देहस्थ चक्रस्थिता देवियाँ, कपालभेद, कौल मार्ग का विस्तार, योगिनी संचार और देहस्थ सिद्धों की पूजा" उनसे स्पष्ट हो जाता है कि कौल ज्ञान सिद्ध परक विद्या ही है तथा कुल और अकुल शक्ति और शिव में पारस्परिक संबंध भी माना गया है।

कौल मार्ग के संबंध में तो हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि कौलसाधना का लक्ष्य कुल और अकुल को सम्मिलित कर समरस बनाना ही है लेकिन उसमें शक्ति अर्थात कुल को अधिक महत्त्व दिया गया है और यह माना गया है कि शक्ति के अभाव में शिव कुछ भी करने में असमर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार कौल-धर्म बौद्ध-धर्म से मूलत: भिन्न है क्योंकि बौद्ध धर्मावलंबियों का लक्ष्य वैराग्य-भाव है जब कि कौलमत शिव और शक्ति के संबंध पर श्रद्धा रखता है। ज्ञान और बुद्धि दोनों के धर्म का स्वरूप समझाते हुए योग और मोक्ष दोनों के ज्ञान तथा अधर्म का कारण अज्ञान समझा गया है लेकिन अविद्या को भी ज्ञान अर्थात् ब्रह्म की शक्ति का रूप मानते हुए अज्ञान को ही ज्ञान और अधर्म को ही धर्म मान कर ब्रह्म और ब्रह्म शक्ति में कोई भेद नहीं माना गया तथा इसे ही मुक्ति समझा गया। आत्मज्ञान को ही मुक्ति में सहायक मानते हुए लोकनिंदा को वर्जनीय समझ सब में समता की भावना रखने को कहा गया। चूँकि यह संसार ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान के रूप में त्रिपुटीकृत है तथा इस त्रिपुटीकृत जगत में समस्त पदार्थ ज्ञानरूपी धर्म के कारण एक होने के फलस्वरूप सजातीय हैं अत: वे भी कुल अर्थात् जाति कहे जाते हैं और इस प्रकार कुल संबधी ज्ञान को ही कौल ज्ञान समझा जाता था। अर्थात समस्त सांसारिक पदार्थों का जो त्रिपुटीभाव से ज्ञान है वही कौलज्ञान है। सौभाग्य भास्कर के अनुसार 'कु' अर्थ पृथ्वी तथा 'ल' का अर्थ 'लीन' होना यदि माना जाए तो चूँकि पृथ्वी तत्त्वमूलाधार चक्र में ही रहता है अत: इस मूलाधार चक्र को ही 'कुल' कहते हैं और चूँकि सुषुम्ना नाड़ी उससे मिली हुई है जिसमें कि कुंडलिनी सहस्रार चक्र में परमशिव से सामरस्य प्राप्त करती है अत: सुषुम्ना को तो कुल माना गया और कुण्डलनी को शक्ति रूप समझा गया। वस्तुत: कौल साधक का प्रधान कर्त्तव्य जीव शक्ति कुण्डलिनी को ही उद्‌बुद्ध करना था। अत: यह कुण्डलनी क्या है; इस पर भी विचार करना आवश्यक है। सर आर्थर एवेलन ने तो कुण्डलनी को स्थिर शक्ति माना है तथा उनकी दृष्टि में वह उस महान विश्वव्यापनी शक्ति का ही व्यष्टि शरीर स्थित रूप है—"Kundalini is the Static Shakti. It is the individual bodily representative of the great Cosmic Power (*Shakti*) which creates and sustains the universe"—(The Serpent Power by Sir Arthur Avalon) साथ ही सर जान वुडरफ के शब्दों में शक्ति

स्थिर अथवा अविकसित (कुण्डलिनी) और चल (अर्थात् शरीर की प्राणरूप शक्ति) रूप से द्विविध हो जाती संचालिका है। "Shortly stated, energy (*Shakti*) polarises itself into two forms, namely, static or Potential (*Kundalini*) and dynamic, the working forces of the body as *Pran*" (Shakti and Shakta by Sir John Woodraffe) साथ ही मैडम ब्लैवेटस्की कुण्डलिनी को "Comic Electricity" मानते हुए उसे विश्व विद्युत की सजातीय एवं अत्यन्त प्रचण्ड शक्ति मानती है। "Kundalini is called the serpentine or annular power, on account of its spiral like working or progress in the body of the ascetic, developing or fothatic power, the great pristine force which underlies all organic and inorganic matter." वस्तुत: इस कुण्डलिनी की गति प्रकाश की गति की अपेक्षा तीव्र मानी गई है और मैडम ब्लैवेटस्की के शब्दों में प्रकाश जब कि १८,५०,००० मील प्रति सेकेन्ड की गति से चलता है तो कुण्डलिनी ३,४५,००० मील प्रति सेकेन्ड की चाल से चलती है। जैसा कि हमने मूलाधार चक्र को कुण्डलिनी का सुषुप्ति स्थान कहा है अत: मनुष्य की पिण्डदेह में स्थूल शरीर के विशिष्ठ प्रसंगों से संबद्ध जो छ: चन्द्राकार घूमने वाले शक्ति केन्द्र हैं मूलधार भी उन्हीं में से एक है। "They are the force centres in the human body and are so called, because to clairrayant and sight, they have the appearance spinning vortices. They are the six plexuse "(Hodson) मेरुदण्ड के निम्नभाग में अवस्थित मूलाधार चक्र के भीतर कुण्डलिनी शक्ति त्रिवली आकार में सुषुप्तावस्था में रहती है लेकिन जब योगश्चर्या से मूलधार प्रज्वलित होता है तब यह चक्र जिस प्रकार जलद जलधि के आंशिक रूप में आत्मसात् करने के प्रयास में सफल हो जाता है उसी प्रकार वह भी कुंडलिनी शक्ति को व्यष्टि भाव में आत्मसात् करने की योग्यता प्राप्त करती है। इस प्रकार कुंडलिनी जाग्रत होकर मेरुदंड के मध्य में अवस्थित सुषुम्ना नाड़ी से होती हुई इड़ा और पिंगला की सहायता से ऊपर की ओर प्रवाहित होती है तथा वह क्रमश: एक-एक कर स्वाधिष्ठान, मणिपुर,

अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञाचक्र को प्रज्वलित तथा अनुप्राणित करती हुई सहस्रार में पहुँचकर सदाशिव के साथ सम्मिलित हो जाती हैं।

इस प्रकार "तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयम्क्रमं चेति विवेकजज्ञानम्" उक्ति के अनुसार सहस्रार में सदाशिव के साथ कुण्डलिनी की संगत होने से ही सर्वज्ञान की सिद्धि होती है और जैसा कि 'चैनिक योगदीपिका' का मत है तब मानव का शरीर एवं चित्त पर पूर्ण अधिकार हो जाता है और वह सर्वथा समस्त अवस्थाओं में स्वच्छन्द एवं सुशासित होता है तथा सब बन्धनों से मुक्त होकर क्षोभ को पूर्णतः मिटाकर ठीक मध्य में स्थित हृदय के साथ ही रहता है। इस प्रकार कुण्डलिनी जीव शक्ति है क्योंकि जीवात्मा परमशिव से चैतन्य तथा कुंडलिनी से शक्ति प्राप्त करता है। यद्यपि कौल मार्ग में योगी और कौल का लक्ष्य एक ही माना गया है तथा नाथ-सम्प्रदाय में यह भी कहा जाता है कि गोरख के योग-मार्ग तथा मत्स्येन्द्र के कौल-मार्ग में मूलतः कोई विशिष्ट अन्तर नहीं है और जिस प्रकार योगियों को यमनियमादि की कठोर साधना द्वारा अष्टांगयोग साधन कर समाधि में निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति होती है उसी प्रकार कौलमार्गियों का भी यही कहना है कि वे भी उसी आनन्द का अनुभव करते हैं और साथ ही वे अपना पंथ सहज और योगियों का दुरूह मानते हैं लेकिन परवर्ती नाथ योगियों पर कौलमार्ग के विचारों का प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ा अवश्य ही है और मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्रतिपादित चक्र पूजा भी अभी तक वर्तमान है तथा साथ ही वे वामाचार से भी प्रभावित हुए हैं। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ की रहस्यमयी और गोप्य समझी जाने वाली कौल-साधना निसंदेह नाथ-पंथ में अपना निजी महत्त्व रखती है।

गोरखनाथ और उनकी योग-साधना

इसमें कोई संदेह नहीं कि नाथ-पंथ को संगठित कर सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय गोरखनाथ (जो कि गोरक्षनाथ या गोरक्षपा भी कहे जाते हैं) को ही है और यदि उन्हें नाथ सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। वस्तुतः भारतवर्ष में शंकराचार्य के अतिरिक्त इस प्रकार का प्रभावशाली और महिमान्वित व्यक्तित्व अन्य किसी में भी दृष्टिगोचर नहीं होता। गोरखनाथ ने उत्तर में काश्मीर से लेकर दक्षिण में महाराष्ट्र तक के प्रदेशों की यात्राएँ कर नाथपंथ का प्रचार करते हुए स्थान स्थान पर केन्द्र स्थापित कर अपने योग्य शिष्यों को प्रचार के लिए नियुक्त किया और इस प्रकार भारतवर्ष की प्रत्येक भाषा में ऐसी कहानियाँ प्रचलित हैं जिनमें गोरखनाथ का उल्लेख है।[१] हो सकता है कि इन कथाओं में पारस्परिक ऐतिहासिक विरोध भी देख पड़ता हो परन्तु इनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि गोरखनाथ अपने युग के सर्वप्रधान नेता थे और आगे चलकर दक्षिण से जो वेदान्त-भावित भक्ति-आन्दोलन का तीव्र प्रवाह उत्तर की ओर प्रवाहित हुआ उसके पूर्व गोरखनाथ का योगमार्ग ही भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन था। परन्तु बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि गोरखनाथ के संबंध में ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव सा है और इस प्रकार उनका जीवनवृत्त सरलता के साथ अंकित नहीं किया जा सकता।

---

१. डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने भारतीय विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि गोरखनाथ का नाम उत्तराखंड के जंत्र और मंत्रों में भी प्रचुरता के साथ उपलब्ध होता है। डॉ० भगीरथ मिश्र के संपादकत्व में प्रकाशित उनके निबन्धसंग्रह 'मकरन्द' के 'उत्तराखंड के मंत्रों में गोरखनाथ' नामक लेख का अनुशीलन करने से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।

गोरखनाथ के जन्मस्थान के विषय में भी मतभेद सा है। 'योगि सम्प्रदाय विष्कृति' में उन्हें गोदावरी तट पर किसी चन्द्रागिरी नगर में उत्पन्न हुआ माना गया है और नेपाल दरबार पुस्तकालय के 'गोरक्ष सहस्रनाम स्तोत्र' नामक पुस्तक के अनुसार दक्षिण का बड़व नामक देश उनका जन्म स्थान माना गया है तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि कदाचित् बड़व देश गोदावरी तीर के प्रदेश का ही वाचक है। क्रुक्स द्वारा लिखित परम्परा को उद्धृत करते हुए ग्रियर्सन ने उन्हें सतयुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरखपुर में, द्वापर में द्वारका के भी आगे हुरभुज में और कलियुग में काठियावाड़ की गोरखमढी में उत्पन्न माना है। बंगाली गोरखनाथ की जन्मभूमि बंगाल मानते हैं तथा नेपाली उनका पंजाब से नेपाल आना स्वीकार करते हैं और श्री जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स ने गोरखपुर के एक महंत का उल्लेख करते हुए तथा पंजाब के टिला के संबंध में ही विचारकों के मतों की अधिकता देखकर गोरखनाथ को पंजाब का निवासी माना है[1] लेकिन नासिक के नाथपंथियों का विचार है कि गोरखनाथ नेपाल से पंजाब गए तथा फिर वे बाद में नासिक की ओर आए और ग्रियर्सन गोरखनाथ को पश्चिमी हिमालय का निवासी मानते हैं अतः किसी ठीक निर्णय पर पहुँचना सहज नहीं है। साथ ही उनके विषय में इतनी अधिक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं कि उनका जीवनवृत्त भी तिमिराछन्न सा प्रतीत होता है। जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स ने तथा सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ ने गोरखनाथ को प्रारम्भ में बौद्ध-साधक ही माना है तथा उनका बाद में शैव होना स्वीकार किया है और यह भी कहा जाता है कि उन्होंने अवलोकितेश्वर के प्रभाव से नेपाल की रक्षाकर उसे शैव बनाया। परन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी उन्हें निश्चित रूप से ब्राह्मण जाति में उत्पन्न मानते हैं तथा ब्राह्मण वातावरण में ही उनका पालित पोषित होना स्वीकार करते हैं।[2] यद्यपि परम्परा गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य के रूप में प्रसिद्ध हैं परन्तु कुछ ऐसी दन्तकथाएँ भी हैं जिनमें कि उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का प्रतिद्वन्दी मानते हुए यह कहा गया है कि उन्होंने मत्स्येन्द्र द्वारा रक्षित नेपाल राज्य

१. गोरखनाथ एंड दि कनफटा योगीज—जी० डब्ल्यू० ब्रिगस (रेलिजस् लाइफ आफ इंडिया सिरीज) पृष्ठ २२८—२९.

२. दे०—नाथ सम्प्रदाय—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृष्ठ ९७)

को अनेक वर्षों के अथक परिश्रम के उपरान्त अपने संरक्षण में लाने में सफलता प्राप्त की। तिब्बती अनुश्रुतियों के अनुसार गोरखनाथ एक बौद्ध बाजीगर थे तथा उनके सारे कनफटे शिष्य भी बौद्ध ही थे लेकिन बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वंश का नाश हो जाने पर वे शैवावलम्बी बन गए।[१] नेपाल की एक दन्तकथा के अनुसार यह भी कहा जाता है कि अपने एक साधारण कौशल द्वारा गोरखनाथ ने बारह वर्षों तक वर्षा न होने दी और केवल एक मन्त्र द्वारा ही पानी के समस्त उद्‌गमों को एक ही सूत्र में बाँध दिया तथा जब बारह वर्षों तक वृष्टि नहीं हुई और चारों ओर हाहाकार मच गया तो फिर पानी जिस प्रकार मुक्त हुआ इस सम्बन्ध में बौद्ध और ब्राह्मण अनुश्रुतियों में असाम्यता सी है। राजस्थान में तो गोरखनाथ को 'गुग्ग' 'गूग' 'जहरपीर' (क्योंकि उन्होंने अपनी शिशु अवस्था में ही एक सर्प का भक्षण कर लिया था) तथा 'बागर वीर' भी कहा जाता है और कहते हैं कि बागर के शासक की हैसियत से उन्होंने कई युद्ध भी किए थे। यह भी कहा जाता है कि वे अजमेर के शासक पृथ्वीराज चौहान के समकालीन थे और अपने पैंतालिस पुत्र तथा साठ भतीजों सहित मुहम्मद गोरी के साथ युद्ध करते हुए मारे गए।[२] इस प्रकार इन दंतकथाओं के आधार पर तो वास्तविक तथ्य तक पहुँचना असम्भव ही है परन्तु इतना अवश्य कहा जाता है कि गोरखनाथ का जीवन पूर्ण ब्रह्मचर्यमय था और वे सुन्दर, सुगठित तथा आकर्षक रूप के होते हुए भी युवावस्था में ही बैरागी हो गये थे तथा दूर-दूर तक पर्यटन कर उन्होंने नाथ सम्प्रदाय के मतानुसार योग-साधना का प्रचार करते हुए गुरु भक्ति, अनुशासन, सेवाभाव, सरल सात्विक तथा संयमशील जीवन के उपदेश दिए थे और उनके मत का प्रभाव भारत में ही नहीं बल्कि भारत के भी बाहर अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सीलोन तथा पेनांग तक क्रमश: फैलता चला गया। इस आधार पर गोरखनाथ को हिमालयवासी भी कहा जा सकता है क्योंकि हिमालय प्रदेश में अभी तक शिवोपासक कनफटे जोगी दृष्टिगोचर होते हैं तथा इसी प्रकार यह भी माना जा सकता है कि नेपाल को महायान बौद्ध-धर्म से शैवमत में रूपान्तरित करने का श्रेय गोरखनाथ को ही है। गोरखनाथ का ठीक-ठीक काल निर्धारण भी अभी तक नहीं किया जा सका।

१. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ् रिलीजन एन्ड ऐथिक्स, भाग ६, (पृष्ठ ३२८)
२. रिलीजन एन्ड फोकोलोर ऑफ नार्दर्न इंडिया—डबल्यू० क्रुक (१९२६)

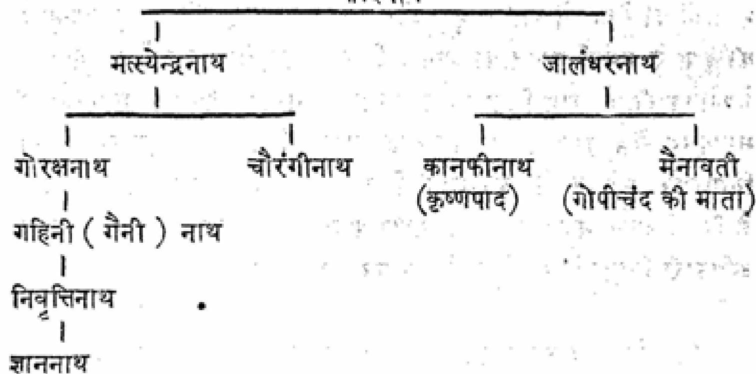
डॉ० शहीदुल्ला उनका आविर्भाव वि० सं० ७२२, श्री राहुल सांकृत्यायन सं० ९०२, डॉ० मोहनसिंह विक्रम की नवीं और दसवीं शताब्दी डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी विक्रम की दसवीं शताब्दी, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल सं० १०५०, श्री परशुराम चतुर्वेदी विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी, डॉ० फर्कुहर सं० १२७५, डॉ० रामकुमार वर्मा तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग और जार्ज ग्रियर्सन चौदहवीं शताब्दी मानते हैं। स्मरण रहे कि चौरासी सिद्धों में भी गोरक्षपा नामक एक सिद्ध का उल्लेख हुआ है और यदि हम इन गोरक्षपा को ही गोरखनाथ मान लें तो भी उनका समय महापंडित राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार सं० ९०२ मानना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि चौरासी सिद्धों की परम्परा तो सं० १२५७ तक चलती रही है। साथ ही महाराष्ट्र के अमर सन्त ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी के एक पद से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त ज्ञानेश्वर अपने आपको नाथ-पन्थ की शिष्य परम्परा में मानते हैं।[1] मराठी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, बी० ए० ने मराठी में 'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र' नामक एक पुस्तक लिखी है और प्रसन्नता की बात है कि उसका अनुवाद भी श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे ने किया है तथा वह गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित भी हो चुकी है। पांगारकर जी की 'ज्ञानेश्वर चरित्र' नामक पुस्तक के अनुसार सन्त ज्ञानेश्वर के प्रपितामह श्री त्र्यम्बक पन्त गोरखनाथ के समकालीन थे तथा उनके विषय में पांगारकर जी ने इस प्रकार लिखा है "त्र्यम्बक पन्त ने यज्ञोपवीत होने के पश्चात् देवगढ़ जाकर वेदशास्त्र का अध्ययन किया। इनकी पूर्व वयस देवगढ़ के यादव राजाओं की सेवा में व्यतीत हुई और उत्तर वयस में इन्होंने श्री गोरखनाथ की कृपा से भगवच्चिन्तन का आनन्द लिया। इन्होंने पाँच वर्ष तक बीड़ के देशाधिकारी का काम किया। शके ११२९ (सम्वत् १२६४) में प्रभवनाम् सम्वत्सर चैत्र शुक्ल ५ इन्दुवासर प्रातःकाल घटि ११ का एक राजाज्ञापत्र भिंगारकर महोदय ने प्रकाशित किया है। उससे यह मालूम होता है कि जैत्रपाल महाराज ने दस सहस्र यादव मुद्रिका पर उन्हें बीड़ देश का अधिकारी नियुक्त किया।[2] आगे चलकर लेखक ने पुनः उनकी मानसिक

---

१. दे०—मत्स्येन्द्रनाथ और उनकी साधना पद्धति (पृष्ठ ६१)

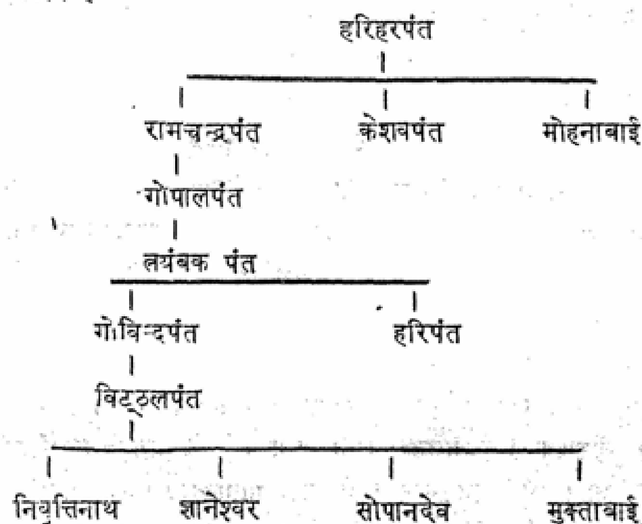
२. श्री ज्ञानेश्वर चरित्र—पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, हिन्दी अनु० श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे (पृष्ठ १८)

दशा का चित्रण करते हुए लिखा है "इस बात का उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि राजसेवा और कुटुम्ब भरण में ही सारी आयु गँवा दी। अब उन्होंने शेष जीवन भगवच्चरणों में लगाकर सार्थक करने का निश्चय किया। कर्म धर्म संयोग से इसी समय गोरखनाथ महाराज तीर्थाटन करते हुए आवेगाँव में पधारे। त्र्यंबक पंत उनकी शरण में गए और उनके अनुग्रह मात्र हुए।"[१] अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि संवत् १२६४ में त्र्यंबक पंत ने बीड़ देश के देशाधिकार का कार्य ग्रहण किया था और चूँकि वे केवल पाँच वर्षों तक ही इस कार्य को सँभाल सके और उनके मानस में वैराग्यभावना उठने लगी अतः सं० १२७० के लगभग ही उन्होंने गोरखनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया होगा तथा इससे गोरखनाथ का सं० १२७० में वर्तमान रहना स्पष्ट हो जाता है तथा यह भी ज्ञात होता है कि वे सं० १२७० में प्रसिद्धि भी अवश्य प्राप्त कर चुके होंगे। श्री ज्ञानेश्वर चरित्र में यह भी लिखा है कि त्र्यंबक पंत के ज्येष्ठ पुत्र गोविन्दपन्त तथा उनकी सहधर्मिणी निराबाई ने गोरक्षनाथ के शिष्य गैनीनाथ से ब्रह्मोपदेश प्राप्त किया था। अतः इतना तो स्पष्ट है कि त्र्यंबक पंत ने जिन गोरखनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया था वे वस्तुतः नाथ सम्प्रदायी गोरखनाथ ही थे। ज्ञानेश्वरी के एक पद को उद्धृत कर हम तो पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि स्वयं ज्ञानेश्वर ने गोरखनाथ का उल्लेख किया है और उस पद के अनुसार उनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है—मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गैनीनाथ, निवृत्तिनाथ तथा ज्ञानेश्वर। पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर ने भी "श्री ज्ञानेश्वर चरित्र" में ज्ञानेश्वर की गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—



१ श्री ज्ञानेश्वर चरित्र—पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर—हिन्दी अनु० श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे, पृष्ठ ४०

स्मरण रहे कि ज्ञानेश्वरी में दी गई गुरु परम्परा और पांगारकर जी द्वारा प्रस्तुत गुरु-परम्परा में साम्यता सी है तथा यदि हम ज्ञानेश्वर जी की वंशावली पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि उसमें और इस गुरु-परम्परा में भी सदृश्यता सी है अत: गोरखनाथ का त्र्यंबक पंत का समकालीन होना निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है। संत ज्ञानेश्वर की वंशावली इस प्रकार है—



साथ ही यह भी कहा जाता है कि गोरखनाथ के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था जिसने कि चौदहवीं शताब्दी में कनफटे पंथ का प्रचार कच्छ में किया था[1] और यदि धर्मनाथ का काल चौदहवीं शताब्दी मान लिया जाता है तो फिर निश्चय ही गोरखनाथ का समय भी तेरहवीं शताब्दी का मध्यभाग ही होगा। अत: श्री ज्ञानेश्वर चरित्र के उपर्युक्त साक्ष्य तथा एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के धर्मनाथ वाले इस कथन के कारण डॉ० रामकुमार वर्मा की भाँति हम भी गोरखनाथ का समय तेरहवीं शताब्दी का मध्यभाग ही मानते हैं। यद्यपि गोरखनाथ नाथ-सम्प्रदाय के एक उल्लेखनीय प्रवर्तक थे लेकिन उनके द्वारा लिखी जाने वाली कृतियों की संख्या भी अभी तक निश्चित रूप से निर्धारित न हो सकी। "मिश्रबंधु-विनोद" में उनके गोरख-

१. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पृष्ठ ३२८—३३०

बोध, दत्त गोरख संवाद, गोरखनाथ जी के पद, गोरखनाथ जी के स्फुट ग्रंथ, ज्ञान सिद्धान्त योग, ज्ञानतिलक, योगेश्वरी सखी, नरवैबोध, विराटपुराण तथा गोरखसार नामक दस ग्रंथ प्रामाणिक माने गये हैं।[1] यद्यपि उनके नामकरण द्वारा ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें से बहुत से उनके शिष्यों द्वारा ही लिखे गये होंगे क्योंकि उनमें गोरखनाथ के नाम के आगे आदर-सूचक 'जी' प्रत्यय लगाया गया है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने तो पर्याप्त अनुशीलन के उपरान्त गोरखनाथ की निम्नलिखित चालीस पुस्तकों की सूची प्रस्तुत की है लेकिन इनमें से प्रथम चौदह को ही वे प्रामाणिक मानते हैं—शब्द, पद, शिष्यादर्शन, प्राणसंकली, नरवैबोध, आत्मबोध, अभयमात्रायोग, पंद्रहतिथि, सप्तवार, मछिन्द्रगोरखबोध, रोमाली, ज्ञानतिलक, ग्यान चौंतीसा, पंचमात्रा, गोरख गणेश गोष्ठी, गोरखदत्तगोष्ठी (ज्ञानदीपबोध), महादेव गोरख-गोष्ठी, सिष्टपुरान दयाबोध, जातिभँवरावली, छन्दगोरख, नवरात्रि, बनरात्रि, अष्टपारछ्य, रसराह, ग्यानमाला, आत्मबोध, व्रत, निरंजनपुरान, गोरखबचन, इंद्रियदेवता, मूलगर्भावली, वाणी, गोरखसत, अष्टमुद्रा, चौबीस सिद्धि, षडक्षरी, पंचअग्नि, अष्टचक्र, अवलिसिलूक, काफिरबोध। डॉ० बड़थ्वाल ने इनमें से प्रारम्भिक तेरह पुस्तकों का संग्रह हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा गोरखबानी (जोगेसरी बानी, भाग १) के नाम से प्रकाशित भी करवाया था। डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की प्रारम्भिक तेरह पुस्तकों की सूची में से 'अभयमात्र जोग' के अतिरिक्त शेष बारह ग्रंथों को प्रमाणिक मानते हैं और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सम्प्रदाय' में विभिन्न ग्रंथ सूचियों तथा आलोचनात्मक अध्ययनों के आधार पर गोरख द्वारा लिखित कही जानेवाली अट्ठाइस पुस्तकों की एक तालिका प्रस्तुत की है; यद्यपि वे इसे स्वीकार करते हैं कि इनमें से कई पुस्तकें उन्होंने देखी भी नहीं हैं तथा यह भी संभव हो सकता है कि इनमें की कई पुस्तकें गोरखनाथ द्वारा न भी लिखी गई हों।[2] इसमें कोई संदेह नहीं कि गोरखनाथ ने अपने नाथ पंथ के प्रचार के हेतु जनसमुदाय की भाषा को

---

१. मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २४१

२. गोरखनाथ जी की तथाकथित संस्कृत रचनाएँ इस प्रकार हैं—अमनस्क, अमरौघशासनम्, अवधूतगीता, गोरक्षकल्प, गोरक्षकौमुदी, गोरक्षगीता गोरक्षचिकित्सा, गोरक्षपंचम, गोरक्षपद्धति, गोरक्षशतक, गोरक्षशास्त्र,

ग्रहणकर सराहनीय कार्य किया है क्योंकि इससे न केवल उनके मत का प्रचार सर्वसाधारण में हो सका अपितु जनभाषा को विकसित होने का अवसर भी प्राप्त हुआ। गोरखनाथ ने संस्कृत और हिन्दी के साथ-साथ मराठी भाषा को भी अपनाया है तथा मराठी में भी उन्होंने 'अमरनाथ संवाद' और 'गोरक्षगीता' नामक ग्रंथों की सफलतापूर्वक रचना की है। स्मरण रहे श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर ने 'मराठी वाङ्मयाचा इतिहास' (खंड पहिला) के पृष्ठ ४८८, श्री विनायक लक्ष्मण भावे ने महाराष्ट्र सारस्वत के पृष्ठ ४३ और श्री पं० रा० मोकाशी ने 'महाराष्ट्रांतील पांच सम्प्रदाय' के पृष्ठ ११४ में हमारे इसी कथन को स्वीकार किया है और मोकाशीजी ने तो "ज्ञानेश्वरींतील व अमृतानुभवांतील काहीं दृष्टांत—प्रमेयांशी असणारे साम्य चटकन डोळयांत भरण्यासारखे आहे" नामक पंक्ति द्वारा यह स्वीकार किया है कि ज्ञानेश्वरी के कुछ स्थल अमृतानुभव के कुछ स्थलों के समान से है।[1] मिश्र-बन्धु तो गोरखनाथ को ब्रजभाषा गद्य में एक ग्रंथ लिखने का श्रेय भी प्रदान

गोरक्षसंहिता, चतुरशीत्यासन, ज्ञानप्रकाशशतक, ज्ञानशतक, ज्ञानामृतयोग, नाड़ीज्ञानप्रदीपिका, महार्थमंजरी, योगचिन्तामणि, योगमार्तण्ड, योगबीज, योगशास्त्र,योगसिद्धासनपद्धति, विवेकमार्तण्ड, श्रीनाथसूत्र, सिद्धसिद्धान्त पद्धति, हठयोग, हठसंहिता।

१. यहाँ हम कुछ ऐसे अवतरण प्रस्तुत करेंगे जिनमें कि भावसाम्यता सी पाई जाती है लेकिन स्मरण रहे कि हम भावसाम्यता का अर्थ अमौलिकता से कभी नहीं लेते। वस्तुतः हमारा विचार तो यह रहा है कि भावों की साम्यता साहित्य में हेय नहीं है और न उसे साहित्यिक अपहरण की संज्ञा ही दी जा सकती है परन्तु हाँ शैली साम्यता को हम निंद्यनीय समझते हैं। अतः गुरु गोरखनाथ और संत ज्ञानेश्वर के भावसाम्यवाले जो उदाहरण हम प्रस्तुत कर रहे हैं उसका अर्थ किसी का महत्त्व घटाना न समझा जाए। हाँ उनसे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि ज्ञानेश्वरजी पर नाथपंथ का प्रभाव पड़ा था और उनके द्वारा प्रस्तुत की गई गुरु-परम्परा भी यथार्थ सी है जिसके आधार पर हम गोरखनाथ का काल निर्धारण कर सके हैं। अब उदाहरण देखिए—
"वृक्षांची पाने झडति। आणि मागौति नीगति। परि तेंचि म्हणु नयेत कि। दिवेयापासौनि निघाळिया काजळी। त्याचा पोटिं काइ आणि की घाणि असे।

करते हैं और हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी इतिहासकारों ने उनके गद्य साहित्य का जो अवतरण प्रस्तुत किया है उसमें न केवल गोरखनाथ को प्रथम पुरुष में संबोधित

मग निगालियें नदी उदकें अनित्यें। परि प्रवाही नित्य जाणावी किं।
तैसा दृश्यु प्रपंचु पदार्थु अनित्यु। परि त्या प्रवाही नित्यु जाणावा ॥"

योगसाधना पर मराठी में लिखे गए गोरखनाथ के ग्रंथ 'अमरनाथ संवाद' के उक्त उद्धरण की सी विचारधारा 'ज्ञानेश्वरी' के प्रस्तुत अवतरण में भी विद्यमान है—

जैशा वारियांचा झुळका। सांदा ठाउवा नव्हे देखा।
तैसिया उठती पडती शाखा। नेणों किती ॥
एकी देहाची डिरी तुटे। संघ देहोकुरी बहुवी फुटे।
ऐसेनि भवतरु हा वाटे। अव्ययी ऐसा ॥

—ज्ञानेश्वरी अ० १५।१३१—१३२।

साथ ही यह भी कहा जाता है कि ज्ञानेश्वरी में दिए गए "सशाचें शिंग" "मृगजळ" "वांझेचे लेकरू" "काळी कस्तूरी" आदि दृष्टान्त वस्तुतः "अमरनाथ संवाद" में पहले ही वर्णन किए जा चुके हैं।

गोरखनाथ का 'गोरक्षगीता' नामक एक अन्य और मराठी में भी लिखा गया 'ओंवीबद्ध ग्रंथ' कहा जाता है जिसमें दी गई योग विषयक विचारधारा तथा कुंडलिनी जाग्रत करने की प्रक्रिया आदि बहुत कुछ अंशों में ज्ञानेश्वरी अ० ६ के १४ वें श्लोक के सदृश्य ही है। गोरक्षगीता के उदाहरण इस प्रकार हैं—

तेणें कामशक्ति खुंटली। मय वायूते उर्ध्वगति जाली। आळा मणि पुराजवळि। देखिली बाळा कुंडली। प्राणायाम करितां नेटें। तै कुंडलिनी चिमुटे। वेळ उकलुनि सुसाटे। गगन मार्गें।
आपान मौधाता मुरडला। स्वाधिष्ठावरि चालिला। क्षोभोनिया माजला। झुंजे मणिपुरेसी। वाहादुळी धाविली त्वरे। कोठयामाजि सचरे। कफपित्तादिकांचे थारे। मोडोनि टाकी। वेळें येकायेकी उकली। बहुतां दिवसांची असे भुकेली। उर्ध्वं होउनि सुखें गिळी। वाहादुळी गा। इडा पिंगळा एकमेळी। तिन्हि नाडीची ग्रंथी सुटली। षट्चक्राचे पदर मोकळी। करिती झाली ॥

अब 'ज्ञानेश्वरी' अध्याय ६ का प्रस्तुत अवतरण देखिए—

किया गया है अपितु उसमें पूछिवा, कहिबा, आदि राजस्थानी शब्दों की भी बहुलता है जिन्हें कि आचार्य शुक्ल भी राजस्थान के शब्द ही मानते हैं।[1]

जो मूलबंधे कोंडला। अपान माघौता मुरडला। तो सवेंचि वरी सांकडला वरी फुगू। क्षोभलेपणें माजे उवाइला नई गाजे। मणिपुरेशी झुंजे। राहोनिया। मग थांबलिये वाहादुळी। सैंध धेउनि धर डहुळी। बाळपणींची दुहीटूळी। वाहोरि धाली। भीतरी वळी न धरे। कोठया माची संचरे। कफपित्तचे थारे। उरों नेदी। तंव येरीकडे धनुर्धरा। आसना चा उवारा। शक्ति करी उजगरा। कुंडलिनी ते॥ ···· तैसी सुबंध आटली। पुटीं होती दाटली। ते वज्रासनें चिमुटली। सावध होय॥ सहजें बहुता दिवसांची भुक। तरी चेवविली ते होय मिरव। मग आवेशें पसरी मुख। उर्ध्वउजू॥···· तंव अध वरौतो आकुंचे। उर्ध्व तळौतें खाचे। तया खेवामाजी चक्राचे पदर सुटती॥

यद्यपि श्री वि० ल० भावे ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'महाराष्ट्र सारस्वत्' में 'गोरक्षगीता' के एक प्रकरण में "हे गोरक्षगीता। गहिनीनाथ संवादू॥" नामक पंक्तियों के आधार पर गहिनीनाथ को ही गोरक्षगीता का लेखक माना है क्योंकि उनकी दृष्टि में गोरखनाथ के उपदेशों को गहिनीनाथ ने ही संभवतः इस कृति में लिपिबद्ध किया है। अतः वे यही मानते हैं कि "याचें कृर्तत्व गोरक्षनाथ पेक्षां गैनीनाथ कडेच येतें।" परन्तु पांगारकर जी और श्री पं० रा० मोकाशी आदि कई मराठी भाषाभाषी विद्वानों ने गोरक्षगीता का प्रणेता गोरखनाथ को ही माना है तथा हम भी इन विद्वानों के विचारों से पूर्ण सहमत हैं और गोरखनाथ को ही गोरक्षगीता का निर्माता मानते हैं।

१ गोरखनाथ द्वारा लिखित कहा जानेवाला गद्य का वह अवतरण इस प्रकार है—"श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत् है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्दस्वरूप है शरीर जिन्हिको। जिन्ही के नित्य गावें तै शरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जु हौ गोरिष सो मछन्दरनाथ को दंडवत् करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ॥ आत्मा ज्योति निश्चल है। अन्तकरन जिनिकौ अरु मूलद्वार तै छइ चक्र जिनि नीकी तरह जानै॥ अरु जुग काल कल्प इनिकी रचना तत्व जिनि गायो। सुगन्ध को समुद्र तिनको मेरी दंडवत्॥ स्वामी तुमे तौ सतगुरु अम्है तो सिष, सब्द एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनिन करिबा रोस।"

इस आरोप को तो चाहे अस्वीकृत भी कर दिया जाए कि गोरखनाथ चूँकि पूरब और उत्तर के निवासी थे, अतः उन्हें ब्रजभाषा में न लिखकर पूरबी गद्य का प्रयोग करना चाहिए था क्योंकि हो सकता है गोरखनाथ को अपने देशाटन काल में ब्रजभाषा का भी सम्यक ज्ञान प्राप्त हो चुका हो लेकिन एक पूरब के निवासी का ब्रजभाषा गद्य में ग्रंथ लिखना अविश्वसनीय नही प्रतीत होता परन्तु चूँकि इस अवतरण में स्वयं गोरखनाथ को प्रथम पुरुष के रूप में मान लिया गया है तथा एक सम्प्रदाय के मान्य प्रचारक का अपने आपको इस रूप में प्रस्तुत करना अनुपयुक्त प्रतीत होता है अतः हो सकता है कि यह अवतरण गोरख के किसी राजपूतानावासी शिष्य द्वारा लिखा गया हो और उसने उसे अपने पंथ के प्रवर्तक गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। स्मरण रहे डॉ० बड़थ्वाल 'सबदी' को ही गोरखनाथ की सर्वाधिक प्रामाणित कृति मानते हैं परन्तु डॉ० मोहनसिंह की दृष्टि में 'गोरखबोध' उनकी अधिक प्रामाणिक रचना है लेकिन डॉ० प्रबोधचंद्र बागची द्वारा मत्स्येंद्रनाथ के कई संस्कृत ग्रंथों के प्रकाशित किए जाने के फलस्वरूप 'गोरख-बोध' को प्रामाणिक मानना भी अनुपयुक्त ही जान पड़ता है क्योंकि दोनों में प्रतिपादित सिद्धान्तों में वैषम्यता सी है अतएव गोरखनाथ की कृतियों की प्रामाणिकता के विषय में कुछ भी कहना सहज नहीं है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल इन कृतियों की प्रामाणिकता तथा गोरखनाथ के विषय में बहुत कुछ लिखनेवाले थे परन्तु उनके असमय निधन के फलस्वरूप यह कृत्य अपूर्ण ही रह गया तो भी उन्होंने अपने भावी विचारों की झलक पहले ही इस रूप में प्रस्तुत कर दी थी—"नाथ परंपरा में इनके कर्ता प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नहीं समझे जाते थे। मैं अधिक संभव समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ११ वीं शती में हुए। ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परंतु इसमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे कहा जा सकता है कि संभवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शति में ही हुआ हो।"[१] गोरखनाथ द्वारा लिखित कही जाने वाली इन कृतियों से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी प्रकट हो जाता है कि दो साधकों के प्रश्नोत्तररूप में सिद्धान्त प्रतिपादन की शैली वस्तुतः नाथपंथियों द्वारा ही प्रारम्भ हुई है और इस पद्धति का प्रभाव हिंदी

१ गोरखबानी—भूमिका; पृ० २०

संत साहित्य पर भी पड़ा है जिसके फलस्वरूप आगे चलकर संवाद रूप में अनेक ऐसी कृतियाँ लिखी गई जिनका उद्देश्य सम्प्रदाय विशेष के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए अपने विश्वास और मत का प्रचार करना रहा है। गोरखनाथ द्वारा लिखे गये पदों की प्राचीनता पर यद्यपि संदेह ही किया जाता है परन्तु उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्ती संत काव्य वस्तुत: नाथ-सम्प्रदाय की इस पद्धति से निश्चय ही प्रभावित हुआ है और संत काव्य के पदों में जो ब्रम्हचर्य, वाक्संयम, शारीरिक और मानसिक पवित्रता, ज्ञाननिष्ठा, बाह्याचारों का अनादर, आंतरिक शुद्धि आदि का चित्रण किया गया है उसका मूल स्त्रोत भी नाथपंथियों के इन पदों में ही देख पड़ता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि परवर्ती संत-साहित्य को तो वस्तुत: बनी बनायी भूमि ही प्राप्त हुई थी। इस प्रकार गोरखनाथ के कवित्व में चाहे रुक्षता और गृहस्थ जीवन के प्रति अनादर की भावना दृष्टिगोचर होती हो परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने योग की दुस्तर साधनाओं को भी जीवन के लिए अत्यंत हितकर रूप में प्रस्तुत कर धार्मिक भावनाओं को बलवती ही किया है। अब हमें गोरखनाथ की साधना-पद्धति पर भी संक्षेप में विचार करना चाहिए।

यद्यपि श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्तपरक जान पड़ते हैं और उनकी योग साधना संबंधी रचनाओं के अंतर्गत भी अद्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन लक्षित होता है।"[1] परन्तु वास्तव में नाथपंथ में वेदान्त निर्दिष्ट साधना पद्धति को ग्रहण नहीं किया गया और स्मार्त आचारों को तो तनिक भी महत्त्व न देकर स्मार्त हिन्दूधर्म का उपहास ही किया गया है। गोरक्षसिद्धान्त संग्रह का यह अवतरण द्रष्टव्य है— "लोग आचार आचार कहा करते हैं। भला यह आचार अत्याचार होकर कैसे निभता है? भोजन में जो घी देते हो वह भी तो चर्मपात्र अर्थात् पशु धन से ही आता है? चलते समय जो पैरों में जूते पहने जाते हैं, वह भी चमड़े के ही हैं। शयन में जो स्त्री-संग होता है उसकी तो बात ही जाने दो ····। सूर्यादि ग्रहण के अवसरों पर मिट्टी के पात्र और जल आदि को अशुचि समझकर त्याग दिया जाता है किन्तु धान्य घृतादि को क्यों नहीं फेंक दिया जाता? बात यह है कि जलाशय में जल तो बहुत प्राप्त

---

१. दे०—उत्तर भारत की संत परम्परा—श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृष्ठ ६१)

हो जाता है और कुम्हार के घर मिट्टी के पात्र भी थोड़े ही पैसों में प्राप्त हो जाते हैं तो फिर क्यों न उन्हें अपवित्र समझकर आचारवान मान लिया जाय। लेकिन घृत और धान्य वगैरह को मोल लेने में अधिक पैसे लगते हैं अतः उन्हें अपवित्र नहीं माना जाता। कहाँ तक इस प्रकार की बातें लिखी जावें। वास्तविकता तो यह है कि आचार वस्तु ही कल्पित है और बुद्धिमान लोग इस पर तनिक भी विश्वास नहीं करते।"[1] साथ ही आचार का खंडन करते हुए द्वैतवाद, अद्वैतवाद और स्मार्त आदि मतों में दोष-दर्शन कर, शिव-शक्ति में अभेद सिद्ध कर कामत्याग पर जोर देते हुए गोरखनाथ ने ईश्वर की भावना शून्यवाद में मानी है और इसी शून्यवाद का प्रचार किया है।[2]

---

१. दे०—गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह—(पृष्ठ ६०—६१)

२. श्री क्षितिमोहन सेन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दादू' में इस शून्यवाद के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"महायान शाधनाय शून्य तत्वटि क्रमशः नाना भावे शूखे ओ ऐश्वर्य-भरिया उठिते लागिलण क्रमे माध्यमिक मतवादे बुद्ध, धर्म, ईश्वर शबाई शून्य होइया उठिलेन वज्रयान योगाचार प्रभृति मतवादी देर कृपाय शून्यई क्रमे होइया दौड़ाइल विश्वेर मूलतत्व। शून्य छाड़ा विश्वजगत् देवदेवी प्रभृति किछइ किछू नय, शबई माया।

एइ शून्यइ क्रमे अलख निरंजन होइया नाथ पंथ निरंजन पंथ प्रभृति देइ मध्ये स्थान पाइल। गोरखनाथ प्रभृति योगीदर मतवादेओ इहा विशेष स्थान जमाइया बशील। औघड़ प्रभृति वारपंथी देर मध्येओ शून्यवादेन गौरव मय स्थान। चौरासी शिद्धादेर उपदेशे शून्य एकटि खूब बड़ कथा।"

—दादू—श्री क्षितिमोहन सेन, पृष्ठ १७९

अर्थात् महायान की साधना में शून्य का महत्त्व ही अनेक प्रकार से सुख और ऐश्वर्यपूर्ण हो क्रमानुसार परिवर्तित हुआ। इसके बाद बौद्ध-धर्म के मध्य-काल में तो शून्य से वह और भी अधिक सम्बद्ध हो गया। वज्रयान के योग और आचार मतावलम्बियों की कृपा से तो शून्यवाद ही आगे चलकर विश्व का मूलतत्त्व हो गया। शून्य के अतिरिक्त अन्य देवताओं का तो जगत् में कुछ अस्तित्व ही न रहा। शून्य को छोड़कर सभी कुछ माया है।

क्रमानुसार यही शून्य अलख निरंजन होकर नाथपंथ, निरंजनपंथ आदि मतों में स्थान पा गया। गोरखनाथ प्रभृति योगियों के मत से इसने विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया। औघड़ प्रभृति वारपंथियों में तो शून्यवाद को गौरव-पूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। चौरासी सिद्धों के उपदेशों में भी एकमात्र शून्य की ही गुणगाथा का विस्तार है।

वस्तुत: शून्यवाद की यह भावना बौद्ध-धर्म से ही ली गई है और नाथपंथियों द्वारा इसे ग्रहण किए जाने के उपरान्त तो आगे चलकर कबीर आदि ज्ञान-मार्गी संतों द्वारा भी इसे अपनाया गया।[1] इस शून्यवाद का प्रचार करने के फलस्वरूप ही गोरख ने योगश्चर्या को अत्यधिक महत्त्व दिया और जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं कि यह योग-साधना ही नाथ-पंथ का आवश्यक अंग समझी गई। यह भी हम स्पष्ट कर चुके हैं कि योग-साधना का महत्त्व वेदों तक में प्रतिपादित हो चुका है और पातंजल मुनि के योग-दर्शन में तो योग-साधना

---

१. वस्तुत: शून्य उस व्यवस्था का नाम है जहाँ कि द्वैतभावना विनष्ट होकर सत् चित् आनंद की अनुभूति साधक को होने लगती है तथा शून्यावस्था को शरीर, मन एवं प्रज्ञा की पहुँच से भी ऊपर समझ उसे ही परम तत्त्व और परमसुख मानकर उसी की साधना को चरम लक्ष्य समझा जाता है। गोरखनाथ ने तो इस 'शून्य' शब्द का अत्यधिक प्रयोग किया है—

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नांवधर हुगे कैसा ॥

'गोरखबोध' में तो मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ के वार्तालाप में शून्य शब्द का प्रयोग बहुत ही अधिक हुआ है—

गोरख— कुण बोलै कुण सोवै,
कुण रूप में माया जोवै।
कुण रूप में जुगजुग रहै।
सद्गुरु होइ सो पूछै कहै।
मछंदर— शब्द बोलै सुरति सोवै।
गोरख— कुणि सुनि उत्पन्ना,
सुमि सुनि गुरि बुझाई?
कुण सुनमें रहा समाई?
मछंदर— सहजेन सुनि उत्पन्ना,
संगि सुनि सतगुरु बुआई।
अजित सुनि में रहा समाई।

स्मरण रहे कि नाथ-सम्प्रदाय में शून्य का संकेत जहाँ ईश्वर की ओर था वहाँ संतों ने शून्य शब्द का प्रयोग निर्गुण सर्वात्मा तथा 'सहस्रदल कमल' दोनों के लिये किया।

पर ही प्रकाश डाला गया है। चूँकि गोरखनाथ की हठयोग की साधना पर मुनि पातंजल के विचारों का प्रभाव पड़ा है अतः यहाँ योगदर्शन में उल्लिखित योगश्चर्या पर संक्षेप में विचार करना अप्रासंगिक न होगा। मूल 'पातंजल दर्शन, में केवल १९५ सूत्र हैं तथा वह समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद नामक चार पादों अर्थात् चरणों में विभाजित है। चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग मानते हुए पातंजल मुनि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामक उसके आठ अंग माने हैं। स्मरण रहे चित्त की क्षिप्तावस्था, विक्षिप्तावस्था, एकाग्रावस्था तथा निरोधावस्था नामक पाँच अवस्थाएँ और सत्व, रज, तमस नामक तीन गुण भी हैं। इन आठ अंगों की बहिरंग तथा अंतरंग नामक दो भूमिकाओं में धारणा, ध्यान और समाधि का सम्बन्ध अंतःकरण के साथ होने के कारण इन तीनों को एक साथ संयम कहकर इन्हें अंतरंग माना गया है तथा शेष पाँचों को बहिरंग। "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच यम कहलाते हैं। "शौच-सन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानियमाः" के अनुसार पवित्रता, संतोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान पाँच प्रकार के नियम हैं; आसन के यद्यपि कई विविध प्रकार हैं लेकिन आत्मसंयम के हेतु सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन विशेष उपयोगी हैं तथा आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति का अवरुद्ध हो जाना ही प्राणायाम समझा जाता है। प्राणायाम के भी पूरक जिसमें श्वास द्वारा स्वाभाविक गति में अवरोध होता है, कुम्भक जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनों ही नहीं रहते तथा रेचक जिसमें प्रश्वास के द्वारा स्वाभाविक गति में अवरोध उत्पन्न किया जाता है नामक तीन प्रकार माने गए हैं परन्तु साथ ही "बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः" के अनुसार बाह्य और अंतरंग के विषयों को त्याग द्वारा होनेवाला केवल कुम्भक नामक प्राणायाम चतुर्थ प्राणायाम माना जाता है। 'योगदर्शन' में प्राणायाम को विशेष महत्त्व दिया गया है तथा "ततःक्षीयते प्रकाशावरणम्" नामक उक्ति द्वारा प्राणायाम के सिद्ध होने पर विवेकज्ञान को आवृत्त करनेवाले पाप एवं ज्ञान का क्षय होना स्वीकार किया गया है तथा इसी प्रकार "धारणासु च योग-यता मनसः" के अनुसार प्राणायाम की सिद्धि से मन का स्थिर होकर धारणाओं के योग्य समर्थ होना समझा गया है। "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" नामक योगदर्शन की पंक्ति द्वारा अपने अपने विषयों के

संग से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के से रूप में अवस्थित हो जाना प्रत्याहार माना गया है और "ततः परमावश्यातेन्द्रियाणाम्:" द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि प्रत्याहार द्वारा इंद्रियों पर पूर्ण अधिकार स्थापित हो जाता है। योगदर्शन के अनुसार "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके ध्येय के आधार स्थान पर लगाना ही धारणा समझा गया है तथा चूँकि वृत्तियाँ भी दश स्थानों पर लगायी जा सकती हैं अतः 'गरुड़ पुराण' में तो दशविधि धारणा भी मानी गई है—

प्राङ्नाम्यां उदये चाथ तृतीये च तथोरसि।
कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्र भ्रूमध्य मूर्धसु॥
किंचितस्यातत्परस्मिंश्च धारणा दश कीर्तिताः॥

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" के अनुसार योगदर्शन में ध्येय वस्तु में चित्तवृत्ति की एकतानता का नाम ही ध्यान माना गया है और जिस समय एकमात्र ध्येय स्वरूप का ही भास होता है तथा अपने निजी स्वरूप के भास का अभाव सा प्रतीत होता है उसी समय यह ध्यानावस्था ही समाधि कहलाती है— "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि।" समाधि में ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों की एकता सी हो जाती है तथा जब वह स्थूल पदार्थ में होती है तब उसे 'निर्वितर्क' समाधि और जब वह सूक्ष्म पदार्थ में होती है तो उसे 'निर्विचार' समाधि कहते हैं। इस प्रकार योगदर्शन में पातंजल ने अष्टांग योग पर भी सुन्दर प्रकाश डाला है और इन आठ अंगों में से पूर्व के चार अंग हठयोग कहलाते हैं तथा बाद के चार अंग राजयोग और इस प्रकार हठयोग तथा राजयोग में श्रेणीभेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद स्वीकार न करते हुए दोनों को एक दूसरे का अंगाश्रित समझा गया है।

स्मरण रहे गोरखनाथ ने जिस हठयोग की साधना का उपदेश दिया है वह प्राचीन परम्परा से कुछ विशेष भिन्न नहीं है और शास्त्रग्रंथों में तो हठयोग साधारणतः प्राणनिरोध प्रधान साधना को ही कहा गया है तथा 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य माना गया है और 'ठ' का अर्थ चंद्र तथा सूर्य और चन्द्र के संयोग को ही हठयोग माना गया है—

हकारः कथितः सूर्यष्ठ कारश्चन्द्र' उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगोनिगद्यते॥

लेकिन ब्रह्मानंद ने सूर्य का अर्थ प्राणवायु और चन्द्र का अर्थ अपानयोग मानकर इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम द्वारा वायु निरोध को ही हठयोग माना है जब कि कुछ विद्वान सूर्य इड़ा नाड़ी को तथा चंद्र पिंगला को मानकर इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु का संचरित होना ही हठयोग मानते हैं और उसे 'हठसिद्धि' का प्रदाता भी कहते हैं। परन्तु हठयोग का साधारणतः यही अर्थ माना जाता है कि वह एक इस प्रकार का अभ्यास है जिससे कि हठात् सिद्धि प्राप्त होने की आशा की जा सकती है। हठयोग के भी दो भेद माने गए हैं जिनमें से प्रथम में आसन्, प्राणायाम, धौति तथा षटकर्म का विधान है जिनसे कि नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं तथा दूसरे में नासिका के अग्रभाग में दृष्टि निषिद्ध कर अंतरिक्ष में कोटि रवि के आलोक को स्मरण कर श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रंगों का ध्यान करना आवश्यक समझा गया है जिनमें कि साधक चिरायु हो हठात् ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है। यों तो हठयोग की दो विधियाँ भी मानी गई हैं जिनमें से प्रथम में 'पातंजलयोगदर्शन' में उल्लिखित आठों अंगों को स्वीकार करने के लिए कहा गया है और यह भी कहा जाता है कि गोरखनाथ के पूर्व यही विधि प्रचलित भी थी तथा दूसरी विधि में 'योगदर्शन' के केवल अंतिम छः अंग ही स्वीकार किए गए हैं और गोरखनाथ द्वारा उपादिष्ट साधना भी यही मानी जाती है परन्तु विचारपूर्वक देखने पर यह भेद ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता क्योंकि स्वयं गोरखनाथ के ग्रंथों में अष्टांगयोग तथा षड्ंगयोग दोनों का महत्त्व है। हठयोग की साधना-पद्धति में सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त महाकुण्डलिनी नामक शक्ति को प्रधानता देते हुए कहा गया है कि व्यक्ति में व्यक्त होने पर यही शक्ति कुण्डलिनी कहलाती है तथा गर्भ में जीव इसी कुंडलिनी और प्राणशक्ति सहित प्रविष्ट होता है।[1] प्रायः

१. कुंडलिनी का महत्त्व तथा वर्णन भी हमें अनादिकाल से अभी तक उपलब्ध होता रहा है। कुछ अवतरण देखिए—

कुण्डलिनी शक्तेश्वरस्थालयं विद्यते। यद्यस्मिन् चक्रे कुमारी कुमारावस्थामापन्ना प्रथमं सुप्तोत्थिता मन्द्रयते मन्द्रं स्वरं करोति।

पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशो पराजिता।

(यजुर्वेद)

अपराजिता कुण्डलिनी शक्तिः षटचक्राणि भित्वा भूयो भूयः प्रविशति।

कुण्डले अस्या स्तः इति कुण्डलिनी।

मूलाधारस्थ वह्नयात्मतेजोमध्ये व्यवस्थिता ॥

समस्त जीव जाग्रत, सुषुप्ति एवम् स्वप्नावस्था में रहते हैं अर्थात् यों तो वे

जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तैजसी।
महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः॥
शक्तिः कुण्डलिनीनाम बिसतंतुनिभा शुभा॥
(योगकुण्डल्युपनिषद्)
पराशक्तिः कुण्डलिनी बिसतन्तुतनीयसी।
(ललितासहस्रनाम)
शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननीव्यापार बद्धोद्यता
(लघुस्तुति)
यदोल्लसति शृंगारपीठात् कुटिलरूपिणी।
शिवार्कमंडलं भित्वा द्रवयन्तीन्दुमण्डलम्॥
(वामकेश्वर तन्त्र)
अष्टधा कुण्डली भूताभूर्ध्वी कुर्यातु कुण्डलीम्।
(योगशिखोपनिषद्)
कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता।
सा शक्ति श्चलिता येन स युक्तो नात्र संशयः।
(हठयोगप्रदीपिका)
अधोमुख सर्पिणी निदेली असे...
विद्युल्लतेची विडी। वन्हि ज्वालां ची घडी।
पंथरेकाची घोटीव जैशी॥
(श्री ज्ञानेश्वरी, अ. ६, २२२-२३-२४)
मग कुण्डलिनी येधा टेंभा। आधारी केला उभा।
तिया चोजविलया प्रभा। निमथावेरी॥
(श्री ज्ञानेश्वरी अ. १२, ५१-५२)
मगशक्ति जे कां कुण्डलिनी। आदिमाया विश्वसंजीवनी॥
शरीर मार्जी असे विजोनी। परी शरीर चालवी स्वसना॥
मग जेवि काते नागाचें पिलें। कुंकुम केशरी सर्वांगी। न्हाणलें॥
नातरीते विद्युल्लते ची विडी। कींते अग्नि ज्वाळांची केवल घड़ी।
नातरी बावन कसाची चोखडी। पुतळी ओतिली॥
(स्वानुभाव दिनकर, कलाप ९)

जागते रहते हैं या सोते रहते हैं या स्वप्न देखते रहते हैं परन्तु इन तीनों ही स्थितियों में कुंडलिनी निश्चेष्ट ही रहती है और उसके द्वारा शरीर धारण का कार्य होता रहता है। कुंडलिनी की स्थिति समझने के लिए शरीर की बनावट की कल्पना भी यहाँ करनी होगी। कुंडलिनी पीठ में स्थित मेरुदंड में है जहाँ कि त्रिकोण चक्र में अवस्थित एक स्वयंभूलिंग है जिसे कि अग्निचक्र भी कहते हैं। वह उस स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में परिवेष्टित कर सर्पिणी की भाँति अवस्थित रहती है। उसके ऊपर चार दलों का एक कमल है जिसे कि मूलाधार चक्र कहते हैं और इस मूलाधार चक्र के ऊपर नाभि के पास छह दलों के कमल के आकार का स्वाधिष्ठान चक्र है तथा उसके ऊपर दस दलों के कमल के आकार का मणिपुर चक्र और उसके भी ऊपर मानस के पास बारह दलों के कमल के आकार का अनाहत चक्र है। उनके भी ऊपर कंठ के पास सोलह दल के कमल के आकार का विशुद्धाख्य चक्र है तथा उससे भी ऊपर भ्रूमध्य में केवल दो ही दलों वाला आज्ञा चक्र है। इस प्रकार ये ही षट्चक्र हैं तथा इन चक्रों का भेदन करने के पश्चात् मस्तिष्क में शून्य चक्र दृष्टिगोचर होता है जहाँ कि जीवात्मा को पहुँचा देना ही योगी का चरम लक्ष्य है। शून्य चक्र ही वस्तुतः गगनमंडल माना गया है और उसे कैलाश भी कहते हैं जहाँ कि शिव का निवास है तथा इस स्थान पर सहस्र दलों वाले कमल की कल्पना की गई है जिसे कि सहस्रार चक्र भी कहते हैं।[1] वस्तुतः मेरुदन्ड में प्राणवायु को वहन करनेवाली कई नाड़ियाँ हैं जिनमें से श्वाच्छोश्वास के समय कुछ आभासित भी होती हैं और बाईं ओर की नाड़ी इड़ा तथा दाहिनी ओर की पिंगला कहलाती हैं। साथ ही दोनों के मध्य सुषुम्ना नामक नाड़ी है जिससे होकर ही कुंडलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। यों तो सुषुम्ना में भी कई नाड़ियाँ हैं और उसके भी अंदर जो ब्रह्मनाड़ी है वही कुंडलिनी शक्ति का वास्तविक मार्ग है। परन्तु प्रायः इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की ही चर्चा की जाती है तथा बहत्तर हजार नाड़ियों के होते हुए भी सुषुम्ना को ही शांभवी शक्ति माना

---

१. अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति॥
—शिवसंहिता ५;१५१-२

गया है और अन्य नाड़ियों को निरर्थक ही समझा गया है। इस प्रकार हठयोग में प्राणवायु का निरोध कर कुंडलिनी को ही उद्‌बुद्ध करनेवाली कहा गया है और यह उद्‌बुद्ध कुंडलिनी क्रमशः षट्‌चक्रों को भेदती हुई सातवें अंतिम चक्र सहस्रार में शिव से जा मिलती है। वस्तुतः इस प्रकार के योग को कुंडलिनी शक्ति योग भी कह सकते हैं क्योंकि कुंडलिनी की सहायता द्वारा ही यह योग-साधना की जाती है। स्मरण रहे कि श्रीमद्-भगवदगीता में योग के कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग नामक तीन भेद माने गए हैं; यद्यपि उसका छठा अध्याय एक प्रकार से हठयोग का भी समर्थक है और सम्मोहनतंत्र में उसके ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, मंत्रयोग और हठयोग नामक पाँच विभाग किए गए हैं जब कि 'योगशिखोपनिषद' में मंत्र-योग, हठयोग, लययोग और राजयोग नामक चार ही प्रकार माने गए हैं लेकिन विचारपूर्वक देखा जाय तो साधना की दृष्टि से इन चारों में अत्यधिक साम्यता है और जैसा कि कुछ लोग हठयोग तथा राजयोग को अलग अलग समझते हैं वह अनुपयुक्त ही है क्योंकि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता गोरखसंहिता तथा हठयोग प्रदीपिका में हठयोग को राजयोग की नींव कहा गया है। हठयोग की साधना में प्राणायाम और मुद्राभ्यास पर विशेष बल दिया गया है बल्कि इसे यों भी कहा जा सकता है कि उन्हें ही सहायक माना गया है।

वस्तुतः गोरखनाथ का तात्विक सिद्धान्त यह है कि परमात्मा 'केवल' है और वह भाव तथा अभाव दोनों के ही परे है तथा न तो उसे भाव (बस्ती) ही कह सकते हैं और न अभाव (शून्य) अपितु उसका नामकरण तक नहीं किया जा सकता—

> बस्ती न शून्यां न बस्ती अगम अगोचर ऐसा।
> गगनसिखर महि बालक बोलहि वाका नाँव धरहुगे कैसा ॥

साथ ही इसी केवलावस्था तक पहुँचना जीव का मोक्ष माना गया है और साधक के लिए सिद्धान्तों पर उतना ध्यान न देकर सिद्धान्त की अनुभूत सिद्धि तक पहुँचने वाले मार्ग पर ध्यान देना आवश्यक समझा गया है और इस प्रकार गोरखनाथ जी कहते हैं कि "शरीर के नवों द्वारों को बन्द करके वायु के आवागमन का मार्ग यदि अवरुद्ध कर लिया जाय तो उसका व्यापार चौंसठ सिद्धियों में होने लगेगा जिससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और

साधक एक ऐसे सिद्ध के रूप में परिणत हो जायगा जिसकी कि छाया भी नहीं पड़ती अर्थात् जो अदृश्य ही रहता है—

अवधू नवघाटी रोकिलै बाट, बाई बणिजै चौसठि हाट ।
काया पलटै अविचल विध, छाया विवरजित निपजै सिध ॥

गोरखनाथ ने सांसारिक विषयबासना को ही नाश का कारण माना है और उनसे बचना अत्यंत आवश्यक समझा है अन्यथा साधना नष्ट हो जाने का उन्हें भय है इसीलिए वे अपने योगभ्रष्ट गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को लक्ष्य कर कहते हैं—

गुरु जी ऐसा काम न कीजै । तायैं अमी महारस छीजै ॥
नदी तीरे बिरिखा, नारी संगे पुरखा,
अलप जीवन की आसा ।
मन थैं उपजी मेर खिसि पड़ई,
तायैं कैंद बिनासा ।
गोड़ भये डगमग, पेट भया ढीला,
सिर बगुला की पंखियाँ ।
अमी महारस बाघणि सोख्या ॥

स्मरण रहे जैसा कि गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में लिखा है—"अस्माकम्यते शक्तिः सृष्टि करोति, शिवः पालनं करोति, कालः संहरति, नाथो मुक्तिं ददाति" नाथ-संप्रदाय में प्रधानतः 'नाथ' का अर्थ मुक्तिदान करनेवाला माना गया है और मुक्तिदान भी वही कर सकता है जो कि स्वयं मुक्त हो। अतएव सांसारिक बंधनों अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से मुक्त होने पर ही वैरागम्य-भावना सुदृढ़ हो सकती है और वैराग्य-भावना जब दृढ़ता के साथ स्थिर हो जाती है तब वह इंद्रिय-निग्रह, प्राण - साधना और मन-साधना नामक तीन मार्ग ग्रहण करती है तथा क्रमशः इन तीनों के आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर साधक में नाड़ी साधन और कुंडलिनी जागरण की शक्ति उत्पन्न होती है अर्थात् हठयोग की साधना हो पाती है। इस प्रकार गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय में हठयोग की साधना को ही प्रधानता दी है और वे कहते है—"इस साधना की सहायता से ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाने पर अनाहत नाद सुनै पड़ता है जो समस्त सारतत्त्वों का भी सार है और गंभीर से गंभीर है जिससे ब्रह्मानुभूति की स्थिति उपलब्ध होती है

जो कि स्वसंवेद्य होने के कारण शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती और तब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उस ब्रह्म-साक्षात्कार के अतिरिक्त समस्त विश्व असत्य सा है—

सारमसारं गहर गंभीरं गगन उचलिया नादं।
मानिक पायां फेरि लुकाया झूठा वादविवादं॥

इस प्रकार गोरखनाथ जी हठयोग का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि यदि मेरे वचनों में पूर्ण विश्वास हो जाए और उसके अनुसार किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि बिना किसी खंभे के आधार पर स्थित क्षितिज में तेल व बत्ती के बिना ही ज्ञान का शुभ्रालोक हो गया और सभी उस प्रकाश में विचरण कर रहे हैं—

थंभ विहूणी गगन रचीलै तेल विहूणी बाती।
गुरु गोरख के वचन पति आया तब द्यौस नहीं तहाँ राती॥

अतएव गोरखनाथ ने प्राणायाम को पूर्ण महत्त्व प्रदान किया है और उनकी दृष्टि में श्वासोच्छ्वास की इस क्रिया द्वारा ही योगसाधना में पूर्ण सफलता प्राप्त होती है तथा वे पंडितों के व्यर्थ के वेदाध्ययन करने की अपेक्षा सर्व-साधारण को इस योग-साधना का ही परामर्श देते हैं जिसके द्वारा परमात्मा आत्मा में उसी प्रकार दृष्टिगोचर होने लगता है जिस प्रकार जल में चंद्रमा का प्रतिबिम्ब और इस प्रकार शरीर भी शुद्ध होकर अमरत्व को प्राप्त करता है। साथ ही गोरखनाथ ने मनोमारण और संतजीवन-यापन को भी अत्यावश्यक माना है। मनोमारण की क्रिया को समझाने के हेतु उन्होंने मृगया का रूपक अंकित किया है और वे कहते हैं—"इस साढ़े तीन हाथ के पर्वत या शरीर में मायारूपी वेल पूर्ण प्रकार से फूली फली है जिसमें मुक्तिरूपी मुक्ताफल होते हैं और जिनके विस्तार में ही समस्त सृष्टि का भी अस्तित्व है। साथ ही इस वेल की मूल नहीं है अर्थात् माया निर्मूल वा मिथ्या है और वह ऊपर तक फैलकर गोस्थान और ब्रह्मानुभूति के स्थान पर आवरण डाले हुए है। इस वेल का लोलुपमृग अर्थात् मन इसमें सर्वदा विचरण किया करता है और उसका वध करने के हेतु हाथ, पैर और दाँतविहीन भील (अर्थात् आत्मा) जिनके पास मृगों को मोहित करने के लिए सुरीली वीणा भी नहीं है और न हाथ में धनुष बाण ही हैं, लेकिन इस प्रकार की दशा होते हुए भी शिकारी अचूक निशान चला देता है और बाह्य साधनों के बिना भी वह उसे

प्राप्त कर लेता है तथा जब वह उक्त मृग को देखता है तो उसे प्रतीत होता है कि वस्तुतः उसके चरण, सींग अथवा पूँछ आदि कुछ भी नहीं हैं। गोरखनाथ जी का विचार है कि यही मृतमृग वह अवधूत या योगी है जिनके रहस्य को हृदयंगम कर लेनेवाला पूर्ण ज्ञानी हो जाता है।" साथ ही गोरखनाथ ने अजपाजाप को आत्म चिन्तन के लिए विशेष आवश्यक समझा है और अजपाजाप वह जाप है जो कि बिना जपे ही होता है अर्थात् जिसमें जिह्वा की आवश्यकता नहीं पड़ती तथा शरीर के रोम रोम में वह 'जाप' स्वाभाविक रूप से सांस के आवागमन के सदृश्य होता रहता है। नाथ योगियों का यह विश्वास सा है कि रात दिन में मनुष्य के इक्कीस हजार छः सौ श्वास चलते हैं और इनमें से प्रत्येक श्वास में अद्वैत भावना रखना ही अजपाजाप कहलाता है अर्थात् अजपा जाप का अभिप्राय यह है कि बिना ब्रम्हभावना के एक भी श्वास व्यर्थ न जाय। साधना की अन्य क्रियाओं में लीन रहते हुए भी इस अजपापाप में साधक को कभी अंतर और व्याघात् नहीं प्रतीत होता तथा थोड़े से अभ्यासमात्र से ही बिना किसी विशेष प्रयत्न के गुप्त रूप से यह भावना—अजपाजाप—निरंतर अपने आप हुआ करती है और ब्रम्हभावना तक उसकी चेतना का स्वरूप हो जाती है—

ऐसा जाप जपो मन लाई। सोऽहं अजपा गाई ।
आसन दिढ़ करि धरोधियाना। अहनिसि सुमिरौ ब्रम्ह गियाना ॥
नासा अग्रनिजज्यों बाई। इड़ा प्यंगुला मधि समाई ॥
षासै सहस इक्कीसौ जाप। अनहद उपजे आपै आप ॥
बंकनाभि मैं ऊगै सूर। रोम रोम धुनि बाजै तूर ।
उलटै कमल सहस्र दल बास। भ्रमर गुफा में ज्योति प्रकास।

इस प्रकार आत्मनिरत हो जाने पर ही साधक की घट अवस्था सिद्ध हो जाती है—

घटहीं रहिबा मन न जाई दूर। अहनिसि पीवै जोगी वारुणि सूर।
स्वाद विस्वाद बाई काल छीन। तब जापिबा जोगी घट काल छीन ॥

इस प्रकार मनोमारण की ओर पूर्ण ध्यान देते हुए गोरखनाथ ने अजपा-जाप तथा ब्रम्हज्ञान दोनों को महत्त्व दिया है तथा वे कहते हैं कि "इस प्रकार मन लगाकर जाप करना चाहिए कि 'सोहं सोहं' का उपयोग वाणी के बिना भी हो सके और दृढ़ आसन पर बैठकर ध्यान करना तथा रात दिन ब्रम्ह-

ज्ञान का चिन्तन आवश्यक है।" वस्तुतः ब्रम्हज्ञान ही वह आत्म-विचार है जिसका कि उक्त साधना के साथ निरंतर चलना आवश्यक है तथा आत्मा को सर्वत्र व्यापक समझते हुए गोरखनाथ आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु आकर्षक नहीं समझते और स्पष्ट रूप से कहते हैं—"आत्मा ही मछली है, वही जाल है, वही धीवर है, वही काल भी। वह स्वयं मारता और स्वयं खाता है तथा माया रूप में अनेक बंधन डालता है और जीवन बनकर उसमें पड़ भी जाता है जिसके बाहर न कोई तीर्थ है जहाँ स्नान किया जा सके और न कोई देवता है जिसका पूजन हो सके। वह अलक्ष एवम् अभेद होते हुए भी जो कुछ है वह वही है।" संक्षेप में हम गोरखनाथ के उपदेशों का सार यह मान सकते हैं कि "दशम् द्वार अर्थात् ब्रम्हरंध्र में सर्वदा ध्यान केन्द्रित रखो, निराकार पद का सेवन करो, अजपाजाप जपो और आत्मतत्त्व पर विचार करो जिससे कि समस्त व्याधाएँ दूर हो जाएँगी तथा पुण्य एवम् पाप से किसी भी प्रकार का संसर्ग न रह जाएगा।" यह भी कहा जाता है कि नाथपंथ पर प्राचीन रसायन सम्प्रदाय का प्रभाव भी पड़ा है और पातंजलमुनि ने भी 'योगदर्शन' के कैवल्यपादवाले प्रकरण में सिद्धि उपलब्धि के हेतु मंत्र, समाधि आदि के अतिरिक्त औषधि की भी सहायता आवश्यक मानी है और इस प्रकार उक्त सम्प्रदाय का ध्येय कायाकल्प के सहारे अमरत्व प्रदान कर मानव-शरीर को जीवनमुक्ति के योग्य बनाना रहा है तथा रसपारद को तो विश्व वारिधि के दूसरी ओर पहुँचाने वाला समझा जाता था अर्थात् उसकी सहायता से जीवनमुक्त सिद्ध अमरत्व प्राप्त कर विश्व में सर्वत्र विचरण कर सकते थे परन्तु विचारपूर्वक देखा जाए तो इस रसायन संप्रदाय का कोई विशिष्ट प्रभाव नाथ-पंथ पर नहीं पड़ा है। यह तो हम स्पष्ट कर चुके हैं कि गोरखनाथ की योग-साधना में शिव और शक्ति को आदि तत्त्व माना गया है और नाथ सम्प्रदाय के पवर्तक तो 'शिव' माने ही जाते हैं। स्मरण रहे गोरखनाथ का उद्देश्य ब्रह्मपदोपलब्धि ही रहा है और साथ ही उन्होंने बहुत से आध्यात्मिक संकेत रहस्यात्मक शैली या उलटबाँसियों तथा विचित्र रूपकों में भी दिए हैं जो कि सर्वसामान्य जनता के हेतु बोधिगम्य नहीं हैं और जब तक उस रहस्यात्मक शैली का परिचय न प्राप्त हो तब तक उलटबाँसियों और उन विचित्र रूपकों का अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता और इन उलटबाँसियों तथा विचित्र रूपकों के बहुत से उदाहरण संतकाव्य में भी दृष्टिगोचर होते हैं। गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह में कहा गया है कि हठयोग की साधना पर आस्था

रखनेवालों के अतिरिक्त समस्त जगत् अमोन्मीलित हो उलटे रास्ते पर ही चल रहा है और इस प्रकार "एक योग के अतिरिक्त अन्य सभी मत - मतों की बात उलटी है। नाथ का अंश नाद, नाद का अंश प्राण, प्राण और शक्ति का अंश बिन्दु तथा बिन्दु का अंश शरीर है। वस्तुत: नाद और प्राण बिन्दु और शरीर से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं अर्थात् शिष्यक्रम पुत्रक्रम की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है लेकिन संसार के सभी व्यक्ति ठीक इसके विपरीत चलते हैं और उनकी दृष्टि में शिष्यक्रम की अपेक्षा पुत्रक्रम ही अधिक मान्य है। सृष्टि का क्रम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, सन्यास, शान्त, हास्य, करुण, रौद्र, वीभत्स, भयानक, अद्भुत, शृंगार, पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव इत्यादि सब बिलकुल उलटा ही है क्योंकि जो श्रेष्ठ है उसे सर्वप्रथम स्थान देना चाहिए और क्रमशः अपेक्षाकृत कम श्रेष्ठ को अतएव यह क्रम ठीक इसके विपरीत ही होगा अर्थात् मोक्ष, धर्म, अर्थ, काम, सन्यास, वानप्रस्थ, गार्हस्थ्य, ब्रह्मचर्य, शान्त, करुण, अद्भुत, वीर, रौद्र, हास्य भयानक, वीभत्स, शृंगार आदि। यही 'योग सम्प्रदाय' और 'तंत्र सम्प्रदाय' की रीति है।"

इस प्रकार की मनोवृत्ति का एक परिणाम यह हुआ कि तांत्रिकों और योगियों ने संसार से उलटी बातें ही कहना प्रारम्भ कर दीं लेकिन इससे उनकी प्रतिष्ठा को तनिक भी आँच नहीं आई और वे इस प्रकार की उलटबाँसियों का प्रचार करने लगे—"लोग कहते हैं गोमांस भक्षण महापाप है। वारुणी पीना निषिद्ध है। परन्तु वास्तव में यही तो कुलीन का लक्षण है क्योंकि गो जिव्हा का नाम है और उसे तालु में उलटाकर ब्रह्मरंध्र की ओर ले आना ही गोमांस भक्षण है। तालु के नीचे जो चन्द्र है उससे जो सोमरस नामक अमृत निःसृत होता है वही तो अमरवारुणी है और इसका पान करना तो निश्चय ही बड़े पुण्य का फल है।" यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि सहजयानी सिद्धों ने भी संध्याभाषा में इस प्रकार के उद्‌गार प्रकट किए थे और आगे चल कर संतकाव्य में भी इसी प्रकार के उद्‌गार प्रकट किए गए हैं लेकिन सिद्धों की अपेक्षा गोरखनाथ की धर्म - साधना भारतीय मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल पाई जाती है और उसमें धर्म को विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर कठोराघात करते हुए जीवन को अधिक से अधिक संयमित और सदाचार के अनुशासन में रख आध्यात्मिक अनुभूतियों

के हेतु सहजमार्ग की व्यवस्था की गई है जिसका परिणाम यह हुआ कि नाथ-सम्प्रदाय के कई अनुयायी महान, विद्वान, चरित्रवान तथा लोकसंग्रही साधक के रूप में मानव समाज के सामने अपना आदर्श रखने में समर्थ हो सके हैं और उनके द्वारा स्वस्थ शरीर, शुद्ध अंतःकरण तथा सात्विक जीवन का निर्माण करने की प्रेरणा मानव-समाज को प्राप्त हुई है।

भक्ति-साधना के विकास में दक्षिण की देन

सम्राट हर्षवर्धन के निधन के पश्चात् भारतवर्ष में केन्द्रीय शक्ति का अभाव होने से समस्त देश में अराजकता सी फैल गई। हर्ष के उपरान्त कोई भी सार्वभौमिक हिन्दू सम्राट के न होने से देश छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। राष्ट्रीय एकता और संगठन के अभाव में इन छोटे-छोटे राज्यों में फूट के बीज पल्लवित होने लगे और भारत की दशा शोचनीय भी हो गई। पारस्परिक द्वेष, कलह तथा ईर्ष्या की भावना का उदय होने से समाज का स्तर भी गिरने लगा। धार्मिक संस्थाओं के लिए कम से कम उत्तर भारत में तो कोई भी अवलम्ब न रहा। स्मरण रहे ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के अर्द्धभाग तक गुप्त साम्राज्य ने भारतवर्ष में वैष्णव भक्ति तथा भागवत धर्म के प्रचार में महान योग दिया था, लेकिन भारतीय इतिहास के इस स्वर्णयुग के समाप्त होते ही उत्तरी भारत में शैव और बौद्ध धर्मों की प्रबलता हो गई जिससे कि भागवत धर्म हर्षवर्द्धन जैसे प्रतापी उत्तर भारतीय सम्राटों द्वारा उपेक्षित होने के कारण निर्बल सा होने लगा, परन्तु वहाँ चाहे वह शनैः शनैः निर्बल सा होता जा रहा हो लेकिन दक्षिण भारत में तो उसको विकसित होने के सुअवसर प्राप्त थे। वस्तुतः आठवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक दक्षिण ही धार्मिक भावनाओं का विशेष केन्द्र रहा है और राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप धर्म की जो धारा दक्षिण में प्रवाहित हो रही थी वह दक्षिण भारत के आचार्यों द्वारा ही उत्तरी भारत में पहुँची। श्रीमद्भागवत् में इसी तथ्य को लक्ष्य कर कहा भी गया है—

> उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
> क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥
> तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डैः खंडिताङ्गका।
> दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्॥
> वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
> जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥

—श्रीमद्भागवत, माहात्म्य अ. १, श्लोक ४८—५०

चूँकि उत्तरी भारत में हिन्दू राजाओं की शक्ति छिन्न-भिन्न होती जा रही थी तथा उन्हें इस्लाम धर्म से भी सामना करना पड़ता था जब कि दक्षिण में चोल और विजयनगर के राजा शक्तिसम्पन्न थे अत: स्वाभाविक ही दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म के विकास को पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त हो रही थीं। जब कि हर्षवर्धन ने हिंदू और बौद्ध धर्म दोनों को ही समान रूप से अपनाया था, पुलकेशिन द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ कर ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान पर पूर्ण ध्यान दिया और उन्हीं दिनों दक्षिण में पल्लववंशीय नरसिंह वर्मा ने पौराणिक धर्म का प्रचार किया तथा महामल्लपुरम् के मंदिरों का निर्माण भी इसी समय हुआ है। आठवीं शताब्दी में दक्षिण में भक्ति-आंदोलन विशेष रूप से प्रारंभ हो गया था और शैव तथा वैष्णव धर्म के आचार्यों ने संयुक्त होकर बौद्ध तथा जैन धर्मों का कड़ा विरोध कर परमात्मा की सत्ता, उदारता और दयार्द्रता का प्रचार किया था। बहुत से विचारकों का मत है कि दक्षिण में भक्ति-आंदोलन का जो यह रूप स्थिर हुआ है उसका श्रेय बहुत कुछ बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म को ही है तथा जैसा कि डॉक्टर ताराचन्द ने "Influence of Islam on Indian Culture" में लिखा है—

"For they took over from Budhism its devotionalism, its sense of the transitoriness of the world, its conception of human--worthlessness, its suppression of desires and asceticism as also its ritual, the worship of idols and stupas or lingamas temples pligrimages, fasts and monastic rules and its idea of supiritual equality of all castes; from jainism they took its ethical tone and its respect for animal life.

The assimilation of these ideas into 'Pauranic theology' and the pervasion of whole with warm human feelings was the achievement of the saintly human-makers of Tamil-land. The celebrated Adiyars (The Saiva Saints) and the Alwars (Vaishava Saints) who flourished between the 7th and the 12th centuries."

तमिल प्रदेश के शैव तथा वैष्णव भक्त

यों तो सभी वैष्णव-सम्प्रदायों का मूल स्रोत वेद ही हैं लेकिन आगे चलकर ईसा की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत में भक्ति-भावना की जो निर्झरणी प्रवाहित हुई है उसके मूल में इन्हीं अडियार शैव भक्तों तथा आळवार वैष्णव भक्तों की भक्तिभावना विद्यमान रही है। चोलवंशीय राजराजकुल शेखर (सन् ९८५-१०१३ ई०) के समय में तंजौर निवासी 'नम्बियानदार' ने शैव-भक्ति साहित्य को ग्यारह भागों में 'तिरुमुरारि' नाम से संकलित किया है जिनमें से 'तिरुशान' नामक प्रथम तीन भाग 'संबंधनूत्तिस्वामी' के संग्रह हैं, दूसरे तीन 'तिरुनाऊ करसू' के और सातवाँ 'सुदंरर' का है तथा ये सातों संग्रह 'देवाराम' नाम से प्रसिद्ध हैं और धार्मिक कृत्यों के समय पर वेदों की भाँति पठित होते हैं। उपनिषदों की सी समकक्षता रखने वाला 'तिरुवाचकम्' नामक आठवाँ संग्रह 'माणिक्कवासहर' का है तथा 'तिरुसेय्या' नामक नवम संग्रह में साधारण कवियों के पद संकलित हैं, और अन्य दो संग्रहों में क्रमशः 'तिरुमूलर' तथा 'नक्किरार' और 'नाम्बियानदार' के पद संग्रहीत हैं। वस्तुतः दक्षिण भारत के इन शैवभक्तों का धार्मिक साहित्य ये ग्यारह संकलन तथा 'प्रियपुराण' ही हैं। शैव भक्तों की भाँति वैष्णव-भक्तों ने भी, जिनकी कि संख्या बारह कही जाती है, जिनमें से चार पल्लव, तीन चोल, एक चेर और चार पाण्डय देश के कहे जाते हैं, भक्ति-आंदोलन में अपना सहयोग दिया है। इन भक्तों में स्त्री प्रचारिकाएँ भी थीं तथा कहा जाता है कि इन आळवार भक्तों ने लगभग चार सहस्र गीत तमिल भाषा में लिखे हैं, जो कि 'प्रबंधम्' के नाम से संग्रहीत हुए हैं और जिनका संकलन-संपादन 'नाथमुनि' ने ईसा की दसवीं शताब्दी में किया है। इन भक्तों ने विष्णु को वासुदेव, नारायण, भगवद्पुरुष आदि के नाम से संबोधित किया है तथा विष्णु को नित्य, अनन्त और अखंड मानते हुए भक्ति में प्रपत्ति अर्थात् पूर्ण आत्मसमर्पण को आवश्यक माना है। ये विष्णु तथा उनके राम और कृष्ण नामक अवतारों की भक्ति वात्सल्य, दास्य तथा कांता भाव से करते थे किन्तु साथ ही प्रेम और आत्मसमर्पण को विशेष महत्त्व देते थे और उनकी भक्तिभावना स्त्री-पुरुष के मधुर संबंध के समान मानी गई है।

शंकराचार्य

चूँकि बौद्ध-धर्म भी विकृत होकर हीनयान, मंत्रयान, वज्रयान तथा सहजयान सम्प्रदायों के रूप में परिवर्तित हो चला था अतः स्वाभाविक ही वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का अथक प्रयास किया जाने लगा और भक्ति सिद्धांतों के निरूपण-हेतु प्राकृत और पाली के स्थान पर संस्कृत को अपनाया गया तथा दक्षिण भारत में कुछ नवीन धर्म संप्रदायों का भी उदय हुआ जिन्होंने कि अपनी-अपनी मान्यताओं को प्रस्तुत कर भक्ति-साधना को पल्लवित किया। भक्ति-संबंधी दार्शनिक सम्प्रदायों में सर्वप्रथम आचार्य शंकर हुए जिन्हें कि भारतीय-दर्शन-मंडल का सर्वाधिक प्रभापूर्ण नक्षत्र माना जा सकता है, और जिनकी गणना न केवल भारत के श्रेष्ठतम विचारकों—याज्ञवल्क्य, आरुणि, गौतम, कणादि और कपिल में जो कि दार्शनिक होने के साथ साथ ऋषि भी थे—अपितु विश्वसाहित्य के प्रसिद्ध दार्शनिकों में करनी चाहिए। वस्तुतः विश्व में अभी तक कोई भी ऐसा दार्शनिक नहीं हुआ जिसके सिद्धान्तों की टीका और व्याख्या करने के लिए इतनी बड़ी संख्या में मेधावी विद्वान आकर्षित हुए हों। शंकराचार्य ने अकेले ही कन्याकुमारी अंतरीप से लेकर हिमालय तक वेदान्त की दुंदुभी को निनादित करते हुए बौद्ध-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया और जैसा कि श्री. महादेव राजाराम बोडस ने 'शंकराचार्य' में लिखा है-"गौतम बुद्ध के समय से तर्कशक्ति और बौद्धिक विचारों का प्राबल्य खूब बढ़ गया था। परन्तु लोगों को यह भली-भाँति विदित हो गया था कि तर्क शक्ति से ब्रह्मज्ञान असंभव है। इसी कारण मीमांसकों की प्रवृत्ति शब्द प्रामाण्य की ओर बढ़ी। उन्हीं के नियमों के अनुसार शंकराचार्य ने वेदान्त शास्त्र का निर्माण किया। तर्कशक्ति के अप्रतिष्ठित और अनिश्चित रहने के कारण ब्रह्मज्ञान का वास्तविक आधार शास्त्र उपनिषद हैं और उपनिषदों के वाक्यों का समन्वय करना ही ब्रह्मज्ञान का मार्ग है। सनातन धर्म के इस सिद्धान्त की स्थापना करके आचार्य ने तर्क बुद्धि द्वारा चंचल बुद्धि को शांत किया। ···· अशांत चित्तों को 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा अन्तर्मुख करके 'अहं ब्रह्मास्मि' का साक्षात्कार कराया। तर्कवितर्कों की तरंगों में धक्के खानेवाले मन को ब्रह्मज्ञान द्वारा स्थिरता प्रदान की।"

यद्यपि शंकराचार्य के जीवन एवं सिद्धान्तों के सम्बन्ध में बहुत कुछ

सामग्री प्रकाश में आ चुकी है परन्तु उनके कालनिर्धारण के संबंध में अभी तक कोई भी सर्वमान्य निर्णय न हो सका। श्रीकृष्णस्वामी अय्यर ने Shanker And His Times में, भाष्याचार्य ने अपनी पुस्तक Age of Shanker में तथा आनंदगिरि ने 'शंकर विजय' में उनका जन्म संवत् ८४५ तथा निधन संवत् ८७७ माना है परन्तु श्री लोकमान्य तिलक ने 'गीता रहस्य' में उनका समय उक्त तिथि से एक शताब्दी पूर्व माना है। शंकराचार्य का जन्म मलाबार प्रदेश में मलाबार नदी के किनारे कलादि नामक एक छोटे से ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम शिवगुरु तथा माता का नाम आर्याम्बा था और वे नम्बूद्री ब्राह्मण थे। अलौकिक प्रतिभासम्पन्न शंकराचार्य विश्व की असारता को लखकर अल्पायु में ही सन्यासी हो गए थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के हेतु सम्पूर्ण देश की यात्रा की थी तथा जाति-पाँति की संकीर्ण परिधि को हटाकर सामाजिक विषमताओं को दूर कर बौद्धमत के समर्थक आचार्यों को पराजित करने का सर्वप्रथम प्रयास भी उन्होंने ही किया है और जैसा कि श्रीकृष्ण-स्वामी अय्यर ने उनके 'मनुष्य पंचक' का अनुवाद करते हुए उनके विचारों को अभिव्यक्त किया है—He, who has learend to look on Phenomena in this light monistic is my Guru, be he a chandal or a twice-born, this is my conviction. यद्यपि कट्टर ब्राह्मणों ने शंकराचार्य के विचारों का घोर विरोध भी किया है परन्तु वे लक्ष्य भ्रष्ट नहीं हुए और उनके पश्चात् जितने भी आचार्य हुए उन सब पर शंकराचार्य का व्यापक प्रभाव पड़ा है। शंकराचार्य वेद को अपौरुषेय मानते हैं और उनका विचार है कि प्रत्येक कल्प में उसकी आवृत्ति होती रहती है। वे उपनिषदों के परम सत्य को हृदयंगम करने के हेतु तर्क को प्रमाण मानते हैं और उनकी दृष्टि में तर्क की सहायता से ही श्रुति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है लेकिन एकमात्र तर्कबल ही हमें सत्य की वास्तविकता से परिचित नहीं करा सकता अर्थात् शंकराचार्य प्रत्यक्ष अनुमान आदि की अपेक्षा शास्त्रप्रमाण वेद पर ही विशेष बल देते थे। उनके मतानुसार श्रुतिकथित सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं है केवल उनकी व्याख्या में ही अन्तर है और इस प्रकार वैदिक धर्म को उन्होंने ज्ञान, जिसमें कि ब्रह्म का स्वरूप निर्णय कर उसका सम्बन्ध जीव और प्रकृति से लगाया जाता है, तथा

आचरण जिसमें कि मनुष्य मात्र के आचरण के संबंध में विचार किया जाता है, नामक दो स्वाभाविक भागों में विभाजित किया है। सैद्धांतिक दृष्टि से शंकराचार्य अद्वैतवादी हैं और उनके मतानुसार श्रुति के मूल सिद्धान्तों द्वारा एक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत् एवम् आनन्दस्वरूप मुक्तस्वभाव ब्रह्म का प्रतिपादन होता है जिसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं है और जिसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है। इस प्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ही उनका मूल सिद्धान्त है और वे ब्रह्म का वास्तविक रूप निर्गुण ही मानते हैं तथा साथ ही साधना के हेतु उन्होंने कर्म करना अनिवार्य माना है। परन्तु उनका विचार है कि अन्त में कर्म को भी त्याग कर सन्यास ग्रहण करना पड़ेगा क्योंकि समस्त वासनाओं और कर्मों से मुक्त हुए बिना ब्रह्मज्ञान असंभव ही है। अतः 'शांकर मत' के अनुसार निवृत्ति मार्ग को, जिसे कि सन्यास निष्ठा भी कहा जाता है, अपनाने पर ही बल दिया गया। परन्तु तर्कसम्मत और समयापेक्षित होते हुए भी 'शांकरमत' के दोनों पक्षों में पूर्ण समन्वय का अभाव होने से भक्तों की रागात्मिका भक्तिभावना पर यह बौद्धिक विश्लेषण पूर्णतः विजय न प्राप्त कर सका और कतिपय शंकर विरोधी दार्शनिक तो शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' ही मानते थे तथा उनके अद्वैत ब्रह्म की कल्पना को बौद्धों के शून्यवाद के समान ही समझते थे, अतएव उसका विरोध करने के हेतु "श्री यामुनाचार्य ने अपने शिष्य श्री रामानुजाचार्य को 'बादरायण सूत्र' पर, भाष्य लिखने का आदेश दिया। ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषद् के आधार पर स्थापित शंकर के अद्वैत के सामने भक्ति-सिद्धान्त की स्थापना असंभव होती देखकर वैष्णव आचार्यों ने इस भाष्य की रचना आवश्यक समझी।" (Collected Works Of Sir R. G. Bhandarker, Vol. IV, P. 17)

रामानुजाचार्य

श्री रामानुजाचार्य का जन्म मद्रास के समीप 'त्रिपुटी' नामक स्थान पर सन् १०१६ में हुआ तथा मृत्यु श्रीरंगम में सन् ११३७ में हुई। उनके पिता का नाम केशव और माता का कांतिमती था तथा वेदान्तसार, वेदान्तसंग्रह, वेदान्तदीप और ब्रह्मसूत्र उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं तथा अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के हेतु उन्होंने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र

एवम् गीता) पर भाष्य भी लिखे हैं। वस्तुत: वे विशिष्टाद्वैतवादी थे और विशिष्टाद्वैत का अर्थ "विशिष्टस्य विशिष्टरूपेणाद्वैतम" अर्थात् विशिष्ट का विशिष्ट रूप से अद्वैत है। जब कि शंकराचार्य ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं मानते और उसकी एकता पर ही जोर देते हैं, श्री रामानुजाचार्य ब्रह्म की एकता को अद्वितीय नहीं मानते अपितु चिन्मय आत्मा तथा जड़ प्रकृति से विशिष्ट मानते हैं। वे चित्त, अचित और ईश्वर नामक तीन पदार्थों को स्वीकार करते हैं, तथा 'शांकर मत' के माया एवम् मिथ्यावाद का खंडन करते हुए जीव, जगत् और ईश्वर तीनों को भिन्न भिन्न मानते हुए भी उन्होंने जीव और जगत् दोनों को एक ही ईश्वर का शरीर मानकर चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही माना है और उनकी दृष्टि में ईश्वर शरीर के इस सूक्ष्म चित्-अचित् से ही क्रमश: अनेक जीव और जगत् की उत्पत्ति हुई है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से विशिष्टाद्वैत कहलाते हुए भी उसमें भक्ति की प्रधानता रही है तथा समर्पण को भक्ति का सर्वश्रेष्ठ अंग कहा गया है और इस प्रपत्ति के अधिकारी शूद्र तक माने गए हैं। रामानुज कर्मनिष्ठा को स्वतंत्र न मानकर ज्ञाननिष्ठा का उत्पादक मानते हैं और इस प्रकार डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में—"रामानुज के अनुसार निष्काम कर्म से संचित कर्मों का नाश होता है। आडम्बरपूर्ण कर्मों का फल अस्थायी होता है तथा ब्रह्मज्ञान का फल अक्षय होता है। परन्तु कर्मों का सम्पादन भगवान् को समर्पित किया जाए तो वह मोक्ष का कारण होता है।" (Indian Philosophy by Sir Radhakrishnan, p. 704) रामानुजाचार्य ने उपासना के हेतु अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय एवम् योग और ध्यान के लिए अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अन्तर्यामी नामक पाँच रूप माने हैं। यद्यपि रामानुज द्वारा स्थापित 'श्रीसम्प्रदाय' द्वारा भक्ति-मार्ग के परिनिष्ठित स्वरूप की स्थापना हुई और उनके विचारों ने भक्ति-आंदोलन को पूर्णत: प्रभावित भी किया तथा उन्हीं का अनुसरण कर परवर्ती वैष्णव प्रचारकों ने शंकराचार्य के 'माया मिथ्यावाद' के सिद्धांत का खंडन भी किया परन्तु सैद्धांतिक दृष्टि से रामानुज का विशिष्टाद्वैत शंकराचार्य के अद्वैतमत का ही एक सुधार था अतः किसी भी दृष्टि से माया को मिथ्या समझकर इसका प्रतिपादन करनेवाले संप्रदायों का खंडन कर भगवद्भक्ति को ही वास्तविक मोक्षसाधन माननेवाले और विष्णु को सर्वोच्च परम तत्त्व समझकर उनकी

उपासना पर जोर देने वाले 'द्वैत सम्प्रदाय' नामक एक नवीन सम्प्रदाय का उद्‌भव हुआ जिसके प्रवर्तक मध्वाचार्य थे जिन्हें कि आनन्दतीर्थ तथा पूर्णप्रज्ञ भी कहा जाता है।

मध्वाचार्य

मध्वाचार्य का समय उनके सम्प्रदाय के मतानुसार संवत् १०४० से १११९ वि. सं. तक माना जाता है परन्तु डॉ० भंडारकर उनका समय वि. सं. १२५४ से १३३३ तक मानते हैं और अपने कथन को सिद्ध करने के हेतु उन्होंने 'महाभारत तात्पर्य' तथा शिलालेखों के प्रमाण भी दिए हैं। श्रीमद्‌भागवत को अपने मत का विशिष्ट आधार मानते हुए शंकराचार्य के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत का विरोध करते हुए मध्वाचार्य ने ईश्वर, जीव और प्रकृति के पाँच-पाँच भेदों पर विशेष रूप से विचार किया है—

(१) ईश्वर और जीव भेद—जीव ईश्वर से तथा ईश्वर जीव से नित्य भिन्न है।

(२) ईश्वर और जड़ भेद—जड़ ईश्वर से तथा ईश्वर जड़ से नित्य भिन्न है।

(३) जीव और जड़ भेद—जीव जड़ से तथा जड़ जीव से नित्य भिन्न है।

(४) जीव-जीव भेद—एक जीव अपर जीव से भिन्न है तथा

(५) जड़-जड़ भेद—एक जड़ दूसरे जड़ से भिन्न है।

मध्वाचार्य परमात्मा को असंख्य गुणों को आधार मानते हैं और उनकी दृष्टि में ब्रह्म का प्रत्येक गुण असीम है तथा वह सब प्रकार से पूर्ण, नित्य और कार्य विधान की दृष्टि से सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, आवरण, बोधन; बंधन तथा मोक्ष नामक आठ श्रेणियों में विभाजित है। साथ ही वे उसे पूर्ण स्वतंत्र एवम् जीवात्मा तथा प्रकृति से भिन्न मानते हैं और उसमें विभिन्न अवतारों के धारण करने की क्षमता भी स्वीकार करते हैं तथा लक्ष्मी को, जिसके कि श्री, भू, ह्री, दक्षिणा सीता, सत्या, भ्रीनी, रुक्मिणी आदि भिन्न भिन्न रूप हैं, उससे भिन्न मानते हुए भी उसकी आश्रिता ही मानते हैं। मोक्ष के वे कर्मक्षय, उत्क्रांति, अचिरादि और भोग नामक चार रूप तथा मुक्तियोग को

सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवम् सायुज्य नामक चार प्रकार का मानते हैं। मध्वाचार्य का महत्त्व इस दृष्टि से बहुत अधिक माना जाता है कि उन्होंने प्राचीन वासुदेव धर्म और भागवत धर्म के स्थान पर नवीन वैष्णव धर्म का सृजन कर व्यवस्थित रूप से भक्ति-भावना को उत्तरी भारत में सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया और जिससे कि शीघ्र ही संस्कृत भाषा के माध्यम से वैष्णव-धर्म का प्रचार करने वाले निम्बार्काचार्य को इस क्षेत्र में प्रविष्ट होने का अवसर प्राप्त हुआ।

निम्बार्काचार्य

श्री निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत या भेदाभेद मत के प्रचारक थे तथा उनके निम्बादित्य, निम्बभास्कर और नियमानन्दाचार्य आदि कई नाम भी मिलते हैं परन्तु प्रसिद्धता उनके निम्बार्काचार्य नाम को ही प्राप्त हुई है तथा भेदाभेदवादी भास्कराचार्य एवम् निम्बार्काचार्य दोनों एक ही व्यक्ति नहीं थे अपितु जैसा कि श्री गोपीनाथ कविराज ने बंगला मासिक 'उत्तरा' अगहन सं० १३३२ में लिखा है "ये दोनों आचार्य पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे।" डॉ० भंडारकर ने उनका समय सन् ११६२ ई० माना है। उनका जन्म वैल्लरी जिले में 'निम्ब' अथवा 'निम्बापुर' ग्राम में हुआ था तथा पिता का नाम जगन्नाथ और माता का नाम सरस्वती था। साथ ही उनके मतावलम्बी उन्हें सुदर्शन का अवतार भी मानते हैं और उनका सम्प्रदाय' प्रपत्ति के सिद्धान्त पर विशेष बल देता है तथा उसे 'सनक सम्प्रदाय' या 'हंस सम्प्रदाय' कहा जाता है।

निम्बार्काचार्य के वेदान्त पारिजात, जिसमें कि ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य हैं, और दशश्लोकी, जिसमें कि उनके सिद्धान्तों का विवेचन है, नामक दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। दशश्लोकी में उपास्य का स्वरूप, उपासक का स्वरूप, कृपाफल, भक्तिरस तथा फलप्राप्ति में विरोधी नामक पाँच ज्ञेय पदार्थ मानते हुए इन्हीं पाँच विषयों के अन्तर्गत ब्रह्म, जीव, जगत, मोक्ष तथा मोक्षसाधन सम्बंधी सिद्धान्त संनिहित किए गए हैं। रामानुज की भाँति वे भी चित्, अचित् और ईश्वर नामक तीन पदार्थों को स्वीकार करते हैं तथा जैसा कि श्री बलदेव उपाध्याय का मत है "उनकी सम्मति में जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी।" (भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४८७) इस प्रकार निम्बार्काचार्य जीव

और जगत् ब्रह्मके साथ द्वैत तथा अद्वैत दोनों प्रकार का संबंध मानते हैं और 'दशश्लोकी-भाष्य' में श्री हरिव्यास देव जी ने लिखा भी है—"एकमेव ब्रह्मविज्ञान रूपं वस्तुतः सर्वाकारम्। जीवब्रह्मणोरभेदेऽप्य वैलक्षण्य व्यवहारीऽवतारावतारिणोरिव नित्यस्तेन न क्वापि वाक्यव्याकोपो भक्ति सिद्धिश्च। न च धर्मसाङ्कर्यम। घटकपालयोर्गुणगुणिनोश्च सत्यप्यभेदे तददर्शनात्।" निम्बार्क ने श्रीकृष्ण को परब्रह्म माना है और क्रममुक्ति तथा सद्योमुक्ति नामक दो प्रकार की मुक्ति भी मानी हैं तथा भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति के हेतु ऐश्वर्यानन्दप्रधान तथा सेवानन्दप्रधान नामक मुक्ति के दो रूप माने हैं और 'दशश्लोकी' में सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करनेवाली श्रीकृष्ण के वामांग-में विराजित तथा सहस्रों सखियों से सेवित राधा की स्तुति भी कृष्ण की स्तुति के साथ की है—

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानमनुरूप सौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिषेवितां सदा स्मरेम देवी सकलेष्ट कामदाम॥

विष्णुस्वामी एवं वल्लभाचार्य

वस्तुतः राधाकृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढंग से उत्तरी भारत में प्रचार करने के फलस्वरूप ही वैष्णव आचार्यों में निम्बार्क को विशेष महत्त्व दिया जाता है और इसीलिए आगे चलकर वल्लभाचार्य को भी राधाकृष्ण की युगल उपासना का प्रचार करने में विशेष सफलता प्राप्त हो सकी तथा वे अपनी पुष्टिमार्गी भक्ति का स्वरूप भी स्थिर कर सके। श्री वल्लभाचार्य से पूर्व विष्णुस्वामी नाम के कुछ आचार्य भी हो चुके हैं जिन्होंने कि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की स्थापना की है जिसे कि शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय और रुद्र सम्प्रदाय भी कहा जाता है। वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी की परम्परा में ही माना जाता है तथा नाभाजी ने अपनी भक्तमाल में उन्हें विष्णुस्वामी की परम्परा का आचार्य ही माना है यद्यपि श्री जी. एच. भट्ट उन्हें विष्णुस्वामी की परम्परा में नहीं मानते—The connection between Vishnu swami and Vallabhacharya cannot, therefore, be accepted as historically and philosophically correct ("A further note on Vishnuswami and Vallabhacharya," by Prof. G. H. Bhatt M. A, 8th Oriental Conference, Mysore.) लेकिन डॉ० भंडारकर ने तो स्पष्ट रूप से

लिखा है कि विष्णुस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त वही था जो वल्लभाचार्य का है। वस्तुत: वल्लभाचार्य के समय तक विष्णु सम्प्रदाय के सात सौ आचार्य हो चुके थे और पद्मपुराण, भविष्यपुराण तथा श्रीधर स्वामी की श्रीमद्भागवत की टीका में भी उनका उल्लेख है—अत: चौदहवीं शताब्दी के पूर्व ही उनका समय माना जा सकता है। साथ ही 'गौडीय दशम खंड' के एक लेख के आधार पर एक विष्णुस्वामी का जन्म सन् ८३० माना जाता है जो कि कांचीनगर में रहते थे। डॉ० दीनदयालु गुप्त के शब्दों में "रायबहादुर श्री अमरनाथ राय जी का इस विषय पर 'भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट-एनल्स' में एक लेख है जिसमें कहा गया है कि "माधवाचार्य तथा श्रीसायणाचार्य के गुरु श्री विद्याशंकर थे और विद्याशंकर का ही दूसरा नाम विष्णुस्वामी था।" इधर यह भी लोकोपवाद प्रचलित है कि महाराष्ट्र में प्रचारित भागवत धर्म के, जो कि वारकरी संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ, अनुयायी ज्ञानदेव और नामदेव आदि भी विष्णुवामी संप्रदाय में ही आते हैं।

वल्लभाचार्य ने जीव और ब्रह्म अर्थात् आत्मा और परमात्मा के शुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है तथा वे ब्रह्म को माया-संबंध से रहित और शुद्ध मानते हैं जिससे कि उनका मत शंकराचार्य से भिन्न शुद्धाद्वैत कहलाता है। वस्तुत: उनकी भक्ति-भावना पुष्टिमार्गी थी यद्यपि विचारकों ने तात्त्विक दृष्टि से उनके संप्रदाय को शुद्धाद्वैत सिद्धान्तवादी, ब्रह्मवादी तथा अविकृत परिणामवादी भी माना है जब कि साधना की दृष्टि से पुष्टिमार्गी कहना ही अधिक उपयुक्त है और स्वयं वल्लभाचार्य ने भी अपने 'पुष्टि-प्रवाह मर्यादा भेद' नामक ग्रंथ में मर्यादा मार्ग, प्रवाह मार्ग तथा पुष्टिमार्ग नाम के तीन मार्ग माने हैं और 'कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टि:' के अनुसार तो श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। भगवद्प्राप्ति के हेतु सांसारिक विषयों का त्याग करना भी वे आवश्यक समझते हैं और 'सुबोधिनी टीका' में तो उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि जब तक कामादिक दोष नष्ट नहीं होते तब तक भक्ति उत्पन्न नहीं होती। ईश्वर, जीव और जगत के सम्बन्ध में वल्लभाचार्य का सिद्धान्त अद्वैतवादी अवश्य है लेकिन शंकराचार्य की अद्वैतता से उनकी अद्वैतता बिलकुल ही भिन्न है। जब कि शंकराचार्य ने एक ब्रह्म को ही सत्य माना है तथा शेष सबको कल्पनामात्र माना है, वल्लभाचार्य जीव और जगत को ईश्वर का अंश मानकर वास्तविक मानते हैं तथा जड़जगत और जीव सृष्टि को सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही अंश मानते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार

श्रीकृष्ण ही पूर्णानन्द स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म हैं तथा 'तत्वदीप निबन्ध' के प्रथम श्लोक में ही उन्होंने कृष्ण की प्रार्थना करते हुए कहा है—

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुत कर्मणे।
रूपनामविभेदेन जगत्क्रीडति यो यतः ॥

उन्होंने अपनी भक्ति में प्रपत्ति को विशेष स्थान दिया तथा गोपालकृष्ण की लीलाओं को अलौकिकता प्रदान कर पुष्टिमार्गीय सेवा में परब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण की सेवा करना ही जीव का परम कर्तव्य समझा। इसमें कोई संदेह नहीं कि ज्ञानमार्ग और योगमार्ग की अपेक्षा वल्लभाचार्य का पुष्टि मार्ग अधिक सुगम तथा प्रशस्त है और कृष्णकाव्य की परम्परा के विकसित होने में उनके दार्शनिक सिद्धान्तों से तो विशेष सहायता प्राप्त हुई है।

वारकरी सम्प्रदाय के भक्त

इधर दक्षिण भारत में विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के लगभग पंढरपुर नामक स्थान के आसपास 'वारकरी सम्प्रदाय' की स्थापना से भारतीय धर्म साधना को विकसित होने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। नामदेव और तुकाराम ने भक्ति के समन्वित रूप का प्रचार सर्वप्रथम पंढरपुर के आसपास ही किया था। पंढरपुर में बिठोबा जी का मंदिर है तथा बिठोबा और पंढरपुर दोनों ही नाम शिव और विष्णु की समन्वयात्मक भक्ति का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। डॉ० भंडारकर का मत है कि पंढरपुर का प्राचीन नाम 'पांडुरंगपुर' है तथा पंढरपुर नाम उसका इसलिए पड़ा क्योंकि उसे पांडुरंग' ने बसाया था। हेमचंद्र के अनुसार 'पांडुरंग' 'रुद्र' अथवा शिव' को कहते हैं और पंढरपुर में तो आज भी शिव का एक मंदिर है तथा यात्री विठोबा जी के दर्शन के पूर्व शिव के ही दर्शन करते हैं। पांडुरंग तो शिव का ही नाम है, यह तो स्पष्ट हो चुका है और इसके साथ-साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत नाम 'विष्णु' कन्नडी भाषा में 'विट्टु' हो जाता है और भंडारकर तो 'विट्ठल' को विष्णु का अपभ्रंश रूप ही मानते हैं। 'विट्ठल' का अर्थ 'ईट पर खड़ा हुआ' (मराठी; विट्=ईट) भी होता है। वस्तुतः वारकरी सम्प्रदाय का प्रवर्तक ज्ञानेश्वर को ही माना जाता है और 'अमृतानुभव' के उनके एक पद से स्पष्ट जान पड़ता है कि उन पर काश्मीरी शैव

सम्प्रदाय के मूलाधार शिवसूत्रों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा था और उन्होंने शंकरमत के मायावाद का खंडन भी किया था—

आणि ज्ञानबन्धु ऐसे ।
शिव सूत्राचे निमिवे ।
ब्रह्माणधीतले असे । सदा शिवे ।

यह तो स्पष्ट ही है कि वारकरी सम्प्रदाय के अनुयायी शिव और विष्णु में भेद नहीं मानते हैं तथा ज्ञानेश्वर की प्रसिद्ध कृति 'ज्ञानेश्वरी' में रोचक और आकर्षक शैली में निर्गुण व निराकार परमात्मा की भक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है। जैसा कि डॉ० शं० दा० पेंडसे ने 'महाराष्ट्रचा सांस्कृतिक इतिहास' (पृष्ठ १४७-१४९) में लिखा है—"गीता के आधार पर अद्वैत एवं द्वैत संप्रदाय के भक्तिमार्ग का सामंजस्य ज्ञानश्वर आदि संतों ने किया। भक्तियोग के द्वारा ही जनता में समता प्रस्थापित करने का ज्ञानदेव का प्रयत्न था।" इसी प्रकार श्री वि० ल० भावे ने 'महाराष्ट्र सारस्वत' में लिखा है—"ज्ञानदेव की कृति 'ज्ञानेश्वरी ही नहीं अपितु वागीश्वरी भी है। वह जैसे एक धर्मग्रंथ है वैसे ही वह काव्यगंगा भी है।" प्रो० न० र० फाटक ने भी 'ज्ञानेश्वर आणि ज्ञानेश्वरी' में लिखा है—"उत्तरी भारत में इस्लाम के आने से जो राजकीय आक्रमण और धार्मिक संक्रमण हुआ उसके कारण साधारण जनता किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रही थी, पर गीता का आधार लेते हुए ज्ञानदेव ने जनता में आत्मविश्वास का निर्माण किया।" वारकरी सम्प्रदाय का नाम वस्तुत: दो शब्दों अर्थात 'वारी' एवं 'करी' के संयोग से बना है जिसका अर्थ 'परिक्रमा' करने वाला था। लेकिन यह परिक्रमा पंढरपुर के मंदिर में स्थापित विठोबा की मूर्ति तक ही सीमित रही। परन्तु नामदेव केवल पंढरपुर में ही नहीं रहे बल्कि उनकी यात्राएँ उत्तर भारत में हस्तिनापुर और बदिरकाश्रम तक हुई। शनै: शनै: इन भक्तों की भक्ति का मूल अद्वैती स्वरूप भी द्वैतभाव से प्रभावित जान पड़ने लगा और सगुणोपासक भक्तों में तथा उनमें कोई विशेष अन्तर न दृष्टिगोचर होने लगा। फलत: उसमें निर्गुण सर्वात्मस्वरूप, अद्वैत ब्रह्म के प्रति पूर्ण निष्ठा होते हुए भी सगुण प्रतिमा के समक्ष कीर्तन करने में आपत्ति न समझी गई। सब जाति और वर्ग के लोगों को धर्म दीक्षा देना भी इस सम्प्रदाय की एक महान विशेषता थी। इसी प्रकार महानुभाव पंथियों ने भी धर्मसाधना को विकसित होने में अपना महत्वपूर्ण योग दिया है तथा श्री नारायण वासुदेव

गोडबोले के शब्दों में--"वल्लभ संप्रदायियों के समान महानुभाव पंथी भी कच्छ, मत्स्यादि दशावतारों में भगवान श्रीकृष्णचंद्र को ही पूर्णावतार मानते थे और आदि शक्ति सर्वगुण एवं अंशों का यथार्थ स्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के रूप में ही देखते थे।" कवि नरेंद्र की रुक्मिणी स्वयंबर तो महानुभाव पंथ की एक उल्लेखनीय कृति मानी जाती है। रामभक्ति के सर्वप्रथम आचार्य और दक्षिण में उद्भूत होने वाले भक्ति आन्दोलन को पूर्णता की दिशा में पहुँचाने का श्रेय रामानन्द जी को ही है तथा जैसा कि डॉ० ताराचंद ने लिखा है उत्तर और दक्षिण की भक्ति पद्धति का समन्वय रामानन्द का एक महान् कार्य है—"Ramanand was the bridge between the Bhakti-movements of South and the North."

आगे चलकर सोलहवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण की विभिन्न अंतर्प्रांतीय भाषाओं में कई ऐसे सगुणोपासक भक्त कवि हुए जिनकी भक्ति-साधना सूर और तुलसी से किसी भी भाँति न्यून न थी तथा उन्होंने अपने साहित्य में कृष्ण काव्य की परम्परा को भी अक्षुण्ण बनाए रखा। इसी समय दक्षिण के प्रसिद्ध भक्त शिरोमणि पोतनामात्य ने जिन्हें कि पोतन्न या पोतन्ना भी कहा जाता हैं तेलगू में भागवत का अनुवाद किया है और वे अपने काव्य सृजन का उद्देश्य भक्त कवियों की भांति भवबंधन से मुक्ति पाना ही मानते हैं—

ओनरन् नन्नयादि कवुली युर्विन बुराणावलुल
तेनुगुन जेयुचु मत्पुराकृत शुभोदिकंबु दानेद्दिदो
तेजुगुन जेयुड मुन्नु भागवत मुनु, दीनिन देनिगिंचि ना
जननंबुन् सफलंबु जेसद बुनर्जन्मबु लेकुँडगन् ॥

साथ ही चाटु विट्ठलनाथ ने भी कन्नड़ में भागवत का अनुवाद किया है और कन्नड़ भाषा में 'दासर पदागुल' नामक बहुत से वैष्णवदासों द्वारा रचित पदों का एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। कनकदास की मोहन तरंगिणी भी एक उल्लेखनीय कृति है। इसी प्रकार पुरंदरदास ने भी कृष्ण विषयक बहुत से पद लिखे हैं।

इस प्रकार भारतीय भक्ति-साधना के विकास में दक्षिण के भक्ति आंदोलन ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

भारतीय भक्ति-साधना में तमिल संतों का योग

भारतीय भक्ति-साधना के प्रारंभिक विकास के विषय में विचार करने के उपरान्त स्पष्ट रूप से विदित हो जाता है कि वैदिक युग से चली आती भक्ति की अजस्र धारा उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रंथों, स्मृतियों, पुराणों, बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, सहजयानी सिद्धों तथा नाथपंथी योगियों के कारण अपना रूप एवं मार्ग परिवर्तित कर चुकी थी और यदि हम यह कहें कि उत्तरी भारत में गुप्तकाल समाप्त होने तक वह समाप्तप्राय-सी होने लगी थी तो कोई अत्युक्ति न होगी। उत्तरी भारत में चाहे उसका प्रभाव मंद-सा पड़ता जा रहा हो, लेकिन दक्षिणी भारत में तो वह अभी भी तीव्र गति से निर्झरित हो रही थी, और पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत में जो सगुण-धारा के भक्त कवियों ने विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों के पारस्परिक वैमनस्य को दूर कर शैव, शाक्त एवं अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध स्थापित कर हिंदी साहित्य को महत्त्वपूर्ण देन दी है, उसमें भी दक्षिण के तमिल भक्तों का विशेष प्रभाव है।

डॉ० ग्रियर्सन ने भारतीय भक्ति-आंदोलन पर विचार करते हुए लिखा है—"कोई भी व्यक्ति जिसे कि पन्द्रहवीं शताब्दी तथा बाद की शताब्दियों के साहित्य का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ है, उस भारी व्यवधान (Gap) को लक्ष्य किए बिना नहीं रह सकता, जो प्राचीन एवं नूतन धार्मिक भावनाओं में दृष्टिगोचर होता है। हम अपने आपको इस प्रकार के धार्मिक आंदोलन के सामने पाते हैं जो उन समस्त आंदोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है। यहाँ तक कि वह बौद्ध-धर्म के आंदोलन से भी अधिक विशाल है, क्योंकि उसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है। इस युग में धर्म, ज्ञान का नहीं, अपितु भावावेश का विषय हो गया था। यहीं से हम साधना एवं प्रेमोल्लास के प्रदेश में प्रवेश करते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो वस्तुत: काशी के दिग्गज पंडितों की श्रेणी के नहीं, अपितु जिनकी समता मध्ययुग के यूरोपीय भक्त बर्नार्ड ऑफ क्लेयर वॉक्स, थामस ए केम्पिटन और सेंट थेरिसा से है।"

जिन्होंने इस भक्ति-साधना के वास्तविक विकास पर विचार नहीं किया, उन्हें यह देख कर कौतूहल ही होता है। स्वयं डॉ० ग्रियर्सन भी आश्चर्य-

चकित हो कर कहते हैं, "अचानक ही विद्युत के आलोक के समान तत्कालीन धार्मिक मतों के ऊपर एक नयी बात दृष्टिगोचर हुई। इसे भक्ति-आंदोलन कहना चाहिए। कोई भी हिन्दू नहीं जानता कि वस्तुतः यह बात कहाँ से आयी तथा कोई भी इसका आविर्भाव-काल निर्धारित नहीं कर पाता।[१] स्मरण रहे कि डॉ० जार्ज ग्रियर्सन ने इस आंदोलन का संबंध मध्ययुग के मर्मी ईसाइयों से स्थापित करते हुए उसे ईसाइयत की देन माना है, और उनके इस दृष्टिकोण को अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पाश्चात्य विचारकों ने तो सर्वदा ही भारत में जो कुछ स्पृहणीय समझा है उसका संबंध यूरोप से अवश्य स्थापित किया है। इसे चाहे उनकी अहंमन्यता समझा जाए या विकृत देश-भक्ति, लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि यह भारतीय भक्ति-आंदोलन विशुद्ध भारतीय ही था। यह कहना तो और भी अधिक उपहासास्पद समझा जाएगा कि जब मुसलमानों ने हिन्दू देवालयों को नष्ट करना प्रारंभ किया तो हिन्दू लोग भजन-भाव में जुट गए। वस्तुतः भारतीय भक्ति-साधना प्रकृत रूप में विकास के पथ पर अग्रसर होती गयी, और उसके विकास में मूलतः दक्षिण भारत के तमिल भक्तों तथा वैष्णव आचार्यों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। दक्षिण भारत में यह आंदोलन क्यों हो सका, इस पर विचार करते समय हमें तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर भी ध्यान देना होगा।

हर्ष के उपरान्त किसी भी सार्वभौमिक सम्राट् के न होने से, देश छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया तथा राष्ट्रीय एकता एवं संगठन के अभाव में इन छोटे-छोटे राज्यों में भी फूट के बीज पल्लवित होने लगे। भारत की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी। पारस्परिक द्वेष, कलह तथा ईर्ष्या की भावना का उदय होने से सामाजिक स्तर भी दिन प्रतिदिन गिरने लगा, और उत्तर भारत में तो धार्मिक संस्थाओं के हेतु कोई भी अवलम्ब न रहा। ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के अर्द्धभाग तक गुप्त साम्राज्य ने भारतवर्ष में वैष्णव भक्ति तथा भागवत धर्म के प्रचार में अपना महान् योग दिया था, लेकिन भारतीय इतिहास के इस स्वर्णयुग के समाप्त होते ही, उत्तरी भारत में शैवों और बौद्ध-धर्मावलम्बियों की प्रबलता हो गयी।

---

१ Modern Hinduism and its Debt to the Neostorians (ले० डॉ० जार्ज ग्रियर्सन); Journal of Royal Asiatic Society में संगृहीत।

भागवत धर्म हर्षवर्धन जैसे प्रतापी उत्तरभारतीय सम्राटों द्वारा उपेक्षित होने के कारण निर्बल-सा होने लगा, परन्तु दक्षिण भारत में तो उसको विकसित होने के पूर्ण सुअवसर प्राप्त थे। वस्तुतः आठवीं से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक, दक्षिण भारत ही धार्मिक भावनाओं का केन्द्र रहा है। राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप भक्ति की जो धारा दक्षिण में प्रवाहित हो रही थी, वह दक्षिण भारत के आचार्यों द्वारा ही उत्तरी भारत में पहुँची। श्रीमद्भागवत में इसी तथ्य को लक्ष्य कर कहा गया है—

उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥
तत्र घोर कलेर्योगात् पाखण्डैः खंडिताङ्का।
दुर्बलहं चिरं याता पुत्राभ्याम् सह मन्दताम्॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
नाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥
—श्रीमद्भागवत अ० १ श्लोक, ४८-५०

उत्तरी भारत में हिन्दू राजाओं की शक्ति छिन्न-भिन्न होती जा रही थी, तथा उन्हें इस्लाम धर्म का भी सामना करना पड़ता था, जब कि दक्षिण में चोल और विजयनगर के नरेश पूर्ण-शक्ति-सम्पन्न थे। अतः दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म के विकास की पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त हो रही थीं। हर्षवर्धन ने तो हिन्दू और बौद्ध धर्म दोनों को ही समान रूप से अपनाया था, लेकिन पुल-केशिन द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ कर ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान पर पूर्ण ध्यान दिया। उन्हीं दिनों दक्षिण में पल्लववंशीय नरसिंह वर्मा ने भी पौराणिक धर्म का प्रचार किया और महामल्लपुरम् के मंदिरों का निर्माण भी इसी समय हुआ। आठवीं शताब्दी में तो दक्षिण भारत में भक्ति-आंदोलन विशेष रूप से प्रचलित हो गया था तथा शैव और वैष्णव धर्म के आचार्यों ने संयुक्त होकर बौद्ध एवम् जैन-धर्म का कड़ा विरोध करते हुए परमात्मा की सत्ता, उदारता और दयार्द्रता का प्रचार किया था।

कुछ विचारकों का यह भी मत है कि दक्षिण में भक्ति-आंदोलन का जो यह रूप स्थिर हुआ, उसका बहुत कुछ श्रेय बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म को ही है परन्तु डॉ० ताराचन्द के इस कथन से कि दक्षिण भारत में जो भक्ति-भावना विकसित हुई है वह बौद्ध एवम् जैन धर्म से प्रभावित रही है, हम

किसी भी भाँति सहमत नहीं हो सकते। हमारी दृष्टि में तो इन दोनों धर्मों के उद्भूत होने के पूर्व ही दक्षिण भारत में वैष्णव-भक्ति उदय हो चुकी थी। इधर नासिक में उपलब्ध 'नानाघाट' के शिला-लेख से स्पष्ट रूप में ज्ञात हो जाता है, कि वस्तुत: भागवत धर्म अपनी जन्मभूमि मथुरा-प्रदेश से चल कर ईसा से पूर्व ही प्रथम शताब्दी में दक्षिण भारत में प्रवेश कर चुका था और साथ ही कृष्णा जिले के 'चाइना' नामक शिलालेख द्वारा भी ज्ञात होता है कि ईसा के पश्चात् दूसरी शताब्दी तक दक्षिण की ओर यह और भी अधिक बढ़ चुका था। इसी प्रकार प्रयाग की सम्राट् समुद्रगुप्त वाली प्रशस्ति में कांजीवरम् के विष्णुगोप नाम का उल्लेख किए जाने से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह ईसा की चौथी शताब्दी तक तो सुदूर दक्षिण में प्रचलित भी हो चुका था।[१]

वस्तुत: तमिल प्रदेश के निवासी ईस्वी शताब्दी के प्रारम्भ होने के पूर्व से ही पूर्णत: सभ्य और समृद्ध तथा कला, उद्योग, वाणिज्य आदि में उन्नत थे। दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का उदय कब हुआ, इस विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद-सा है; अत: उनके विचारों का अनुशीलन करते हुए किसी उचित निर्णय पर पहुँचना अप्रासंगिक न होगा। तमिल साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते समय कॉडवेल ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि वस्तुत: दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की उत्पत्ति रामानुज द्वारा ही हुई, और इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी या उसके उपरान्त ही वैष्णव भक्ति को विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ होगा। अन्य लेखकों ने भी कॉडवेल के विचारों का समर्थन करते हुए यही माना है कि आळवार संत रामानुज के अनुयायी थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं को प्रस्तुत करते हुए कुछ विद्वानों ने तो वैष्णव धर्म का प्राचीन भारतीय इतिहास में कहीं उल्लेख भी नहीं पाया है, लेकिन डॉ० भंडारकर ने 'वैष्णविज्म, शैविज्म एन्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स' में तथा श्री कृष्णस्वामी अय्यंगार ने 'अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया' में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि दक्षिण में वैष्णव धर्म का उद्भव, ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग हो चुका था। ऐयंगार महोदय ने पद्मपुराण की एक कथा को उद्धृत करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि—"The Points worthnoting in this

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि वैष्णव सेक्ट—प्रो० राय चौधरी (पृष्ठ १०)

Story for our purposes is that the Dravida country was the land of birth of Bhakti which flourished to a gradually diminishing extent in the karnataka, Mahatashtra and Gujarat."

पद्मपुराण में एक स्थल पर लिखा है कि देशाटन करते समय एक बार मुनि नारद गोकुल पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक नारी को धूल-धूसरित स्थिति में दो युवा पुत्रों के साथ देखा, जो कि मृत-सदृश्य प्रतीत हो रहे थे। नारद उक्त स्त्री को देख कर अत्यन्त दुखी हुए तथा उन्होंने उससे उस स्थिति में पहुँचने का कारण पूछा। तब उस नारी ने उनसे कहा कि वह द्रविड़ प्रदेश में उत्पन्न हुई, और कर्नाटक तथा महाराष्ट्र में पाली-पोसी जा कर युवा होती हुई दो पुत्रों-सहित गुजरात पहुँची, जहाँ कि उसे निर्वाह करना कठिन हो गया, और इसलिए शोचनीय दशा में होने के कारण ही उसे अपने इन दो मृततुल्य पुत्रों-सहित यहाँ आना पड़ा है। उसने नारद से यह भी कहा कि उसका नाम भक्ति है तथा उसके ये दोनों पुत्र क्रमशः ज्ञान और वैराग्य हैं। इस कथा से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति का उद्भव दक्षिण में द्रविड़-प्रदेश में ही हुआ था, और यह भी स्पष्ट है कि अडियार तथा आळवार संत वस्तुतः तमिल-प्रदेश में ही उत्पन्न हुए थे, और यह अनुमान कि भारतीय भक्ति-आंदोलन को विकसित करने में सर्वप्रथम उन्होंने ही सहयोग दिया था, वास्तविक प्रतीत होता है। अय्यंगार महोदय ने तो तीसरी शताब्दी के एक नवप्रकाशित 'परिपड़ल' नामक तमिल काव्य-संग्रह का उल्लेख करते हुए यह भी लिखा है कि कम-से-कम तीसरी शताब्दी तक निश्चय ही दक्षिण में भक्ति-आंदोलन विकसित हो चुका था, और उसका प्रभाव शनैः-शनैः उत्तर पर भी पड़ने लगा था।

यद्यपि श्री कृष्णस्वामी अय्यंगार ने प्रबन्धम् के पदों का उद्धरण देते हुए यह भी लिखा है "Tradition says that he proclaimed we have learnet the religion of the Sramana (*Jainisim*), we have examined the Agama of Sankaranar (*Saiva Agama*); but by fortunate good luck we have come to rest our faith in the black one with red eyes and got rid of all that is evil. There is hereafter nothing impossible to us." अर्थात् आळवार भक्तों ने स्वयं ही यह स्वीकार

किया है कि उन्होंने बौद्ध, जैन और शैव-धर्म के ग्रंथों का अनुशीलन किया था, परन्तु अय्यंगार महोदय इस अवतरण को न केवल लाक्षणिक समझते हैं, अपितु वे तो इसे किसी साक्ष्य के रूप में स्वीकार करना भी संदेहास्पद ही मानते हैं। साथ ही यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि कदाचित् प्रबन्धम् का श्री अय्यंगार द्वारा उद्धृत पद किसी परवर्ती संत की रचना हो, जो कि बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म के पश्चात् वैष्णव धर्म की ओर उन्मुख हुआ होगा। ऐतिहासिक तथ्यों से भी प्रारम्भिक आळवार संतों की प्राचीनता सिद्ध की जा चुकी है, अत: हमें उक्त अवतरण से तथा डॉ० ताराचन्द के कथन से सहमत होने का कोई भी कारण दृष्टिगोचर नहीं होता।

यों तो सभी वैष्णव सम्प्रदायों का मूल स्रोत वेद ही है, लेकिन जैसा कि हम कह चुके हैं, आगे चल कर ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत में भक्ति-भावना की जो निर्झरिणी प्रवाहित हुई है, उसके मूल में इन्हीं अडियार शैव भक्तों तथा आळवार वैष्णव भक्तों की भक्तिभावना विद्यमान रही है। चोलवंशीय राजकुलशेखर (सन् ९८५-१०१३ ई०) के समय में तंजौर-निवासी 'नम्बियानदार' ने शैवभक्ति-साहित्य को ग्यारह भागों में 'तिरुमुरारि' नाम से संकलित किया है, जिनमें से 'तिरुज्ञान' नामक प्रथम तीन भाग 'सम्बन्धमूर्ति स्वामी' के संग्रह हैं, दूसरे तीन 'तिरुनाऊ करसू' के और सातवाँ 'सुन्दर' का है, तथा ये सातों संग्रह 'तेवाराम' नाम से प्रसिद्ध हैं, और धार्मिक अवसरों पर वेदों की भाँति पठित होते हैं। उपनिषदों की समकक्षता रखने वाला 'तिरुवाचकम्' नामक आठवाँ संग्रह 'माणिक्कवासहर' का है, तथा 'तिरुइसेय्या' नामक संग्रह में साधारण कवियों के पद संकलित हैं, और अन्य दो संग्रहों में क्रमश: 'तिरुनूलर' तथा 'नक्किरर' और 'नम्बियानदार' के पद संगृहीत हैं। वस्तुत: दक्षिण भारत के इन शैवभक्तों का धार्मिक साहित्य ये ग्यारह संकलन तथा 'प्रियपुराण' ही हैं।

शैव भक्तों की भाँति वैष्णव भक्तों ने भी जो कि 'आळवार' संतों के नाम से प्रसिद्ध हैं, और जिनकी संख्या बारह कही जाती है, तथा जिनमें से चार पल्लव, तीन चोल, एक चेर और चार पाण्डय देश के कहे जाते हैं, भारतीय भक्ति-आंदोलन में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इन भक्तों में स्त्री प्रचारिकाएँ भी सम्मिलित थीं, तथा कहा जाता है कि इन आळवार भक्तों ने लगभग चार सहस्र गीत तमिल भाषा में लिखे हैं जो कि 'प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध हैं और वेदों की भाँति मान्य हैं। सभी वैष्णवोपासक अपने-अपने घरों में तथा देवालयों में और सभी प्रकार के उत्सवों, धार्मिक कृत्यों और

पूजाओं आदि में एक स्वर से 'तिरुवाय मोळी' नामक दिव्य प्रबन्धम् को गाते हैं, जिसका अर्थ तमिल भाषा में 'संतों के मुख से निकली हुई दिव्य वाणी' है। वस्तुत: इन गीतों में विष्णु को वासुदेव, नारायण, भगवद्पुराण आदि के नाम से संबोधित करते हुए उन्हें नित्य, अनन्त और अखंड मान कर भक्ति में प्रपत्ति अर्थात् पूर्ण आत्मसमर्पण को आवश्यक माना गया है। आळवार संतों ने सभी जाति और वर्ग के मनुष्यों को अपनाया था; वे धार्मिक भेदभाव नहीं रखते थे और राम तथा कृष्ण नामक अवतारों की भक्ति वात्सल्य, दास्य तथा कान्ता भाव से करते थे। साथ ही वे प्रेम तथा आत्मसमर्पण को विशेष महत्त्व देते हुए भक्ति-भावना को स्त्री-पुरुष के मधुर सम्बन्ध के समान समझते थे। वस्तुत: वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गी भक्ति और चैतन्य महाप्रभु की रागानुराग भक्ति का प्रेरणास्रोत 'प्रबन्धम्' के इन गीतों में ही दृष्टिगोचर होता है, तथा इन पदों की मधुरता के फलस्वरूप ही बहुत से पदों का अँग्रेजी में अनुवाद भी किया गया है तथा डा० पोप ने भी इन गीतों की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"The fact of these songs—full of living faith and devotion—was great and instantaneous South India needed a 'Personal God' an assurance of immortality and a call to prayer. These it found in Manikkvashar Compositions."

इधर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने यह भी उठता है कि वस्तुत: इन शैव तथा वैष्णव भक्तों में प्राचीन किसे माना जाए? यों तो शिवोपासना अनादिकाल से है, तथा पाश्चात्य विद्वान् भी इसे स्वीकार कर चुके हैं कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व शैव-धर्म प्रचलित था और ईस्वी सन् ७०० से तो दक्षिण भारत के शैव संतों के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं, तथा उनका विस्तृत विवरण भी प्राप्त होता है। डॉ० भंडारकर तथा श्री अय्यंगार, दोनों के विचारों को प्रस्तुत करते हुए हम स्पष्ट कर चुके हैं कि दोनों ने ही वैष्णव भक्ति का विकास दक्षिण में ईसा की प्रथम शताब्दी में माना है, और अय्यंगार महोदय तो ईसा की तीसरी शताब्दी से परवर्ती मानने को किसी भी भाँति तैयार नहीं हैं। कुछ विद्वानों का तो यह मत है कि वस्तुत: प्रारम्भ में शैव धर्म ही दक्षिण में विकसित हुआ तथा वैष्णव धर्म उसका अनुकरण करता हुआ ही प्रचलित हुआ; अर्थात् वैष्णव धर्म को ये विद्वान् परवर्ती ही मानते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण स्वामी अय्यंगार का कथन है

कि वस्तुतः आळवार भक्तों का वैष्णव साहित्य परिमाण की दृष्टि से शैव भक्तों की अपेक्षा अधिक है, लेकिन उन्होंने इन दोनों की प्राचीनता के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश न डाल कर, इन दोनों के पारस्परिक सामंजस्य को ही स्वीकार किया है–"On examining the works themselves the conclusion is born in upon us that the first Alvars the three of them and Tirumalisali were the earliest in age, that age being the age of the *Sangam* celebrities. They all of them speak glorifying Vishnu *bhakti* (devotion to Vishnu) but at the same time the dew do regard Siva *bhakti* (devotion to Siva) with considerable sympathy, and make a visible effort to keep the Saivas in countenace. The earliest Alvars go the length even of describing Siva and Vishnu as one, although they do recognise the united form Vishnu. इस अवतरण द्वारा यद्यपि यह स्पष्ट होता है कि आळवार भक्तों का ध्येय विष्णु और शिव का एकीकरण कर उन्हें एक रूप में चित्रित करना था, मूलतः वे वैष्णवोपासक ही थे और जिस प्रकार हमारे हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास ने वैष्णवोपासना तथा शैवोपासना दोनों को ही समान महत्त्व देकर अपने समन्वयवादी धार्मिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है, जब कि वे मूल रूप से रामोपासक ही थे और राम का ही गुणगान विशेष रूप से करते थे, उसी प्रकार इन आळवार भक्तों ने भी विष्णु तथा शिव में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है; यद्यपि वे मूलरूप से विष्णु को ही महत्त्व देते थे। दक्षिण के आळवार संत चाहे अडियार संतों से कुछ परवर्ती अवश्य हों, लेकिन यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारत में वैष्णव धर्म ही प्राचीन है और इन पंक्तियों के लेखक ने अपने एक निबन्ध में सप्रमाण इसे सिद्ध करने का प्रयास भी किया है।[1]

आळवार शब्द का अर्थ 'मग्न' माना जाता है, और इस प्रकार भगवद्-भक्ति तथा भगवद्गुणों के अनुभव में मग्न रहने वाले भक्तों को तमिल-देश में 'आळवार' भक्त कहा जाने लगा। साधारणतः पहले तो तमिल भाषा में

१. देखिए 'भक्ति साधना का क्रमिक विकास।

आळवार शब्द से आशय किसी ऐसे संत महात्मा से लिया जाता था, जिसने कि आध्यात्मिक ज्ञान-रूपी उदधि में गहरा गोता लगाया हो, लेकिन अब यह आळवार शब्द केवल उन्हीं बारह वैष्णव भक्तों के लिए ही प्रयुक्त होता है जो कि आज से लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व उस प्रदेश के विभिन्न स्थानों में उत्पन्न हुए थे। हम आळवार भक्तों को प्रेम और आनन्द की वह दिव्य सरिता कह सकते हैं, जिसने कि सच्चिदानन्द रूपी पयोधि में सम्मिलित हो कर शांति प्राप्त की थी, तथा जो कि गीता की सजीव प्रतिमा, उपनिषदों के आदर्श उदाहरण, भगवान के चलते-फिरते देवालय एवम् भगवत्प्रेम की कलकल-निनादिनी निर्झरिणी थे। उनका जीवन इतना सरल, विनयी और ईश्वरानुरागी था, कि उन्होंने कभी भी इस बात की चिन्ता न की कि उनके इन मनोमुग्धकारी पदों से दूसरे परिचित हों। साथ ही अन्य धर्म-प्रचारकों की भाँति उन्होंने अपने उपदेशों का प्रचार भी नहीं किया, अपितु उनका जीवन भगवान की ओर बड़ी तीव्रगति से प्रवाहित होने वाला एक सतत प्रवाह था और उन्होंने भगवान के चरणों का ही आश्रय ग्रहण किया था। वस्तुतः उन्होंने नारायण को ही अपना सर्वस्व समझ लिया था।

'प्रबन्धम्' के एक पद में कहा गया है—" 'सोऽहम्' के सः और अहम् दोनों उस एक के अंदर दूध और चीनी की भाँति घुल-मिल कर एक हो गये हैं। मेरा हृदय तो स्वप्न में भी उनका साथ नहीं तजता। जब तक मैं अपने स्वरूप से अनभिज्ञ था, तब तक मैं और मेरे के भाव को ही पुष्ट करता था, परन्तु अब मैं देखता हूँ कि जो तुम हो, वही मैं हूँ, मेरा तो सर्वस्व तुम्हारा ही है। अतः हे देव! मेरे चित्त को सदैव ही अपने चरणकमलों में दृढ़तापूर्वक लगाए रखो। हे भाई, ईश्वर का ही स्मरण करो। श्रीकृष्ण का ही गुण-गाण करो। धनिकवृन्द की प्रार्थना पर अपनी वाणी का दुरुपयोग न करो। भगवान नारायण की प्रेमरूपी दिव्य सरोरुहों से नित्य अर्चना करो। सृष्टि का रचयिता वही है। इतना ही नहीं, वह स्वयं सृष्टि भी है, और जगदीश्वर भी वही है। उसके सहस्र नामों का उच्चारण करो, तुम्हारे समस्त अमंगल नष्ट हो जाएँगे। उसका दर्शन तो देवों को भी दुर्लभ है, लेकिन वह अपने भक्तों के लिए सरलता से सुलभ है। हे सृष्टि के प्राणियों, यदि तुम्हें मुक्ति का आनन्द प्राप्त करना है, तो उसी से प्रार्थना करो।" वस्तुत समस्त आळवार भक्तों का जीवन एवं वाणी इसी ढंग की थी, तथा भारत के लगभग एक सौ आठ प्रमुख वैष्णव मंदिरों में राम, कृष्ण, नारायण आदि:

जिन विग्रहों का पूजन होता है, उन सभी का गुणगान इन भक्तों ने तन्मयता के साथ किया है।

इन आळवार भक्तों का कोई भी साम्प्रदायिक क्रम न था, और उनकी जन्मभूमि तथा कर्मक्षेत्र का प्रसार भी वर्तमान मद्रास नगर के दक्षिण कांची वा कांचीवरम् से लेकर सुदूर तिनेवेली जिला तथा त्रावणकोर राज्य के क्विलन बंदरगाह तक चला जाता है। इन सभी भक्तों की आध्यात्मिक मनोवृत्ति में विभिन्नता न थी, अपितु वे एक ही प्रकार की भक्तिभावना से प्रेरित होकर सर्वदा भगवत्-चिन्तन में ही लीन रहते थे, और उनका मानस वस्तुत: देवालय ही बन चुका था, तथा उनकी वाणी केवल भगवान का ही गुणगान करती थी। दक्षिण भारत के कई तीर्थस्थानों में तो इन भक्तों की प्रतिमाएँ भी देवमूर्तियों के सदृश्य पूजी जाती हैं तथा श्रीरंगम् जैसे अनेक नगरों के भक्त इनकी कृतियों के संग्रह को ही 'तमिल वेद' का नाम देकर वेद-पाठ से भी पूर्व उसका पाठ करते हैं। इन भक्तों में सभी जाति के लोग थे तथा भगवद्भक्ति एवं आत्मोन्नति के उद्देश्य से ही ये सब एक स्थान पर एकत्र हो गये थे, और उन्हीं के कथनानुसार 'संतों का एक अपना ही कुटुम्ब होता है, जो सर्वदा भगवान के चरणों में स्थित रह कर उन्हीं के नामों का कीर्तन करता रहता है। वस्तुत: नीच वह है जो भगवान् नारायण की प्रेमसहित पूजा नहीं करता।'

वैष्णव शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि वस्तुत: भगवान विष्णु ने ही इन आळवार भक्तों के रूप में अपने ही श्री, वत्स, कौस्तुभ, वैजयन्ती, वनमाला, श्री भूलीला देवियों, अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन, सुदर्शन चक्र, पांचजन्य शंख, कौमोदिकी गदा, नंदक खंग और शार्ंग धनुष आदि को इस जगत में भक्तिमार्ग का प्रचार करने के हेतु भेजा था। आळवार भक्तों का काल-निर्धारण करते समय हमारा ध्यान सर्वप्रथम 'प्रबन्धम्' की ही ओर जाता है, क्योंकि उसके विषय में प्रचलित है कि उसका संकलन व संपादन नाथ मुनि ने विक्रम की दसवीं शताब्दी में किया था। चूँकि नाथमुनि सन् ९२० ई० तक जीवित रहे, अत: स्वाभावत: ही उनका समय सन् ९२० के पहले माना जाना चाहिए। प्रबन्धम् में कहीं भी किसी संत के विषय में कुछ भी नहीं लिखा गया। अत: जहाँ कुछ विद्वानों ने एक ओर उन भक्तों का समय ई० सन् के पूर्व ४२० से लेकर २७० तक माना है, वहाँ दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वानों ने उनका समय रामानुजाचार्य के मृत्युकाल अर्थात् सन् ११३७ ई०

के पश्चात् माना है परन्तु इस मत को किसी भी भाँति स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह तो प्रचलित ही है कि प्रबन्धम् का संकलन नाथमुनि ने किया था। अतः ये आळवार भक्त निश्चय ही नाथमुनि से पूर्ववर्ती रहे होंगे, और चूँकि नाथमुनि के पौत्र एवं उत्तराधिकारी यामुनाचार्य के ही शिष्य थे, अतः यह भी सिद्ध हो जाता है कि वे रामानुज से भी निस्संदेह ही पूर्ववर्ती रहे होंगे। जे० एस० एम० हूपर ने भी 'हिम्स आफ दि आळवार्स' में इसी तथ्य को स्वीकार किया है, तथा हम तो पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि डॉ० भंडारकर और श्रीकृष्णस्वामी अय्यंगार ने भी आळवार भक्तों को रामानुज से पूर्ववर्ती माना है। श्री कृष्णस्वामी अय्यंगार ने तो उनका समय ईसा की तीसरी शताब्दी से लेकर ९वीं शताब्दी तक माना है, परन्तु प्रारंभिक तीन आळवार संतों का तो ईसा की प्रथम शताब्दी में भी विद्यमान रहना सिद्ध होता है

इस प्रकार चाहे इन चाळवार भक्तों का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाए या तीसरी शताब्दी, हमारे सामने एक अन्य कठिनाई यह भी उपस्थित होती है कि वस्तुतः इन संतों का क्रम किस प्रकार का था। कहा जाता है कि रामानुजाचार्य ने अपने एक शिष्य पिल्लन को नम्म आळवार के सहस्र पदों पर टीका लिखने का कार्य सौंपा था तथा उसने इस कार्य का सम्पादन करते समय संस्कृत के एक श्लोक में प्रायः सभी आळवारों के नामों की गणना कर उनका समय निर्धारित करने का प्रयास भी किया था, और इस प्रकार उक्त-श्लोक में दिये हुए क्रम के अनुसार उन भक्तों का क्रम इस प्रकार है···भूतम् वा भूतत्तार, सर वा प्वायगयी, महद् वा पे, भट्टनाथ वा विष्णुचित्त, भक्ति सार वा तिरुमलिसई, कुलशेखर, योगिवाह वा तिरुपत, भक्तांघ्रि रेणु वा तोंडर डिप्पोढ़ी, परकाल वा तिरुमंगई, यतीन्द्र मिश्र वा मधुर कवि तथा परांकुश मुनि। लेकिन इस क्रम में केवल ग्यारह भक्तों का ही उल्लेख है तथा आंडाल वा गोदा का तो नाम ही नहीं लिया गया और उसी प्रकार श्रीरंगम-निवासी अमुडन नामक रामानुज के एक प्रशिष्य ने भी उक्त 'प्रबन्धम्' का सम्पादन करते समय एक विशेष क्रम से सभी आळवार भक्तों के नामों की गणना की है लेकिन उक्त तालिका में नम्म तथा मधुर कवि का उल्लेख नहीं हुआ। साथ ही यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह क्रम वस्तुतः किसी भी अन्य क्रम के सदृश्य नहीं है।

इस प्रकार डॉ० कृष्णस्वामी अय्यंगार इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुतः इन तालिकाओं में दृष्टिगोचर होने वाली भिन्नता एकमात्र श्लोक रचना की दुरूहता या लिखने के विशिष्ट उद्देश्य के फलस्वरूप आ गयी है।

वस्तुत: 'वेदांतदेशिकाचार्य' ने जो आळवार भक्तों का क्रम और नामों की तालिका प्रस्तुत की है, उसे ही प्राय: सर्वसम्मत समझा जाता है तथा भंडारकर ने भी उसे इसी प्रकार उद्धृत किया है—

तमिल नाम	संस्कृत नाम
प्राचीन	
पोयगै आळवार	सरोयोगिन्
भूतत्ताळवार	भूतयोगिन्
पे आळवार	महद्योगिन वा भ्रांत योगिन
तिरुमलिसई आळवार	भक्तिसार
मध्यवर्ती	
नम्म आळवार	शठकोप
मधुर कवि आळवार	मधुर कवि
कुल शेखर आळवार	कुळ शेखर
पेरी आळवार	विष्णु चित्त
आंडाल आळवार	गोदा
परवर्ती	
तोंडर डिप्पोड़ी आळवार	भक्तांध्रि रेणु
तिरुप्पन आळवार	योगिवाहन
तिरुमंगई आळवार	परकाल

लेकिन इस क्रम के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। श्रीनिवास अय्यंगार ने तो नम्म आळवार को आळवार भक्तों में सबसे अंतिम स्थान दिया है। इधर अभी तक आळवार भक्तों में पोयगै, भूत्तम और पे नामक तीन प्राचीन आळवारों के काल-निर्धारण की एक दुरूह समस्या भी विद्वानों के मध्य विद्यमान थी, लेकिन श्री कृष्णस्वामी अय्यंगार तमिल भाषा के कुछ पिंगल एवम् व्याकरण ग्रन्थों के भाष्यों से उद्धृत प्वायगैर नामक कवि के पदों पर विचार करते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्वायगैर कोई अन्य कवि न होकर वस्तुत: प्वायगैर आळवार ही हैं और वे अपने जीवन-काल में ईश्वर सदृश्य ही माने गये। अभी हाल ही में प्रकाशित उनके 'इन्निलई' नामक एक काव्य-संग्रह से तो यह पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है कि उनका समय ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्तर्गत माना जा सकता है। दूसरे लेख में हमने इन आळवार भक्तों के कृतित्व पर संक्षेप में प्रकाश डाला है।

तमिल-प्रदेश के प्राचीन बारह वैष्णव भक्तों पर एक दृष्टि

यह तो सर्वमान्य-सा है कि तमिल-प्रदेश के बारह आळवार भक्तों में क्रम की दृष्टि से पोयगै आळवार, भूतत्ताळवार और पेआळवार नामक तीन भक्त अत्यंत प्राचीन हैं। बहुत से विद्वानों ने तो इन तीनों को समसामयिक भी माना है, और कहा जाता है कि इन तीनों में से प्रत्येक ने सौ-सौ पदों की रचना की है तथा वे तीन सौ पद जिन्हें कि ऋग्वेद का सार भी समझा जाता है, 'प्रबन्धम्' में क्रमश: प्रथम, द्वितीय एवम् तृतीय स्थान पर 'तिरुब-दादी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पोयगै आळवार ने, जिन्हें कि प्वायगई आळवार भी कहा जाता है, कुछ अन्य पदों की भी रचना की है, जिनमें प्रसिद्ध 'कुरल' के सदृश नीति आदि विषयों की भी चर्चा है और उनके ये पद 'इन्निलई' में संग्रहीत हैं। पोयगै आळवार को पांचजन्य का अवतार समझा जाता है, और उनके विषय में कहा जाता है कि वे कांचीनगर में, जो कि उन दिनों विद्या का एक प्रमुख केन्द्र था, स्थित एक विष्णुमंदिर के समीप-वर्ती किसी सरोवर में एक कमलपुष्प पर उत्पन्न हुए थे। भूतत्ताळवार के विषय में जिन्हें भगवान विष्णु की गदा का अवतार माना जाता है, महाबली-पुरम् में एक पुष्प से प्रकट होने की कथा प्रसिद्ध है और इसी प्रकार पे आळवार के विषय में भी, जिन्हें कि भगवान के खड्ग का अवतार कहा जाता है प्रचलित है, कि वे मद्रास में मैलापुर नामक स्थान में किसी कुएँ में एक लाल कमल के फूल से प्रकट हुए थे। कहा जाता है कि तीनों, जन्म से ही संत, पवित्र एवं निष्कलंक, ज्ञान के अपूर्व भंडार, परा विद्या में निष्णात और भगवद्-अनुरागी थे तथा उन्हें धन, मान अथवा कीर्ति का तनिक भी मोह न था। स्मरण रहे कि ये तीनों आळवार संत समसामयिक समझे जाते हैं और उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक दिन ये तीनों संत तिरुक्कोईलूर नामक क्षेत्र में अचानक ही आ मिले। इसके पूर्व ये तीनों एक दूसरे से परिचित न थे। कहते हैं कि भारी वृष्टि होने के कारण अँधेरी रात में उस क्षेत्र में एक छोटी-सी कुटिया में पोयगै आळवार अँधेरे में ही लेटे हुए भगवान् का ध्यान कर रहे थे कि बाहर से किसी ने आवाज देकर आश्रय माँगा और उन्होंने उसे यह कहते हुए कि इस कुटिया में इतना स्थान है कि एक व्यक्ति प्रसन्नता के साथ विश्राम कर सकता है तथा दो बैठ सकते हैं

उसे अंदर आने दिया और उसके साथ आध्यात्मिक चर्चा करते रहे। कुछ समय उपरान्त पुनः एक व्यक्ति आया और अब तीनों ही खड़े होकर भगवान का ध्यान करने लगे कि अचानक उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो कि उनके मध्य कोई अन्य व्यक्ति भी उपस्थित है और वे सोचने लगे कि वस्तुतः यह चौथा व्यक्ति कौन है। उन्हें ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो गया कि स्वयम् साक्षात् भगवान् विष्णु ही उनके मध्य उपस्थित हैं और तत्क्षण दिव्यालोक-सा उस कुटी में छा गया, तथा तीनों ही उनका दर्शन प्राप्त कर आनन्द से मुग्ध हो गये। भगवान विष्णु ने उनसे वर माँगने के लिए कहा, लेकिन तीनों एक साथ उनके चरण-कमलों पर गिर पड़े, और यह प्रार्थना करने लगे कि हमसे कभी भी आपका गुणगान विस्मरण न हो, और हम हमेशा आपका ध्यान करते रहें; आप यही वरदान हमें दें। उनकी इस अटूट भक्ति से भगवान भी प्रभावित हुए तथा उन्होंने कहा कि "मेरे प्यारे भक्तों, तुमने तो इस प्रकार मुझे अपने प्रेमपाश में बाँध रखा है कि मैं तुम्हारे हृदय को तज कर कहीं जा ही नहीं सकता। अब तुम मेरे प्रेम का महत्त्व सभी को बतलाओ और इस लोक का कार्य समाप्त होते ही वैकुण्ठ को चले आना। कहते हैं, उसी समय इन तीनों आळवार भक्तों ने सौ-सौ पद रच डाले जो कि 'ज्ञान प्रदीप' नाम से प्रसिद्ध हैं और उनमें सर्वत्र ही इस प्रकार की चिन्तनशीलता दृष्टिगोचर होती है—"भगवान के सदृश अन्य कोई वस्तु सृष्टि में नहीं है। समस्त रूप उसके हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिशाएँ, नक्षत्र एवम् ग्रह, वेद और उनका अभिप्राय सब कुछ वे ही हैं, अतः उन्हीं के चरणों की शरण लेनी चाहिए क्योंकि मनुष्य-जन्म की सार्थकता इसी में है। वे एक होते हुए भी अनेक बने हुए हैं। उन्हीं का नामोच्चारण करना चाहिए। व्यक्ति धन से सुखी नहीं हो सकता केवल उनकी कृपा से ही रक्षा हो सकती है। वे ही ज्ञान हैं; ज्ञेय हैं और ज्ञान के द्वार भी हैं। उन्हीं के तत्व को समझो। इधर-उधर भटकते हुए मन एवम् इंद्रियों को अधिकार में रख एकमात्र उन्हीं की कामना कर उन्हीं की अनन्य भाव से उपासना करनी चाहिए। वे अपने भक्तों के हेतु साकार रूप भी धारण करते हैं।"

दक्षिण भारत में तिरुमलिसई (महीसरपुर) नामक एक प्रसिद्ध तीर्थ है जहाँ कई तपस्वियों ने तपस्या की है और उन्हीं में भार्गव नामक एक अनन्य विष्णोपासक भक्त भी थे, जिनकी पत्नी का नाम कनकावली था जो कि स्वयं भी उन्हें तपस्या में सहयोग देती थी। उपर्युक्त तीनों प्राचीन आळवार भक्तों के तीन महीने पश्चात् उक्त दम्पति को एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो

कि तिरुमलिसई में जन्म लेने के कारण तिरुमलिसई कहलाया। कहा जाता है कि इनके माता-पिता ने पैदा होते ही इन्हें सरकंडों के जंगल में छोड़ दिया था, जहाँ स्वयं महालक्ष्मी ने उन्हें अपना दुग्धपान कराया। संयोग से तिरुवाइन् नामक व्याध तथा उसकी पत्नी पंकजवल्ली दोनों ही उधर से आ निकले और जैसे ही उनकी दृष्टि इस पर पड़ी वे इसे भगवान् की देन समझ कर अपने घर ले आये, चूँकि उनके कोई सन्तान न थी अतः उन्होंने इनका पालन-पोषण अपने पुत्र के समान ही किया और उनका नाम भक्तिसार रखा। कहा जाता है कि बाल्यावस्था में वे कभी भी किसी स्त्री का स्तन-पान नहीं करते थे, अतएव एक वृद्ध पुरुष यह समझ कर कि हो-न-हो यह कोई असाधारण बालक है, उन्हें गाय का दूध पिलाने लगे, और उनके दुग्ध-पान करने के पश्चात् जो दूध उस पात्र में अवशिष्ट रह जाता उसे वे और उनकी पत्नी दोनों ही प्रसाद समझ कर पी जाते। कुछ दिनों बाद उन्हें भी कन्निकान् नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो कि आगे चल कर भक्तिसार का प्रधान शिष्य कहलाया, लेकिन जे० एस० एम० हूपर का विचार है कि "इस आळवार की उत्पत्ति कैकेसी ऋषि एवम् अप्सरा के संयोग से हुई थी और माता के परित्याग कर देने के फलस्वरूप उसे किसी निम्नकुलोत्पन्न व्यक्ति ने अपना लिया था ये फिर सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहे।"[1] परन्तु हूपर महोदय का यह कथन सर्वमान्य नहीं है, क्योंकि स्वयं तिरुमलिसइ ने ही एक पद में लिखा है, "मेरा जन्म किसी द्विजाति कुल में नहीं हुआ था। और न मैं चारों वेदों का ज्ञाता ही हूँ, मैंने तो अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त की है और इसलिए हे परमपिता, अब मुझे तुम्हारे आलोकपूर्ण चरणों के अतिरिक्त अन्य कोई अव-लम्ब नहीं है।" कहा जाता है कि इन्हें तथा इनके शिष्य कनिकन्नम् दोनों को किसी पल्लववंशीय राजा ने देश-निकाले का दंड दिया था, तब से ये चिदम्बरम्, कुम्बकोनम् आदि स्थानों में प्रवास करते रहे और अंत में उनकी मृत्यु कुम्बकोनम् में ही हुई। वस्तुतः तिरुमलिसई अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे और अपनी अल्पायु में ही उन्होंने समस्त धार्मिक ग्रंथों का अनुशीलन कर लिया था तथा वेदान्तदर्शन, मीमांसादर्शन, बौद्धदर्शन एवम् जैनदर्शन सभी का अध्ययन किया था लेकिन भगवान विष्णु की शरण में जाने पर ही उन्हें परमानन्द प्राप्त हुआ। यह भी कहा जाता है कि एक बार गजेन्द्र सरोवर के तट पर उन्होंने कई वर्षों तक ध्यान योग का अभ्यास किया तब

१ हिम्स आफ दि आळवार्स—जे० एस० एम० हूपर (पृष्ठ १२)

एक दिन देवता उनके समीप आये और उनसे वर माँगने के लिए कहने लगे तो उन्होंने उस देवता से कहा कि क्या आप हमें मुक्ति दे सकते हैं? देवता ने कहा, नहीं। तब उन्होंने पूछा, तो क्या आप किसी की मृत्यु टाल सकते हैं? तो देवता ने पुनः कहा, नहीं। इस बात पर उन्होंने उक्त देवता से कहा कि फिर आप क्या कर सकते हैं? इस पर वह देवता चला गया। कहा जाता है कि उनमें गर्व छू भी न गया था और यद्यपि इस समय उनके कुल मिला कर लगभग दो सौ से अधिक पद उपलब्ध होते हैं लेकिन उनके द्वारा रचित पदों से जब इनकी प्रसिद्धि बढ़ने लगी तो उन्होंने एक दिन स्वयं ही अपनी सभी पोथियाँ कावेरी नदी में डाल दीं जिससे कि सभी पोथियाँ सरिता के प्रवाह में बह गयीं, केवल दो पुस्तकें प्रवाह के साथ प्रवाहित न होकर अपने आप किनारे की ओर लौट आयीं। तिरुमलिसई के उपदेशों का एक उदाहरण देखिए—"मुक्ति वस्तुतः भगवत्कृपा द्वारा ही प्राप्त होती है और उसी की कृपा से मनुष्य भी अजेय हो जाता है। भगवत्प्रेम ही मनुष्य के हेतु सर्वाधिक मूल्यवान् सम्पत्ति है। भगवान् ही वेदों के सार हैं।...ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों ही वहीं हैं। नारायण ही सब कुछ हैं तथा वे ही हमारे सर्वस्व हैं।"

आळवार भक्तों के क्रम में पाँचवाँ, लेकिन मध्यवर्ती आळवारों में सर्वप्रथम स्थान नम्म आळवार का है जिन्हें कि शठकोपाचार्य भी कहा जाता है और जो वस्तुतः इन सभी भक्त कवियों में अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। स्मरण रहे कि तमिल साहित्य में सर्वाधिक चर्चा भी उन्हीं पर हुई है परन्तु उनके जीवन-वृत्तान्त का अभी तक कुछ भी ठीक-ठीक पता नहीं चला। नम्म आळवार का शाब्दिक अर्थ हमारा आळवार होता है और साथ ही वे शठकोपन तथा मारन् के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार अन्य आळवार-भक्तों को भगवान के आयुध-विशेष या आभूषण-विशेष का अवतार समझा जाता है, उसी प्रकार इन्हें भी विष्वक् सेना का अवतार माना गया है। नम्म आळवार के पिता का नाम कारिमारन् था और कहते हैं वे पाण्डयदेश के राजा के यहाँ किसी ऊँचे पद पर थे तथा आगे चल कर तो कुरुंगैनाडु नामक एक छोटे राज्य के राजा ही हो गये। कुरुंगैनाडु पाण्ड्यदेश के अधीन था। गुरुपरम्परा के अनुसार इनके पिता कारियार की जाति वेल्लाल प्रतीत होती है और यह भी कहा जाता है कि वे अपने गाँव के मुखिया थे। अनुमानतः नम्म आळवार का जन्म तिन्नेवेल्ली जिले में ताम्रपर्णं नदी के तट पर अवस्थित कुरुकूल नामक नगर में

(जिसे तिरुक्कुरुकूर भी कहा जाता है) हुआ था। कुछ विद्वानों ने इनका समय ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी, कुछ ने दसवीं या ग्यारहवीं और कुछ ने श्री गोपीनाथ राव आनमेले के शिलालेख से उनका समय नवीं शताब्दी कहा है, लेकिन श्री बी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार उनका समय सातवीं शताब्दी मानते हैं और उन्होंने वेल्लिकुंड के दानपत्र का आधार भी लिया है१; परन्तु श्रीकृष्णस्वामी अय्यंगार ने इनका समय छठी शताब्दी माना है। नम्म आळवार के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि जन्म के उपरान्त दस दिनों तक न तो इन्होंने अपनी आँखें ही खोलीं और न अपनी माता का दुग्ध-पान ही किया; अतएव इनके माता-पिता बारहवें दिन इन्हें लेकर स्थानीय विष्णुमंदिर में किसी इमली के वृक्ष के तले या उसके कोटर में डाल आये, जहाँ कि बालक नम्म सोलह वर्ष की अवस्था तक उसी प्रकार पड़े रहे और विष्णु भगवान ने ही उनकी रक्षा की। स्मरण रहे कि उस कोटर में योग की प्रक्रिया से ध्यान और भगवान के साक्षात्कार में ही वे सर्वदा लीन रहते, और इस प्रकार इनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गयी। सोलहवें वर्ष की आयु में नम्म आळवार के पास तिरोक्कूलर या तिरुक्कूलर या तिरुक्वोलूर गाँव के एक सामवेदी ब्राह्मण आये जो कि स्वयं मधुर कवि के नाम से विख्यात थे और आगे चलकर आळवार भक्तों की परम्परा में जिनको उल्लेखनीय स्थान भी दिया गया। कहा जाता है कि वेदादि का सांगोपांग अध्ययन कर मधुर कवि उत्तरी भारत में देशाटन करते-करते जब अयोध्या पहुँचे तो अचानक दक्षिण की ओर दृष्टि फेरते ही उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई दिव्य ज्योति-स्तम्भ दक्षिण में विद्यमान हो। अतः वे वापस लौट कर चलते-चलते उसी इमली के वृक्ष के पास पहुँचे जहाँ कि नम्म साधना में मग्न थे तथा उनके शरीर से ज्योति निकल रही थी। प्रारंभ में थोड़ी देर तक आध्यात्मिक चर्चा करने के उपरान्त ही मधुर कवि उनसे प्रभावित हो गये तथा उनका शिष्यत्व भी ग्रहण कर लिया। उस आध्यात्मिक चर्चा में ही अचानक नम्म के मुख से धाराप्रवाह पद निःसृत होने लगे तथा मधुर कवि इन पदों को यथाक्रम लिपिबद्ध करते गये और वे ही अभी तक 'नम्म आळवाड़' के नाम से प्रसिद्ध भी हैं। कहा जाता है कि नम्म आळवार केवल पैंतीस वर्ष की अवस्था तक इस मृत्युलोक

१. Studies in Tamil Literature and History—श्री० बी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार (Second Edition, Page 104-105)

में रहे तथा इसके पश्चात् उन्होंने अपने भौतिक शरीर को त्याग दिया लेकिन इन पैंतीस वर्षों के संक्षिप्त काल में ही उन्होंने कई ग्रन्थों का सृजन किया है जो कि वस्तुतः अत्यंत विचारपूर्ण, गंभीर एवम् भगवत्प्रेरित प्रतीत होते हैं। तिरुविरुत्तम, तिरुवारीरियम्, पेरियतिरुवंताति और तिरुवायमालि इनके चार प्रसिद्ध ग्रंथ हैं जो कि वस्तुत: चारों वेदों के तुल्य समझे जाते हैं और इनमें संग्रहीत तेरह सहस्र पद पूरे के पूरे 'प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं तथा उनमें से 'तिरुवायमालि' को उक्त प्रबन्धम् में चतुर्थ स्थान देकर उसे विशेष महत्त्व दिया गया है। स्मरण रहे कि उसके दश दशकों में वस्तुत: हजार से अधिक पद हैं, तथा उसके कई पद देवालयों एवम् धार्मिक उत्सवों में बड़े ही प्रेम के साथ गाये जाते हैं। उसके पाठ को उतना ही महत्व दिया जाता है जितना कि वेदाध्ययन और वेद-पाठ को। वस्तुत: नम्म आळवार के ग्रंथों में श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं का ही अंकन है तथा उनमें भगवत्प्रेम की ही अधिकता है और श्री हरि को नायक तथा स्वयं को नायिका मान कर ही इन पदों की रचना की गयी है। बहुत से विद्वान् उनके पदों को सामवेद का सार मानते हैं तथा कहा जाता है कि जब ये पद तमिल संघ के सामने पढ़े गये तो संघ के समस्त सदस्य मंत्रमुग्ध से रह गये। तमिल भाषा के प्रसिद्ध कवि कम्बन ने जब तमिल रामायण की रचना कर उस ग्रंथ को सर्वप्रथम भगवान श्री रंगनाथ के चरण-कमलों में अर्पित किया तो मूर्ति में से आवाज़ आयी कि क्या तुमने शठकोप का चरित्र भी अंकित किया है ? तो कम्बन ने कहा, "नहीं प्रभो, मुझे क्षमा करिए। अब मैं अवश्य ही आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।" और इसके पश्चात् ही उन्होंने उस रामायण के प्रारम्भ में नम्म आळवार की प्रार्थना भी जोड़ दी तथा तमिळ संघ के विद्वानों के सामने नम्म आळवार की प्रशंसा करते हुए कहा "क्या विश्व के समस्त काव्य-संग्रह नम्म आळवार के एक शब्द की भी समकक्षता कर सकते हैं ? क्या मच्छर गरुड़ का मुकाबला कर सकता है ? क्या खद्योत भुवन-भास्कर के सामने चमक सकते हैं ? क्या श्वान सिंह के सामने कुछ बोल सकता है ? क्या चुड़ैल उर्वशी के सामने अपना सिर ऊँचा उठा सकती है ?" कहते हैं जब नम्म आळवार ने भगवान् रंगनाथ के सामने अपने पद गाये तब मूर्ति में से यह आवाज आयी "यही हमारे आळवार हैं।" कहा जाता है कि उन्होंने पैंतीस वर्ष तक राधा-भाव से ही उपासना की और सर्वदा अपने इस देव का साक्षात्कार कर सुख प्राप्त किया।

यह तो कहा ही जा चुका है कि मधुर कवि नम्म आळवार के शिष्य थे तथा उन्होंने ही उनके पदों को लिपिबद्ध भी किया था। मधुर कवि का जन्म तिरुकोल्लूर नामक स्थान में एक सामवेदी ब्राह्मण के यहाँ हुआ था तथा उन्हें गरुड़ का अवतार माना जाता है। कहा जाता है कि इन्होंने वेदों का भली-भाँति अध्ययन किया था लेकिन यह सोच कर कि प्रेम और भक्ति के बिना विद्या का कोई महत्त्व नहीं है, वे अकेले ही तीर्थ-यात्रा को निकल पड़े। जब वे मथुरा, काशी आदि अनेक तीर्थों में घूमते हुए अयोध्या पहुँचे तो उन्हें दक्षिण की ओर एक दिव्यालोक-सा दृष्टिगोचर हुआ और वह प्रकाश उन्हें तीन दिनों तक दिखाई देता रहा। वे उस प्रकाश की ओर इस प्रकार आकर्षित हो गये कि उसका साक्षात्कार करने के हेतु दक्षिण की ओर बहुत दूर तक चले गये तथा कुरूकुर पहुँचे, जहाँ कि उन्होंने एक मंदिर के समीप इमली के एक वृक्ष के कोटर में समाधिस्थ नम्म आळवार को देखा और वे उनके व्यक्तित्व से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने उनसे संभाषण करना चाहा लेकिन कई बार आवाज देने तथा ताली बजाने पर भी नम्म आळवार की समाधि न टूटी तब इन्होंने एक पत्थर उठा कर धरती पर जोर से पटक दिया। परन्तु इतने पर भी नम्म आळवार प्रकृतिस्थ बैठे रहे और तब मधुर कवि उस कोटर के समीप पहुँच कर करतल-बद्ध होकर कहने लगे कि "महाराज, मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ, वह यह कि यदि सत् पदार्थ (सूक्ष्म चेतना शक्ति) असत् (जड़ प्रकृति) के अंदर प्रविष्ट हो जाता है तो वह क्या खाएगा तथा कहाँ विश्राम करेगा? तब नम्म आळवार ने आँखें खोलीं और कहा कि "वह उसी का आहार करेगा तथा वहीं पर विश्राम भी करेगा!" वस्तुतः इसका अभिप्राय यह था कि सूक्ष्म आत्मा मानस के अंतस्थल में अवस्थित रह कर भी द्रष्टा-रूप से प्राकृतिक कर्मों का उपयोग और साथ ही प्राकृतिक क्रीड़ाओं का भी आनन्द खेलज-रूप में ले सकती है। मधुर कवि ने नम्म आळवार का शिष्यत्व ग्रहण किया तथा सर्वदा उन्हीं के चरणों से प्रेम करना अपना ध्येय समझा। उन्होंने केवल दस पदों का ही सृजन किया है तथा उनमें भी अधिकांश पद ऐसे हैं, जिनमें अपने गुरु नम्म आळवार की ही प्रशंसा की गयी है।

वैष्णव गुरु-परम्परा में कुलशेखर को भगवान् विष्णु के वक्षस्थल की कौस्तुभ मणि का अवतार समझा जाता है और अंतःसाक्ष्यों तथा बहिर्साक्षियों दोनों के आधार पर इनके जीवनवृत्त के विषय में विभिन्न मत प्रचलित हैं।

अतः इस प्रकार डॉ० भंडारकर ने इनका समय बारहवीं शताब्दी माना है, परन्तु श्रीकृष्णस्वामी अय्यंगार ने प्रमाण-सहित यह सिद्ध कर दिया है कि उनका समय छठी शताब्दी ही है। कोल्लिनगर (केरल) के, जिसे कि क्विलन भी कहा जाता है, राजा दृढ़व्रत के यहाँ द्वादशी के दिन पुनर्वसु नक्षत्र में इनका जन्म हुआ था और कहा जाता है कि इनके पिता ने पुत्र-प्राप्ति के हेतु तपस्या भी की थी। विद्या, ज्ञान और भक्ति के वातावरण में संवर्धित कुल-शेखर ने बहुत ही शीघ्र संस्कृत और तमिल साहित्य में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली तथा उन दोनों भाषाओं के समस्त प्राचीन ग्रंथों का अनुशीलन भी कर डाला और साथ ही चौंसठ कलाओं में भी पारंगत हो गये। इधर उनकी योग्यता को लक्ष्य कर राजा दृढ़व्रत ने उन्हें शासन का भार सौंप कर भगवद्-भक्ति को ही अपना ध्येय बनाया लेकिन राजा होते हुए भी कुलशेखर का मानस स्वयं ही भगवान् श्रीराम का सिंहासन बन गया। अतः उन्होंने रामराज्य की स्थापना कर सर्वसाधारण के हितों की ओर पूर्ण ध्यान दिया और धन, ज्ञान तथा संतोष की दृष्टि से अपने राज्य को एक प्रकार का स्वर्ग ही बना दिया। वैष्णव धर्म पर तो उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी और 'रामायण' उनकी सर्वप्रिय पुस्तक थी तथा कहते हैं कि वे रामायण का पाठ इतनी तन्मयता के साथ श्रवण करते थे कि देह की सारी सुध-बुध ही उन्हें भूल जाती थी। इस विषय में एक कथा भी प्रचलित है। एक बार जब वे रामायण सुन रहे थे तो उसमें सीता की रक्षा के हेतु लक्ष्मण को नियुक्त कर अकेले ही रामचन्द्र का खरदूषण की विपुल सेना से युद्ध करने का प्रसंग आया और जैसे ही उन्होंने यह सुना कि भगवान् रामचन्द्र अकेले ही चौदह सहस्र राजाओं की सेना से युद्ध करने जा रहे हैं तो यह विस्मरण कर कि वस्तुतः वे कथा सुन रहे थे, वे उठ खड़े हुए तथा अपनी सेना को तुरन्त ही कूच करने की आज्ञा दे दी और सेनानायक से कहा कि चलो, हम शीघ्र ही श्रीराम की सहायतार्थ राक्षसों से युद्ध करने चलें, लेकिन जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि राम ने अकेले ही समस्त राक्षसी सेना को नष्ट कर डाला तो वे किसी प्रकार वहाँ पर रुक सके। इसी प्रकार की परिस्थिति अशोकवाटिका में घिरी हुई सीता की कथा को श्रवण करते समय उत्पन्न हुई थी, और उस समय भी वे बड़ी कठिनाई के साथ सागर पार करते रोके गये थे। कहा जाता है कि एक दिन रात्रि के समय भगवान् विष्णु ने उन्हें अपने दिव्य विग्रह के दर्शन भी दिये तथा उनका दर्शन कर कुलशेखर ने अपने तन की समस्त सुध-बुध विस्मरण कर दी और सर्वदा

भगवद्-भक्ति में ही तल्लीन रहने लगे। भगवद्-भक्ति के आगे उन्हें राज्य सुख भी फीका-सा प्रतीत होने लगा और वे अपना सारा समय दास्यभाव से अपने इष्टदेव श्रीराम की उपासना में व्यतीत करने लगे। कुलशेखर के हृदय में वैष्णवों के प्रति अटूट विश्वास था और कहते हैं कि जब एक बार इनके मंत्रियों ने उनकी ओर से इन्हें विरक्त करने के हेतु उन वैष्णव-साधुओं पर महल से गुम हुए एक हीरे की चोरी का दोषारोपण किया तो इन्होंने यह कहते हुए कि वैष्णव-भक्त कभी भी इस प्रकार का दुष्कर्म नहीं कर सकते; इस बात को प्रमाणित करने के हेतु भयंकर विषधर सर्प से पूर्ण पात्र में अपना हाथ डाल दिया परन्तु वह साँप अपने स्थान से तनिक भी न डिगा। कुछ समय के उपरान्त कुलशेखर का चित राज्य-शासन मे उचट गया और वे तीर्थ-यात्रा के हेतु निकल पड़े तथा कई वर्षों तक श्रीरंगम तीर्थ में रह कर उन्होंने संस्कृत में 'मुकुन्द माला' नामक एक स्तोत्रग्रंथ लिखा, जिसका सम्मान संस्कृत के विद्वान् अभी भी करते हैं। वहाँ से कांची होते हुए वे तिरुपति धाम गये, जहाँ कि उन्होंने भक्ति-भावना से पूर्ण सुमधुर पद्यों का सृजन किया। कहा जाता है कि उन्होंने मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या आदि उत्तरी भारत के तीर्थों का भी पर्यटन किया था और केवल पचीस वर्षों की अवस्था में ही दक्षिण भारत के अर्काटक जिले के किसी नगर में प्राण त्यागे थे। 'प्रबन्धम' में कुलशेखर के १०५ पद संगृहीत हैं तथा इन पदों में से कई पद ऐसे हैं, जिनमें इन्होंने अपने विषय में भी कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। इनके पदों में अनन्यशरणागतिपरक भावना विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है।

आळवार भक्तों में विष्णुचित्त को, जिनका कि तमिल नाम पेरि आळवार है, विशेष महत्त्व दिया जाता है, और इनके द्वारा रचित पदों को तो वैष्णव-भक्त मंगलाचरण के रूप में देखते हैं। स्मरण रहे आळवार-भक्तों की परम्परा में प्रसिद्ध प्रेमयोगिनी आंडाल वा गोदा इन्हीं की पुत्री थी। पेरि आळवार को गरुडांश माना जाता है, तथा गुरु-परम्परा के आधार पर इनका जन्म कलि वर्ष ४७ याने आज से ४९९३ वर्ष पूर्व हुआ था, और इनकी पुत्री भूदित्यांश गोदा का आविर्भाव कलिवर्ष ९८ में हुआ था। डॉ० अय्यंगार ने इन दोनों का समय कुलशेखर के समकालीन या फिर सातवीं शताब्दी में मानने के लिए प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। कहा जाता है, मद्रास-प्रान्त के तिन्नेवेली जिले में, विल्लीपुत्तूर नामक ग्राम में, एकादशी रविवार को, स्वाति नक्षत्र में, पेरि आळवार का जन्म हुआ था, तथा मुकुन्दाचार्य इनके पिता का नाम था, और

पद्मा माता का। कहते हैं मुकुन्दाचार्य तथा पद्मा दोनों ने भगवान् महाविष्णु के मन्दिर में पुत्र-प्राप्ति के हेतु प्रार्थना की थी, और इस प्रकार शैशवावस्था में ही पेरि आळवार सामान्य बालकों से विलक्षण प्रतीत होते थे तथा बिना जाने-पहचाने ही उन्होंने अपनी अन्तरात्मा को विष्णु के चरणों में अर्पित करदिया था, तथा इसीलिए उन्हें विष्णुचित्त कहा जाता है। कहते हैं, 'नारायण ही समस्त विद्याओं के सार हैं, तथा सभी धर्मों के एकमात्र ध्येय हैं, अत: अब मैं उन्हीं की शरण लूँगा।' यह निश्चय कर उन्होंने अपने-आपको भगवान् को समर्पित कर देना ही उचित समझा। चूँकि उन्होंने कोई विशेष अध्ययन नहीं किया था, अतः उनका कार्य अपनी छोटी-सी वाटिका से पुष्पों का चयन कर उनकी माला गूँथ कर बालमुकुन्द पर चढ़ा देना मात्र था, तथा वे सर्वदा ही अपना अधिकांश समय मंदिर में व्यतीत करते और विष्णु सहस्रनाम को गाया करते थे। कहा जाता है कि एक दिन रात्रि के समय भगवान् ने इन्हें स्वप्न में आदेश दिया कि तुम मदुरा जा कर वहाँ के राजा बलदेव से मिलो और शास्त्रार्थ में भाग ले कर सच्चे आनन्द की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग उसे दिखा कर मेरे प्रेम और भक्ति का महत्त्व सर्वसाधारण पर प्रकट करो, तथा यह सिद्ध कर दो कि वस्तुतः भगवान् के विशिष्ट स्वरूप की उपासना ही आनन्द-प्राप्ति का एकमात्र वास्तविक सुगम मार्ग है। यद्यपि पेरि आळवार का शास्त्रीय अध्ययन बहुत ही थोड़ी मात्रा में था लेकिन भगवत्प्रेरणा के कारण वे मदुरा गये और वहाँ उन्होंने विभिन्न धर्मों के समस्त प्रतिनिधियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया तथा वे इस प्रकार सुशोभित होने लगे मानो विभिन्न तारिकाओं के मध्य मयंक ही सुशोभित हो रहा है। समस्त शंकाओं का समाधान करते हुए उन्होंने यही प्रतिपादित किया कि "वस्तुत: भगवान् नारायण ही सर्वोपरि हैं और उनके चरण-कमलों में अपने आपको समर्पित कर देना ही कल्याण का एकमात्र उपाय है। वे ही हमारे रक्षक हैं, वे अपनी योगमाया से साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों का दलन करने के हेतु समय-समय पर अवतार लेते हैं। वे समस्त प्राणियों के लक्ष्य हैं। नारायण ही माया से परे हैं, और उनकी उपासना ही माया से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है। उन पर भरोसा रखो, उनकी आराधना करो, उनके नाम की रट लगाओ और उनका गुणानुवाद करो। ओम् नमो नारायणाय।" कहते हैं, उनके इन उपदेशों से राजा अत्यधिक प्रभावित हुआ, तथा उनके चरणों पर गिर पड़ा, और इस प्रकार वे न केवल शास्त्रार्थ में ही विजयी हुए अपितु द्रव्यादि के अतिरिक्त उन्हें 'भट्टनाथ' की उपाधि भी प्राप्त हुई। लेकिन

उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा को प्रभु-कृपा का परिणाम समझ कर वह समस्त धन विष्णु की सेवा में अर्पित कर दिया तथा दुगने उत्साह से भक्ति-साधना में जुट गये। कहा जाता है कि उक्त राजा ने जब उनका इस प्रकार सम्मान किया तो उन्होंने करुणार्द्र हो ऊपर आकाश की ओर निहारा, जहाँ कि उन्हें साक्षात् भगवान् विष्णु ही महालक्ष्मी के साथ गरुड़ पर विराजमान दिखाई दिये, जोकि अपने भक्त का स्वागत देख कर और लाखों नर-नारियों के कंठों में नारायण-मंत्र की ध्वनि सुन कर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे। पेरि आळवार ने अपने इष्टदेव का दर्शन प्राप्त कर अपने आपको धन्य समझा तथा राजा से विदा ले कर पुनः तिरुविल्लिपुत्तूर के मंदिर में विराजमान वटपत्रशायी बाल-मुकुन्द की सेवा में पहुँच गये। उन्होंने 'तिरुप्पल्लाण्डु' नामक स्तुति वस्तुतः भगवान् विष्णु के प्रेम में ही मग्न हो कर की और चूँकि उन्होंने ईश्वरोपासना वात्सल्य भाव से ही की थी अतः जननी की मानसिक भावनाओं का मूर्तिमान रूप अंकित करने के हेतु उन्होंने 'तिरुमोलि' नामक पदावली प्रस्तुत की है, जिसमें बालकृष्ण-विषयक अनेकानेक पद हैं, और उनके ये पद 'पिळ्ळैत्तमिल' (कहा जाता है कि बालक्रीड़ा से मानस में अनुभूत मधुरिमा की अभिव्यक्ति जब भाषा द्वारा होती है, तो उसे पिळ्ळैत्तमिल कहा जाता है) के नाम से प्रसिद्ध है। स्मरण रहे, पेरि आळवार तमिल-साहित्य के श्रेष्ठतम कवियों में से हैं, और स्नेह तथा ममता से पूर्ण उनके उद्‌गारों में गंभीरता एवं भक्ति का मणिकांचनमय योग भी है तथा उनकी वर्णन-शैली भी सराहनीय है।

कहा जाता है कि नियमानुसार एक दिन प्रातः काल पेरि आळवार भगवान् की पूजा के हेतु वाटिका में पुष्पचयन कर रहे थे कि अचानक उन्हें तुलसी के वृक्षों के मध्य एक ऐसी नवजात बालिका दृष्टिगोचर हुई जो कि उन वृक्षों में से एक को जननी समझ कर लेटी हुई थी। पुष्पवृक्ष उस पर सुमन बरसा रहे थे, कोकिलाएँ उसे अपना सुरीला राग सुना रहीं थीं, रसाल अपने पंखों से उसकी रक्षा कर रहे थे और उस बालिका के शरीर में दिव्य कांति-सी दृष्टिगोचर हो रही थी। इस बालिका को पा कर पेरि आळवार अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा उसे ले जा कर उन्होंने वटपत्र-शायी भगवान नारायण के चरणों में रख कर कहा—"यह तुम्हारी ही सम्पत्ति है, जो तुम्हारी सेवा के हेतु आयी है। इसे अपने चरण कमलों में स्थान दो।" कहते हैं उसी समय मूर्ति में से यह आवाज सुनाई पड़ी कि इस लड़की को अपने ही घर रख कर अपनी पुत्री के सदृश्य इसका पालन-पोषण करो, अतएव उस परमपिता

परमात्मा की आज्ञा शिरोधार्य कर पेरि आळवार उसे ले कर घर चले आये तथा अत्यन्त स्नेह के साथ उसका पालन-पोषण करने लगे। इसी बालिका का नाम आंडाल वा गोदा पड़ा। कहते हैं, बाल्यावस्था में उसे 'कोदई' कहा जाता था और 'कोदई' का अर्थ तमिल में कुसुम के समान कमनीय होता है। कहा जाता है कि शैशवावस्था में ही जब उस बालिका ने कुछ बोलना प्रारंभ किया तो उसके मुख से 'विष्णु' के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा शब्द निकलता ही न था, और किशोरावस्था में ही उसने श्रीरंगम के भगवान श्री रंगनाथ को अपने पतिरूप में वरण कर लिया था। वह भगवान के ही गीत गाया करती थी और वाटिका में जा पहुँचती तथा पुष्पमालाएँ गूँथा करती। कहते हैं कि वह कभी-कभी प्रेम में इस प्रकार तन्मय हो जाती थी कि भगवान के गूँथे हुए हारों को स्वयं पहिन कर दर्पण के सामने खड़ी हो जाती और अपनी छवि को निहार कर स्वगत् ही यह प्रश्न करने लगती कि क्या मैं उनके अनुरूप हूँ और क्या मेरा सौन्दर्य मेरे प्रियतम को आकर्षित कर सकेगा। एक दिन मंदिर के पुजारी ने उसकी धारण की हुई माला यह कह कर कि उसमें किसी व्यक्ति के सिर का बाल लगा हुआ है पेरि आळवार को वापिस कर दी और इसी प्रकार दूसरे दिन भी उसने यही बात कही। पेरि आळवार को इससे अत्यन्त दुःख हुआ और चूँकि वे नित्य नये पुष्पों की माला बनाया करते थे अतः वे सोचने लगे कि इस घटना में अवश्य कुछ-न-कुछ रहस्य है। एक दिन अचानक उन्होंने परदे के पीछे नये पुष्पों की माला धारण किए हुए प्रेम में तन्मय आंडाल को देख लिया और वे तुरन्त ही उसके समीप जा कर कहने लगे कि "अरे, यह तूने क्या किया जो कि भगवान के हेतु तैयार किये गये हार को स्वयं ही पहन लिया है।" फिर वे तुरन्त ही दूसरी पुष्पमाला तैयार कर मंदिर पहुँचे लेकिन उसी रात्रि भगवान ने उन्हें स्वप्न दे कर कहा कि "मुझे आंडाल द्वारा पहिनी गयी मालाओं को धारण करने में ही प्रसन्नता होती है। अतः वे ही हार मुझे चढ़ाया करो।" पेरि आळवार को अब यह विश्वास हो गया कि आंडाल कोई साधारण लड़की नहीं है और इधर आंडाल के मानस में कृष्णानुराग की भावना इतनी अधिक बढ़ चुकी थी कि वह स्वयं अपने आपको श्रीकृष्ण के दर्शनों की उत्सुक किसी गोपी का अवतार समझने लगी, तथा परिवार में विवाह की चर्चा छिड़ने पर उसने स्पष्ट रूप से कह दिया कि मैंने श्रीरंगम के भगवान श्रीरंगनाथ को अपने पतिरूप में वरण कर लिया है। अतः अब मैं अन्य किसी दूसरे से विवाह नहीं कर सकती।" एक

दिन वह अपने प्रियतम कृष्ण के विरह में अत्यन्त व्याकुल हो गयी तो भगवान श्री रंगनाथ ने मंदिर के अधिकारियों को स्वप्न दे कर कहा कि शीघ्र ही मेरी प्रियतमा आंडाल को मेरे पास ले आओ और उधर उन्होंने पेरि आळ्वार को भी स्वप्न दिया कि तुम तुरन्त ही आंडाल को ले कर चले आओ, मैं उससे पाणि-ग्रहण करूँगा, तथा साथ ही उन्होंने आंडाल को भी स्वप्न दिया। दूसरे ही दिन वैवाहिक विधियों के साथ पेरि आळ्वार ने उसे भगवान को अर्पित कर दिया और प्रेमयोगिनी आंडाल मंदिर में प्रवेश कर जैसे ही भगवान की शेषशय्या पर चढ़ी कि अचानक एक दिव्यालोक सर्वत्र व्याप्त हो गया और उस प्रकाश में सबके देखते-देखते विद्युत की चमक के सदृश अचानक ही आंडाल भगवान् के शरीर में समा गयी। कहते हैं, दक्षिण भारत के वैष्णव मंदिरों में आज भी उसका विवाहोत्सव बड़ी धूम-धाम के साथ मनाया जाता है। स्मरण रहे, आंडाल केवल एक भक्त ही नहीं अपितु एक श्रेष्ठ कवयित्री भी थी और उसकी काव्यकृतियाँ तमिल साहित्य की ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय साहित्य की जाज्वल्यमान रत्न समझी जाती हैं तथा न जाने कितने ही पौवात्य और पाश्चात्य विद्वानों एवम् दार्शनिकों ने उसकी प्रशंसा की है। आंडाल की 'तिरुप्पावै' तथा 'नाच्चियार तिरुमोलि' नामक दो काव्य-कृतियाँ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं और 'दिव्य प्रबन्धम्' में संग्रहीत चार सहस्र पदों में से श्री रामानुजाचार्य को 'तिरुप्पावै' के तीस पद अत्यधिक प्रिय थे और वे उनका इतना ज्यादा मनन करते थे कि वे स्वयं ही 'तिरुप्पावैणीवर' अर्थात् तिरुप्पावै संत कहलाने लगे। कहा जाता है कि आज भी वैष्णव मंदिरों में तथा वैष्णवोपासकों के घरों में मार्गशीर्ष मास के तीसों दिन अत्यंत श्रद्धा एवम् भक्ति के साथ प्रातः काल 'तिरुप्पावै' के तीसों पदों का गान होता है, और कुछ विचारकों ने तो यहाँ तक कहा है कि जो मनुष्य आंडाल के इन तीस पदों से विज्ञ नहीं है, उसका जीवित रहना वसुधा के लिए भार-स्वरूप ही है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि आगे चलकर पुष्टिमार्ग के संस्थापक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भक्ति में प्रपत्ति अर्थात् आत्मसमर्पण को जो महत्त्व दिया था उसका स्रोत आंडाल की सूक्तियों में स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

अनुमानतः आंडाल से लगभग सौ वर्ष पश्चात् ही तोंडर डिप्पोडी आळ्वार, तिरुप्पान आळ्वार तथा तिरुमंगई आळ्वार नामक अंतिम तीन आळ्वार-भक्तों का आविर्भाव हुआ। तोंडर डिप्पोडी आळ्वार का प्रारम्भिक

नाम विप्रनारायण था और वे भक्तांघ्रि रेणु भी कहे जाते हैं तथा उन्हें भगवान् की वनमाला का अवतार समझा जाता है। उनका जन्म एक पवित्र ब्राह्मण-कुल में हुआ था तथा भली-भाँति वेदाध्ययन करके ज्ञानोपार्जित कर लेने पर भी वे श्रीरंगम के विष्णु भगवान् के लिए पुष्पमालाएँ तैयार करते थे और एक सेवक की भाँति उस मंदिर में रहते थे। एक बार वे उक्त मंदिर की देवदेवी नामक एक अत्यंत रूपवती देवदासी पर आकर्षित हो गये तथा शनैः शनैः भगवान की सेवा तज कर उसी के क्रीतदास-से बन गये और उनकी विपुल सम्पत्ति दैवोपम गुण तथा उदात्त चरित्र, सभी कुछ स्वाहा होने लगा परन्तु देवदेवी द्वारा उन्हें घर से निकाल कर भिक्षुक बना देने पर भी भगवान की उन पर कृपा-दृष्टि थी और उक्त मंदिर से स्वर्णथाली चुराने के अपराध में पकड़े जाने पर भगवान् ने ही उन्हें निर्दोषी सिद्ध होने का अवसर प्रदान किया। इस घटना के पश्चात् वे पूर्णरूप से भक्त बन गये थे और फिर उन्होंने अपना समस्त जीवन दृढ़ वैराग्य के साथ भगवद्-भक्ति में ही लगाया, तथा निरंतर उन्हीं के गुणों का कीर्तन करते रहे। 'प्रबन्धम्' में उनके थोड़े से ही पद संगृहीत हैं, तथा उनमें शुद्ध भक्तिभावना या काव्य सौन्दर्य की अपेक्षा अन्य धर्मों के प्रति कटुता के भाव ही विद्यमान हैं।

तिरुप्पन आळवार, जिन्हें कि वत्स का अवतार माना जाता है, वस्तुतः अन्त्यज ही थे और कहा जाता है कि वे त्रिचिनापल्ली जिले के उरैपुर या बोरीडर नामक गाँव में एक धान के खेत में पड़े हुए मिले थे, जहाँ से कि उन्हें एक अस्पृश्य मनुष्य उठा लाया था, और उसीने उनका पालन-पोषण भी किया था। वह व्यक्ति गान-विद्या में निष्णात था, अतः स्वभावतया ही वे भी बाल्यावस्था में ही वीणावादन में निपुण हो गये परन्तु वे वीणा पर भगवान के नाम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं गाते थे। कहा जाता है कि अस्पृश्यता के कारण वे श्रीरंगम के मंदिर में प्रवेश न कर सके, और कावेरी के दक्षिणी तट पर खड़े हो कर वहीं से भगवान की स्तुति करते रहे परन्तु एक दिन उन्हें इस प्रकार खड़ा देख कर भगवान के स्नानार्थ जल ले जाने वाले एक मुनि ने उनसे वहाँ से हटने के लिए कहा, लेकिन जब वे नहीं हटे तो उसने उन्हें एक पत्थर फेंक कर मारा, परन्तु उधर श्रीरंगनाथ जी ने वह जल ग्रहण नहीं किया और अपने सेवक सारंगमा मुनि को उन्हें कंधे पर चढ़ा कर आदरपूर्वक मंदिर में लाने की आज्ञा दी। इस प्रकार वे सारंगमा मुनि के कंधे पर चढ़ कर मंदिर में प्रविष्ट हुए और

इसीलिए उनका नाम मुनिवाहन या योगिवाहन भी कहा जाता है। कहते हैं, मंदिर में प्रवेश करते ही वे भगवान की स्तुति करने लगे और अत्यधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी उन्होंने तनिक भी विराम न लिया और उस समय कुछ ही क्षणों में अचानक वहाँ उपस्थित सभी लोगों को ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चारों ओर दिव्य प्रकाश व्याप्त हो रहा है, और तिरुप्पन के मस्तक पर भगवान का चरण रखा हुआ है। सबके देखते-देखते ही तिरुप्पन उस दिव्यालोक में लीन हो गये। स्मरण रहे, उस समय उनकी आयु केवल पचास वर्ष की थी।

इन बारह वैष्णव भक्तों में तिरुमंगई सबसे अंतिम आळवार थे, और उनका समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। कहते हैं, उनका जन्म चोल देश के किसी ग्राम में एक शैव घराने में हुआ था। चूँकि इनके पिता बहुत बड़े योद्धा थे, अतः इन्होंने भी युद्ध-विद्या में निपुणता प्राप्त कर चोलदेश के सेनानायकत्व का पद प्राप्त किया और राजसी जीवन के कारण भक्ति-साधना में वे अपना अधिक समय न दे पाते थे। उन दिनों दक्षिण के तिरुवालि नामक स्थान में कुमुदवल्ली नामक एक रूपवती कुमारी कन्या रहती थी और वह भगवान विष्णु की अनन्य उपासिका थी। बड़े-बड़े राजा उससे ब्याह करने को इच्छुक थे, लेकिन उसने किसी से भी विवाह करना स्वीकार नहीं किया। तिरुमंगई के हृदय में कुमुदवल्ली से विवाह करने की लालसा हुई तथा उन्होंने उसके पिता के पास पहुँच कर अपनी इच्छा व्यक्त की, परन्तु कुमुदवल्ली ने कहा कि वह किसी वैष्णव-भक्त से ही विवाह करेगी, अतः उन्होंने वैष्णव-धर्म की दीक्षा ले ली। लेकिन उसने कहा कि इतना ही पर्याप्त नहीं है और यदि वास्तव में तुम्हें मुझसे विवाह करने की इच्छा हो तो अपनी वैष्णव-भक्ति का क्रियात्मक परिचय देने के हेतु प्रतिदिन एक वर्ष तक एक सहस्र आठ वैष्णवों को भोजन कराकर उनका प्रसाद मुझे लाकर देना होगा। तिरुमंगई ने यह शर्त तो स्वीकार कर ली लेकिन वे इतना अधिक व्यय सहन करने में असमर्थ थे। अतः द्रव्य जुटाने के हेतु उन्हें नृशंसतापूर्ण व्यवहार करना पड़ा, परन्तु उन्होंने वैष्णवों को भोजन कराना बंद नहीं किया। राजा द्वारा कारागार में बंद कर दिये जाने पर भी वे अपने प्रण से नहीं डिगे और उन्होंने बंदी-गृह में तब तक जल ग्रहण अस्वीकार कर दिया जब तक कि वे अपने प्रण की पूर्ति न कर लें। कहते हैं, भगवान ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर विपुल

सम्पत्ति का पता भी बतलाया और उन्हें यह सम्पत्ति भी प्राप्त हो गयी, लेकिन इतने पर भी उन्होंने डकैती का काम बंद नहीं किया। हाँ यह अवश्य है कि इस लूट-मार का एक भी पैसा वे अपने पास नहीं रखते थे, अपितु सब धन भक्तों में बाँट देते थे। भगवान ने उन्हें सुमार्ग पर लाने के हेतु स्वयं एक अमीर का वेश ग्रहण किया और रात में जब तिरुमंगई ने डाका डाला, तब उस विपुल धनराशि का बोझ वे उठा न सके और उसी समय उन्हें बोध हुआ कि वस्तुतः साक्षात् नारायण ही उन्हें इस कुमार्ग से दूर करने के लिए आये हुए हैं। अब उन्होंने पूर्णरूप से भक्तिमार्ग को ही अंगीकार कर लिया और तीर्थ-यात्रा के लिये निकल पड़े। तिरुमंगई ने भगवान की उपासना दास्यभाव से की है और बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित कर सगुणोपासना का महत्त्व भी प्रतिपादित किया है। स्मरण रहे कि नम्म आळवार के अतिरिक्त अन्य सभी आळवार भक्तों में इन्होंने सर्वाधिक पदों का सृजन किया है, लेकिन यह अवश्य है कि पेरि आळवार की सी स्वाभाविकता आंडाल की-सी सरसता और प्रेमानुभूति तथा नम्म आळवार की सी कलित कमनीयता का उनके पदों में अभाव-सा है, अतएव केवल भक्ति-भावना की दृष्टि से ही हम उनके पदों को महत्त्व दे सकते हैं।

इस प्रकार इन ग्यारह आळवार भक्तों के संक्षिप्त परिचय से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी साधक वास्तव में बहुत बड़े भक्त थे, तथा ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक दक्षिण में उन्होंने, जिस प्रकार वैष्णवोपासना का प्रचार कर उत्तरी भारत में भक्ति-भावना को सुस्थिर करने में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया है, वह निस्सन्देह प्रशंसनीय है। वस्तुतः उनकी भक्ति-भावना में हमें प्रपत्ति अर्थात् आत्मसमर्पण की भावना ही प्रधान रूप से दृष्टिगोचर होती है और उनका जीवन वस्तुतः अपने आराध्य का ही उच्छ्वासमात्र बन चुका था। वे स्वामी, पिता, सुहृदय, प्रियतम एवम् पुत्र के रूप में ही उसका भजन करते थे और उसी से प्रेम करते थे। यह भी हम कह चुके हैं कि इन वैष्णव आचार्यों के लगभग चार सहस्र पदों का संग्रह नाथमुनि ने किया था और वह 'नाडियार प्रबन्धम्' या 'दिव्य प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध है तथा उसका पाठ पढ़ने के हेतु जिन व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती है वे 'अडैयार' कहलाते हैं लेकिन 'प्रबन्धम्' का पाठ करने की सभा वैष्णवों को स्वतन्त्रता है तथा इसके लिए वर्ण एवम् जाति का कोई बन्धन नहीं है।

स्मरण रहे आगे चल कर, जिन रामानुजाचार्य ने 'विशिष्टाद्वैत' का सिद्धान्त स्थापित कर सगुण-भक्ति का प्रचार किया, वे न केवल नाथमुनि के पौत्र यमुनाचार्य के शिष्य थे, अपितु उन्होंने स्वयं भी 'प्रबन्धम्' का अत्यन्त मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था, और यदि हम यह कहें कि उनके विचारों पर तमिल आळवार-भक्तों का प्रभाव भी विशेष रूप से पड़ा है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस प्रकार 'प्रबन्धम्' के पदों में दार्शनिक विचार-धारा भी विद्यमान है तथा ए० गोविन्दाचार्य ने तो अपनी कृति 'The Divine Wisdom of Dravidian Society' में इस बात को भली भाँति सिद्ध भी कर दिया है कि विशिष्टाद्वैत एवं श्री सम्प्रदाय की आधार शिला वस्तुतः 'प्रबन्धम्' के इन पदों के आधार पर ही रखी गयी है। परन्तु कुछ विचारकों ने इन भक्त-कवियो की भावना में केवल सहवास का प्रेम ही पाया है और उनकी दृष्टि में आळवारों ने प्रतीकों द्वारा प्राप्त ऐन्द्रिय अनुभवो को अपने आत्मानंद का आधार बनाया था परन्तु मैं इन विचारो से किसी भी भाँत सहमत नहीं हो सकता तथा मेरी दृष्टि में तो 'प्रबन्धम्' ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, समता एवम् आनन्द से ओत-प्रोत आत्मज्ञान का अमूल्य कोष है, और उसमें शुद्ध भक्ति-भावना ही दृष्टिगोचर होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह संतों के मुख से निकली हुई दिव्य वाणी ही है तथा भक्ति-भावना की दृष्टि से ही नहीं, अपितु काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से भी उसका विशेष महत्त्व है और उसमें संकलित अधिकांश पदों की काव्यसुषमा भी सराहनीय है। इस प्रकार अलौकिक अनुभूति, उत्कृष्ट कल्पना-शक्ति, अभिव्यंजन-शैलियों की नवीनता एवं कोमलकांत पदावली से युक्त पदों का सृजन कर, भक्ति-भावना की पवित्र पियूष-प्रवाहिनी गंगा को प्रवाहित कर इन आळवार-भक्तों ने समस्त प्राणियों को आत्मोन्नति का पथ दिखलाते हुए लौकिक आनन्द के साथ अलौकिक आनन्द का रसपान करने की प्रेरणा दे कर वास्तव में भक्ति काव्य का गगनांगन दैदीप्यमान कर दिया है और न केवल तमिल-साहित्य को, अपितु समस्त भारतीय साहित्य को महत्त्वपूर्ण देन दी है।

तमिल-प्रदेश के अडियार शैव संत

यह तो हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि भक्ति-भावना की जो निर्झरिणी दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित हुई थी उसमें वैष्णव भक्तों की भाँति शैव संतों ने भी अपना महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया था और तंजौर निवासी नम्बियानयार द्वारा ग्यारह भागों में संकलित 'तिरुमुरारि' नामक शैव भक्तों के धार्मिक साहित्य का भी उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने शिवोपासना को आज से पाँच हजार वर्ष प्राचीन माना है लेकिन किसी क्रमबद्ध इतिहास के अभाव में उस समय के प्रमुख शैवभक्तों का वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता परन्तु ईस्वी सन् ७०० से तो दक्षिण भारत के शैव संतों के विषय में विशिष्ट विवरण उपलब्ध होते हैं और कुछ विचारकों का तो यह भी मत है कि वस्तुतः अगस्त्य मुनि उत्तर भारत के निवासी न होकर दक्षिण भारत में तमिलनाड प्रदेश के पोडोगाइ पर्वत के प्रमुख निवासी थे तथा मुख्यतया शिवोपासक ही थे। इसी प्रकार कहा जाता है कि मदुरा के तमिल संघ के अध्यक्ष पाण्ड्यदरबार के संत नक्कीर (जिनका स्थान पाण्ड्यदरबार के उनचास राजकवियों में था) की कविताओं में भी शैव भक्ति-भावना ही विद्यमान है। निष्काम भक्ति की सजीव मूर्ति संत कण्णप्प जो कि शिव के अनन्य उपासक थे वस्तुतः ईसा की द्वितीय शताब्दी में ही हुए हैं और उनके विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने शिव की पूजा करते समय अपना एक नेत्र ही उनके पदकमलों में चढ़ा दिया था तथा दूसरा चढ़ाने जा ही रहे थे कि शंकर ने हाथ पकड़ कर रोक लिया और आशीर्वाद प्रदान किया। इस प्रकार उन्हें शिव का साक्षात्कार प्राप्त हो सका था। ईसा की छठवीं शताब्दी में तिरुमूलर नामक एक सिद्ध योगी हुए हैं जिन्होंने कि शिव भक्ति विषयक तीन सहस्र पदों का सृजन किया है और स्मरण रहे कि तिरुमुरारि के दसवें भाग में उनके पद भी संकलित किए गए हैं। तिरुमूलर को हिमालय का सिद्ध योगी समझा जाता है तथा कहा जाता है कि मानवजाति को अधर्म एवम् सर्वनाश से बचाने के हेतु मानवदेह धारणकर साधारण मनुष्यों की भाँति वे जीवन व्यतीत करते थे और उन्होंने शिवजी के प्रधान गण नन्दी से दीक्षा भी ग्रहण की थी तथा उन पर भगवान शंकर की पूर्ण कृपा थी। कुछ विद्वानों ने जिनका कि अनुमोदन प्रसिद्ध अँग्रेजी विद्वान डॉ० ए. बी. कीथ भी करते हैं तिरुमूलर का

समय सन् १५० ई० से सन् ९०० ई० तक माना है लेकिन कुछ अन्य विद्वान तो उनका समय ३०० ई० से ७०० ई० तक मानते हैं।

वस्तुत: शैव धर्म में चर्या, क्रिया, योग और ज्ञान नामक चार प्रमुख मार्ग हैं जिन्हें कि दासमार्ग, सत्पुत्रमार्ग, सहमार्ग और सन्मार्ग कहा जाता है तथा जिनका संस्थापक क्रमश: संत तिरुनावुक्करसु, संत ज्ञान सम्बन्ध, संत सुंदर मूर्ति तथा संत माणिक्कवाचक को माना जाता है। तिरुनावुक्करसु जिन्हें कि संत अप्पार भी कहा जाता है ईसा की सातवीं शताब्दी में आविर्भूत हुए थे और कहा जाता है कि उनका जन्म ६०० ई० में दक्षिण आरकाट जिले में एक छोटे से गाँव में हुआ था लेकिन शैशवावस्था में ही उनके माता-पिता का निधन हो जाने से उनकी बड़ी बहिन ने ही उनका पालनपोषण किया। यों तो जैनाचार्यों के संसर्ग में आकर उन्होंने जैनसम्प्रदाय के ग्रंथों का अध्ययन भी किया था जिसके अनुसार एक बार भयंकर पीड़ा होने पर बहिन के कथनानुसार उन्होंने शिवमंदिर में जाकर शंकर की सुन्दर काव्य-गीतों से प्रार्थना की जिससे न केवल उनका दर्द मिट गया अपितु यह आकाशवाणी भी हुई कि तुम्हारी वाणी में सरस्वती निवास करेगी अतएव वे तन से प्रभुसेवा, मन से ध्यान एवम् वाणी से उनका गुणगान करने लगे। यद्यपि पल्लव नरेश ने जैन-धर्म में इन्हें दीक्षित करने के हेतु अत्यधिक कष्ट दिए लेकिन वे तनिक भी विचलित न हुए। कहा जाता है कि चिदम्बरम् में इनकी भेंट संत सम्बन्ध से हुई थी और सम्बन्ध ने इन्हें अप्पार (पिता) कहकर पुकारा तथा तभी से ये 'अप्पार' नाम से प्रसिद्ध हो गए। संत अप्पार और संत सम्बन्ध दोनों में प्रगाढ़ मैत्री थी तथा दोनों ने साथ ही साथ देश के विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण किया था और तिरुपगलूर में उन्हें कंचन-कामिनी के प्रलोभन दिए गए लेकिन वे तनिक भी विचलित न हुए। अंतिम दिनों में तो अप्पार भगवान से प्रार्थना करते थे कि उन्हें अपने अंक में स्थान दो और प्रभु ने उनकी प्रार्थना स्वीकार भी कर ली तथा ८१ वर्ष की आयु में वे परमात्मा में लीन हो गये। स्मरण रहे उनका जीवन सरल, सात्विक और आडम्बरहीन था तथा केवल कोपीनमात्र धारणकर हाथ में झाड़ू लिए वे मंदिर स्वच्छ किया करते और सर्वदा पैदल ही चलते थे। शिशु के समान सरल होते हुए भी दृढ़ता उनमें थी और कहा जाता है कि उन्होंने उनचास हजार पद लिखे थे लेकिन अब केवल तीन सौ ग्यारह ही उपलब्ध होते हैं।

संत सम्बन्ध का जन्मकाल लगभग ईस्वी सन् ६१९ माना जाता है तथा

उनके सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है कि चार वर्ष की आयु में जब वे अपने पिता के साथ एक सरोवर में स्नान करने गए और जैसे ही उनके पिता ने सरोवर में डुबकी लगाई तो उन्हें भगवान शिव और माता पार्वती के दर्शन हुए तथा पार्वती जी ने उन्हें एक स्वर्णपात्र में आध्यात्मिक शक्ति से पूर्ण दूध पिलाया जिसे पीते ही उनके मानस में प्रेरणाएँ जाग्रत हो उठीं तथा ज्ञान-प्रदीप प्रज्ज्वलित होने से उन्हें 'ज्ञान सम्बन्ध' कहा जाने लगा। उनके मुख में दूध लगा हुआ देखकर जब उनके पिता ने पूछा कि यह दूध कहाँ से आया तो उन्होंने अंतरिक्ष की ओर इंगित किया और अचानक उनकी वाणी से कविता निःसृत हो उठी जिसमें कि शिव और पार्वती की अनुकम्पा का विशद वर्णन था। संत ज्ञान सम्बन्ध अब ग्राम-ग्राम घूमकर शिवभक्ति का प्रचार करने लगे तथा विभिन्न कष्टों के दिये जाने पर भी विचलित न हुए और वस्तुतः पाण्ड्य देश में स्थापित जैन-धर्म के स्थान पर शैव-धर्म की पुनः स्थापना का श्रेय भी इन्हें ही प्रदान किया जाता है। कहा जाता है कि गुरुजनों के आग्रह पर इन्होंने अपना विवाह कर लिया था लेकिन विवाह के पूर्व ही अपनी पत्नी सहित इन्हें कोई देवता किसी सुदूर स्थान को ले गया। इनके जीवनवृत्त तथा कविताओं से स्पष्ट झलकता है कि वस्तुतः ये प्रभु की उपासना पिता के ही रूप में करते थे और नारीशक्ति के उपासक होने के साथ-साथ उनके सुमधुर पदों में प्रभु प्रसाद तथा प्राकृतिक रूप विलास का मनोमुग्धकारी वर्णन है और शंकर-पार्वती दोनों की महिमा समान रूप से प्रत्येक पद में अंकित की गई है।

सुन्दरमूर्ति जो कि सहमार्ग के आचार्य माने जाते हैं का प्रादुर्भाव अरकाट जिले में ही संत ज्ञान सम्बन्ध के सौ साल उपरान्त हुआ था। कहा जाता है कि विवाह के समय एक वृद्ध ब्राह्मण इनकी पत्नी को अपनी दासी प्रमाणित कर साथ-साथ ले गया और ये भी उस विप्र के पीछे-पीछे जाने लगे लेकिन इन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि वस्तुतः वे तो साक्षात् शिव ही थे जो अपने भक्त को सांसारिक बंधनों से मुक्ति प्रदान कर सत्मार्ग पर लाना चाहते थे तब प्रभु सेवा में ही अपना समस्त जीवन अर्पित करने का निश्चय कर ग्राम-ग्राम घूमते हुए वे चिदम्बरम् पहुँचे। कहते हैं उन्होंने कभी किसी से भिक्षा ग्रहण नहीं की तथा परमात्मा स्वयं उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था और एक बार जब एक सम्पन्न व्यक्ति ने उन्हें आमंत्रित कर अपनी दो कन्याएँ उन्हें अर्पित कर दीं तो उन्होंने उनको अपनी पुत्री रूप में स्वीकार किया। इसी प्रकार कहते हैं उत्तरी मद्रास के एक ग्राम की कन्या ने यह

निश्चय कर रखा था कि या तो वह किसी संत से विवाह करेगी या आजीवन अविवाहित रहेंगी और संयोगवश सुंदरमूर्ति वहाँ पहुँच गए तथा उन्होंने ईश्वर के आदेशानुसार उससे विवाह कर लिया परन्तु उन्हें यह शर्त भी स्वीकार करनी पड़ी कि वे कभी भी उस गाँव की सीमा से बाहर नहीं जायेंगे लेकिन एक बार अचानक वे गाँव की सीमा के बाहर चले गये अतः उन्हें अंधा होना पड़ा जिसके फलस्वरूप अनेकानेक कष्ट सहन करते हुए उन्होंने अपने अपराधों के लिये क्षमा माँगते हुए भगवान् से इस कष्ट से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना की। कहते हैं उनकी प्रार्थना पर करुणार्द्र होकर भगवान भी पसीज उठे और इस प्रकार काँची में उन्हें एक नेत्र प्राप्त हुआ तथा तिरुवर में दूसरा। कहा जाता है कि सुंदरमूर्ति ने लगभग अड़तीस सहस्र पदों का सृजन किया था लेकिन उनके केवल एक सौ पद ही प्राप्त होते हैं। भगवान् के प्रति असीम अनुराग और श्रद्धा से पूर्ण इन पदों में अत्यधिक सरसता तथा भावव्यंजकता भी है।

वस्तुतः संत माणिक्कवाचक जिन्हें कि माणिक्कवासड़ भी कहा जाता है, दक्षिण भारत के शैव संतों में अग्रगण्य हैं तथा 'तिरुमुरारि' में संकलित उनका 'तिरुवाचकम्' उपनिषदों के समकक्ष समझा जाता है। इन्होंने प्रभु-प्राप्ति का एक मात्र मार्ग प्रेममार्ग ही माना है और उनकी दृष्टि में धर्मग्रंथों का अध्ययन, तपस्या, उपवास, कर्मकांड, यज्ञ तथा अन्य प्रयत्नों द्वारा कभी भी प्रभु प्राप्ति नहीं हो सकती लेकिन शुद्ध, सात्विक एवम् निष्काम प्रेम द्वारा वह सुगमता से हो सकती है। उनका जन्म मदुरा के समीप बदाकर ग्राम में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था और दस वर्ष की आयु में ही इनकी विलक्षण प्रतिभा का आलोक, चारों ओर फैलने लगा था तथा इनकी योग्यता एवम विद्वत्ता को लक्षकर तत्कालीन पाण्ड्यनृपति ने इन्हें अपना प्रधानमंत्री भी बना लिया था। यद्यपि आयु में आप एक बालक ही थे लेकिन तीक्ष्ण बुद्धि से शासन कार्य में पटुता दिखाने के कारण राजा के दाहिने हाथ समझे जाते थे। कहा जाता है एक बार राजा ने इन्हें कुछ अश्व खरीदने के हेतु तिरुपेरन्दुराई भेजा लेकिन वहाँ आपको अपने गुरुदेव के दर्शन हुए अतएव आपके पास घोड़े खरीदने के हेतु जो रुपया था उन्हें आपने अपने गुरु के लिये मंदिर बनवाने में लगा दिया। राजा ने जब यह बात सुनी तो उन्हें दंड देकर राज्य से बहिष्कृत कर दिया अतः वे भजन गाते हुए इधर उधर मंदिर मंदिर घूमा करते और इस प्रकार उन्हें राजदंड की कुछ भी चिन्ता

न थी। ये नटराज की उपासना करते थे और शैवों के प्रमुख दुर्ग चिदम्बरम में उन्होंने शास्त्रार्थ में बौद्धों को पराजित भी किया था। इनके पद तमिल देश में आज भी अत्यन्त श्रद्धा एवम् सम्मान के साथ पढ़े और सुने जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति-भावना के क्रमिक विकास में इन शैव संतों का भी महत्त्वपूर्ण योग है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि वस्तुतः वैष्णव और शैव भक्तों के गीतों में विचार एवं भाव की दृष्टि से कोई विशेष अंतर नहीं है केवल पृथक् पृथक् विष्णु एवम् शिव को ही प्रधानता दी गई है लेकिन इतना अवश्य है कि आळवार भक्तों की पदावली में स्पष्टरूप से अवतारवाद का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए कहा गया है कि भक्तों का कष्ट दूर करने के हेतु विष्णु को बार-बार अवतार ग्रहण करना पड़ता है परन्तु शिव के विषय में कहीं भी इस प्रकार की भावना अंकित नहीं की गई। इसमें कोई संदेह नहीं कि वैष्णवोपासक आळवार भक्तों तथा शैवोपासक अडियार भक्त दोनों ने अपनी-अपनी सुमधुर पदावली का सृजन मानस की रागात्मिका वृत्ति से प्रेरित होकर ही किया था जिसमें कि मानवमात्र के मानस को स्पर्श करनेवाले वे भाव अंकित थे जिन्होंने कि सर्व सामान्य को भी प्रभावित करते हुए बुद्ध तथा जैन धर्म के प्रति तनिक भी श्रद्धा उनमें न रहने दी।

अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक : शंकर और रामानुज

जब कि उत्तरी भारत में वैदिककालीन भक्ति-भावना वज्रयान, मंत्रयान और सहजयानी सिद्धों तथा नाथपंथी योगियों के कारण विकृत होकर तंत्रमंत्र और योग-साधना तक ही सीमित रहकर सर्वसामान्य के लिए दुर्बोध होती गई तथा सामाजिक अव्यवस्था एवं विषम परिस्थितियों के फलस्वरूप इस समस्यामूलक स्थिति को सँभालकर किसी सर्वजनानुमोदित श्रेयस्कर मार्ग का निकालना अत्यंत दुष्कर कार्य सा होता गया तथा दक्षिण भारत के आळवार और अडियार भक्त कवियों ने स्वाभाविक एवं स्वच्छंद-भक्ति भाव-धारा को प्रवाहित करते हुए हृदय मुक्ति की उस चरमसीमा पर पहुँच कर जहाँ कि आराध्य और आराधक एकाकार हो जाते हैं, विश्वास संशय पर विजय प्राप्त कर लेता है, भावना प्रज्ञा के समस्त व्यापारों को कुंठित कर पूर्णरूपेण समस्त वृत्तियों को आत्मसात कर लेती है, प्रेमाभक्ति के ऐसे सुमधुर गीत गाए जिनमें कि तर्कशास्त्र ज्ञान, अविश्वास, संशय आदि विलीन हो गए और फिर इस प्रबल धारा के सामने न टिक सके तथा भक्ति-भावना से समस्त प्रदेश रससिक्त सा होने लगा। सर्वसामान्य जनता चाहे इन निर्मल भावमुक्ताओं को अपने कंठ का आभरण बनाकर कृतकृत्य हो उठी परन्तु अभी ऐसे आचार्य और विभिन्न धर्म संस्थापक भी थे जो अपने सिद्धान्तों को ही श्रेयस्कर समझते थे। अतः भक्ति के इन कोमल भावों में तर्क का पुट लगाकर शास्त्रीय नियमों के साँचे में ढालते हुए सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा द्वारा श्रुति स्मृतियों से उनको सूत्र बद्ध कर दक्षिण भारत के विद्वान आचार्यों ने वैष्णव धर्म की प्रतिस्थापना में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। स्मरण रहे दक्षिण भारत के ये वैष्णव सम्प्रदाय प्रारंभिक आळवार एवम् अडियार संतों की अपेक्षा परवर्ती हैं तथा मूलतः इनके सिद्धान्तों में भी उनके पदों की भावस्रोतस्विनी ही निर्झरित सी हो रही है और जिस प्रकार उन भक्तों ने अपने पदों द्वारा भाव रूप में दक्षिण में तमिल-नाड से लेकर महाराष्ट्र एवम् मध्यभारत को अपनी ध्वनि से गुंजित कर वैष्णव भक्ति को उत्तर भारत की ओर प्रवृत्त किया उसी प्रकार इन आचार्यों ने भी उन विचारों को व्यवस्थित रूप में ढालकर वैष्णव धर्म का प्रचार कार्य प्रारंभ किया। इस प्रकार विक्रम की प्रथम शताब्दी में और उसके पश्चात् भी

दक्षिण से वैष्णव धर्म का प्रवाह उत्तराभिमुख होता गया तथा वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने प्रबल प्रचार द्वारा उत्तरी भारत में भी वैष्णव धर्म की ऐसी तीव्र बाढ़ सी ला दी जिसके प्रवाह में उत्तर भारत के शैव, शाक्त, तांत्रिक वाममार्गी मत स्थिर न रह सके और वैष्णव भक्ति का वह अंकुर जो किसी समय उत्तर से दक्षिण गया था पुनः दक्षिण में विकसित होकर उत्तरी भारत में पहुँच कर पल्लवित होने लगा जिसके फलस्वरूप हमारे हिंदी-साहित्य में श्रेष्ठतम कवियों का प्रादुर्भाव भी हो सका। इस प्रकार दक्षिण भारत के विभिन्न भक्ति सम्बंधी सम्प्रदायों और उनके प्रवर्तक आचार्यों का अपना विशिष्ट महत्व है।

शंकराचार्य

स्मरण रहे उन आचार्यों में सर्वप्रथम शंकराचार्य ही हुए हैं जिन्हें कि भक्ति सम्बंधी दार्शनिक सम्प्रदाय का प्रथम ज्वाज्वल्यमान रत्न कहा जाता है और जो कि भारतीय दर्शन व्योम मंडल के सर्वाधिक प्रभापूर्ण नक्षत्र हैं तथा जिनकी गणना न केवल भारत के श्रेष्ठतम विचारकों में--याज्ञवल्क्य, आरुणि गौतम, कणादि और कपिल जो कि दार्शनिक होने के साथ-साथ ऋषि भी थे--बल्कि विश्व साहित्य के प्रसिद्ध विचारकों में करनी चाहिए। विश्व में अभी तक ऐसा कोई भी दार्शनिक नहीं हुआ जिसके सिद्धान्तों की टीका और व्याख्या करने के लिए इतनी बड़ी संख्या में मेधावी विद्वान आकर्षित हुए हों और न तो अभी तक किसी विचारक के इतने अनुयायी ही हुए जितने कि शंकराचार्य के। शंकराचार्य ने अकेले ही कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक वेदान्त की दुन्दुभी को बजाते हुए बौद्धों के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। जैसा कि श्री महादेव राजाराम बोंडस ने लिखा है—"गौतम बुद्ध के समय से सर्वशक्ति और बौद्धिक विचारों का प्राबल्य खूब बढ़ गया था। परन्तु लोगों को यह भली-भाँति विदित हो गया था कि तर्क शक्ति से ब्रह्म-ज्ञान असंभव है। इस कारण मीमांसकों की प्रवृत्ति शब्द प्रामाण्य की ओर बढ़ी। उन्हीं के नियमों के अनुसार शंकराचार्य ने वेदान्त शास्त्र का निर्माण किया। तर्क शक्ति के अप्रतिष्ठित और अनिश्चित रहने के कारण ब्रह्मज्ञान का वास्तविक आधार शास्त्र उपनिषद् हैं और इन उपनिषदों के वाक्यों का समन्वय करना ही ब्रह्मज्ञान का मार्ग है। सनातन धर्म के इस सिद्धान्त की स्थापना करके आचार्य ने तर्क बुद्धि द्वारा चंचल बुद्धि को शांत किया। अशांत चित्तों को 'तत्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा अन्तर्मुख करके 'अहं ब्रह्मास्मि' का साक्षात्कार कराया। तर्क वितर्कों की तरंगों में धक्के खानेवाले मन को ब्रह्मज्ञान द्वारा स्थिरता प्रदान की।"

इस प्रकार प्राचीन वैदिक औपनिषिदिक धर्म की पुनर्स्थापना का पूर्ण श्रेय श्री शंकराचार्य को ही दिया जाता है लेकिन बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि उनके जीवन एवं सिद्धान्तों से संबंधित पर्याप्त सामग्री के प्रकाश में आ जाने के पश्चात् भी अभी तक उनके काल-निर्धारण के विषय में कोई भी सर्वमान्य निर्णय न हो सका है। श्री कृष्णस्वामी अय्यर ने Shanker and His Times में, भाष्याचार्य ने अपनी पुस्तक Age of Shanker में तथा आनंदगिरि ने 'शंकर विजय' में उनके जीवन तथा समय पर प्रकाश डालते समय शंकराचार्य का जन्म सं० ८४५ तथा निधन सं० ८७१ में माना है परन्तु श्री लोकमान्य तिलक ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'गीता रहस्य' के परिशिष्ट प्रकरण में उनका समय उक्त तिथि से एक शताब्दी पूर्व माना है। शंकराचार्य का जन्म मलाबार प्रदेश में मलाबार नदी के किनारे कलादि नामक एक छोटे से ग्राम में हुआ था तथा इनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम आर्याम्बा था। ये नम्बूदी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे तथा बाल्यावस्था में ही पिता का देहावसान हो जाने के कारण इनकी शिक्षा दीक्षा का पूर्ण भार इनकी माता पर ही था। शंकराचार्य अलौकिक प्रतिभा-संपन्न बालक थे तथा अल्पवयस में ही संस्कृत भाषा में उपलब्ध समस्त ग्रंथों के पारंगत विद्वान हो गए और संसार की असारता से प्रभावित होकर अल्पायु में ही सन्यास ग्रहण कर नर्मदा तट पर विचरण करनेवाले आचार्य 'गौड़पाद' के शिष्य गोविन्द योगी से उन्होंने शिष्यत्व ग्रहण किया। अपने शिष्य की अपूर्व प्रतिभा, त्याग एवं विद्या से प्रभावित होकर गोविन्दस्वामी ने उन्हें परमहंस की उपाधि दी और तत्पश्चात् शंकराचार्य ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के हेतु प्रायः सारे भारतवर्ष में भ्रमण किया, भिन्न-भिन्न प्रचलित मतों के प्रधान आचार्यों से शास्त्रार्थ और अनेक स्थलों पर अपने प्रवचनों द्वारा न केवल सर्वसाधारण को प्रभावित करने की चेष्टा की अपितु विरोधियों को भी पराजित किया तथा द्वारिका में शारदामठ, जगन्नाथपुरी में गोवर्धनमठ, हरिद्वार में ज्योतिर्मठ, मैसूर में शृंगेरीमठ और काशी में सुमेरुमठ नामक पाँच मठों की स्थापना कर स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य सभी को सन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा दी। वस्तुतः शंकराचार्य ही पहले आचार्य थे जिन्होंने जातिपाँति की संकीर्णताओं को हटाने का सर्वप्रथम प्रयास कर सामाजिक विषमताओं को दूर करते हुए बौद्ध-धर्म समर्थक आचार्यों को पराजित किया है। श्री कृष्णस्वामी अय्यर ने उनके 'मनुष्यपंचक' का अनुवाद करते हुए उनके विचारों को इस प्रकार अभिव्यक्त

किया है "He who has learned to look on Phenomena in this light monistic is my true Guru, be he a chandal or a twice-born. This is my Conviction." यद्यपि शंकराचार्य के इन सुधारवादी विचारों का कट्टर ब्राह्मणों ने घोर विरोध किया था लेकिन वे लक्ष्य-भ्रष्ट न हुए और इस प्रकार भारतीय संस्कृति के इतिहास में उनका प्रादुर्भाव निश्चय ही एक चमत्कारी घटना है। परम्परागत विषमताओं को बिलगकर समाज को एक नवीन दिव्यालोक से अभिभूत कर अपनी अपूर्व प्रतिभा शक्ति द्वारा श्रुति स्मृति विहित धर्म का पुनरुत्थान कर निवृत्तिमार्ग के वैदिक सन्यासधर्म को पुनर्जन्म दे उन्होंने जो बौद्ध एवं जैन-धर्म की व्यापकता को नष्ट करने में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया है वह निश्चय ही स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है । वस्तुत: उनके विचारों का प्रभाव भारत के सभी प्रान्तों पर पड़ा है तथा उनकी विचार तरंगों के तीव्र प्रवाह में अन्य सभी छोटे मोटे मत मतान्तर तो विलीन से हो गये और उनके इस प्रभाव को लक्षकर डॉ० ताराचन्द ने लिखा भी है "Shankra's career is the great watershed in the history of Sanskrit learning. Behind him lies the world of ancient ideas, half-reconciled systems profound but the scattered thoughts, rival philosophies, struggling for ascendancy, the charming pantheon and theologies in a fluid condition, a living culture almost anarchic in its exuberance; before him the medieval world of set ideas, fixed systems, scholastic ingenuity, accretion not growth, explanation not invention, commentries not philosphies, a stereotyped uniformity. The living stream of culture abandons the ancient bed of Sanskrit and flows through new channels—Tamil, Telugu and Canarese in the south, Hindi, Bengali, Marathi and Urdu in the north but the abanboument is never quite complete, an increasigly thinnig rill continues to linger in the old beds."[१]

इस प्रकार अपनी केवल बत्तीस वर्ष की अवस्था में ही शंकराचार्य ने जो महान् कार्य किया है वह निस्संदेह प्रशंसनीय है और अपने इस थोड़ी सी आयु में

१. Influence of Isalm on Hindu Culture—Dr. Tarachand (page 96-97)

ही उन्होंने ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों एवम् भगवद्गीता पर भाष्य भी लिखे हैं। उपदेश साहस्री, शतश्लोकी आदि उनके सरल प्रकरण ग्रंथ हैं और साथ ही उन्होंने दक्षिणा मूर्ति स्तोत्र, हरिभीडे स्तोत्र, आनंदलहरी तथा सौंदर्यलहरी नामक कृतियों का प्रणयन भी किया है जिनसे कि वे न केवल एक दार्शनिक अपितु भक्त और कवि भी जान पड़ते हैं परन्तु विशेषत: वे एक दार्शनिक के रूप में ही प्रसिद्ध हैं तथा उनके दर्शन को अद्वैतवाद, मायावाद, मिथ्यात्ववाद और रहस्यवाद आदि नामों से विभूषित किया जाता है। स्मरण रहे कि बादरायणसूत्रों के ऊपर 'शारीरिक' नामक भाष्य की रचना करने पर भी शंकराचार्य स्वयं अपने आपको वेदान्तदर्शन का प्रतिष्ठाता न मानकर उपनिषद् ग्रंथों और ब्रह्मसूत्रों में वेदान्तदर्शन का प्रतिपादक ही मानते हैं। 'शंकरभाष्य' पर लिखी गई पद्मपाद की 'पंचपादिका' तथा श्री वाचस्पति मिश्र की 'भामती' नामक टीकाओं का बड़ा महत्त्व माना जाता है। वास्तविकता तो यह है कि शंकराचार्य के पश्चात् जितने भी प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं वे मूलरूप से शंकर के ही सिद्धांतों से प्रभावित थे और या तो उन्होंने उनके सिद्धांतों में कुछ संशोधन किए हैं अथवा उनसे अपना विरोध प्रकट किया है और इस प्रकार कहा जा सकता है कि शंकराचार्य का व्यापक प्रभाव परवर्ती समस्त वैष्णव सम्प्रदायों पर पड़ा है।

वस्तुत: शंकराचार्य का उद्देश्य मीमांसकों पर विजय प्राप्त करना था और उस समय मीमांसकों तथा वेदांतियों में दो मूल विषयों पर मतभेद था। प्रथम तो मीमांसक कर्म से मुक्ति मानते हैं जब कि वेदान्ती ज्ञान से तथा कुछ विचारकों का मत ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद भी रहा है जबकि वेदान्ती उससे सहमत नहीं हैं। द्वितीय विरोध तो श्रुतियों के प्रतिपाद्य विषय के संबंध में है तथा मीमांसकों की दृष्टि में वेद कर्मपरक हैं ज्ञानपरक नहीं जबकि वेदांतियों का विचार है कि ब्रह्म का बोध कराना ही श्रुतियों का उद्देश्य है। यद्यपि मीमांसक वेदों को प्रामाणिक मानते थे लेकिन उनकी दृष्टि में वेदों में तत्वज्ञान का प्रतिपादन नहीं किया गया है और इस प्रकार वे वेदविहित कतिपय यज्ञ-विधायक वाक्यों के अतिरिक्त उपनिषदों के शेष दार्शनिक सिद्धान्तों को उपादेय न समझते थे। मीमांसकों का मत था कि उपनिषदों में जो ब्रह्म का वर्णन किया गया है वह निरा अत्युक्तिपूर्ण है और केवल ब्रह्म को प्रतिष्ठा दिलाने के उद्देश्य से किया गया है परन्तु शंकराचार्य उपनिषदों के सम्बन्ध में उनके तथ्यों को स्वीकार नहीं करते थे क्योंकि उनसे ब्रह्म के वास्तविकतापूर्ण उच्च ज्ञान का

उपदेश प्राप्त होता है जो कि मोक्ष-प्राप्ति का सुगम साधन है। शंकराचार्य की दृष्टि में वेदविहित यज्ञ विषयक वे कतिपय उपदेश ऐहिक सुख की कामना करनेवाले साधारण पुरुषों को ही संतोष दे सकते हैं परन्तु जो व्यक्ति इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक अपनी समस्त कामनाओं का दमन करने में सफल हो सकता है, उसके लिए तो उपनिषदों में विहित ब्रह्म का उपदेश ग्रहण करना ही उचित है, क्योंकि वास्तव में एक ब्रह्म ही पूर्ण अविनाशी और सत्य है। इस प्रकार सैद्धांतिक दृष्टि से शंकराचार्य अद्वैतवाद के समर्थक थे और उनकी दृष्टि में वस्तुत: श्रुतिकथित सिद्धान्तों में तनिक भी विरोध नहीं है। हाँ, उनकी व्याख्या में विभिन्नता हो सकती है और इस प्रकार उन्होंने वैदिकधर्म के ज्ञान और आचरण नामक ये दो स्वाभाविक विभाग ही माने हैं जिसमें से प्रथम में तो ब्रह्म का स्वरूप निर्णयकर उसका सम्बन्ध जीव और प्रकृति से माना गया है तथा द्वितीय आचरण पक्ष में तो मनुष्य को इस संसार में किस प्रकार का आचरण करना चाहिए इस बात पर विचार किया गया है।[1]

स्मरण रहे शंकराचार्य ने उपनिषदों के परम सत्य को समझाने के हेतु तर्क को प्रमाण माना है परन्तु वेदान्तशास्त्र में वस्तुत: तर्क का क्या स्थान हो सकता है, इस विषय में उन्होंने कहीं-कहीं परस्पर विरोधी विचार भी व्यक्त किए हैं। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' सूत्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने ब्रह्म जैसे गंभीर विषयों पर विचार करते समय तर्क की अप्रतिष्ठा को देखते हुए उसका शांत रहना ही आवश्यक माना है क्योंकि यह देखा जाता है कि तर्कज्ञान परस्पर में विरोध ही रखता है और उसके द्वारा परस्पर विरुद्ध बातें स्वाभाविक ही सिद्ध की जा सकती हैं परन्तु कुछ विद्वानों का यह विचार है कि तर्क अप्रतिष्ठा है यह भी तर्क का आधार लेने पर ही सिद्ध होता है। अतएव शंकराचार्य पुन: कहते हैं कि चाहे कुछ विषयों में तर्क की उपादेयता स्वीकार कर ली जाय

---

१. शंकराचार्य ने एक स्थल पर "न च परिनिष्ठत वस्तु स्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादि विषयत्वं ब्राह्मण:" लिखकर यह स्वीकार किया है कि ब्रह्म सिर्फ श्रुति द्वारा ही ज्ञेय हो सकता है तथा वह अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है और इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर "श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथा संभव मिह प्रमाणम्। अनुभवावसानत्वाद् भूत वस्तु विषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य" नामक उक्ति द्वारा वे ब्रह्म विचार में श्रुति, प्रत्यक्षादि सबका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं और सबका उपयोग करने की राय देते हैं तथा उनकी दृष्टि में ब्रह्मज्ञान का फल ही अनुभव विशेष है।

परन्तु ब्रह्म विषय में तो किसी भी भाँति मानी नहीं जा सकती लेकिन उनकी कृतियों में इस प्रकार के स्थलों की बहुलता सी है जहाँ कि उन्होंने तर्क की प्रशंसा भी की है। 'माण्डूक्य कारिका' की टीका करते हुए वे कहते हैं कि तर्क द्वारा भी अद्वैत का बोध होता है तथा श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता का विचार रखनेवाले चिन्तकों से तो वे स्पष्ट रूप में कहते हैं कि अनुमान और श्रुति के रहते हुए भी यह कहना कि ब्रह्मज्ञान असंभव है, दुस्साहसमात्र है—"तथा च तदधिगमाय अनुमाने आगमे च सति ज्ञानं नोत्पद्यत इति साहस येतत्।" अर्थात् शंकराचार्य ने तर्क को ब्रह्मज्ञान में सहायक माना है और कदाचित् इसीलिए डायसन आदि विद्वानों ने लिखा है कि तर्क की भरसक निन्दा करते हुए भी शंकराचार्य ने तर्क का स्वच्छंद प्रयोग किया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी गणना विश्व के श्रेष्ठतम तर्क-विशारदों में करनी चाहिए परन्तु वे केवल तर्कबल द्वारा ही सत्य को हृदयंगम करने के सर्वदा ही विरोधी रहे। जिस प्रकार वात्सायन ने तर्क को प्रमाणों से भिन्न प्रमाणों का सहायक माना है—"तर्को न प्रमाण संग्रहीतो न प्रमाणान्तरं, प्रमाणानामनुग्रहकस्तत्व ज्ञानाय कल्पते" उसी प्रकार शंकराचार्य ने भी प्रमाण-सिद्ध वस्तु पर संभव असंभव की दृष्टि से विचार करना अनुपयुक्त माना है—"प्रमाण प्रवृत्यप्रवृत्ति पूर्वकौ संभवावधार्येते न पुनः संभवा संभव पूर्विके प्रमाण प्रवृत्य प्रवृत्ती। सर्वैरेव प्रमाणैर्वाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादि विकल्पैर्नंभवतीत्युच्येतोपलब्धे रेव।" साथ ही वे अनुभव सिद्ध बातों का तर्क द्वारा खंडन करना भी उचित नहीं समझते और इस प्रकार "श्रुत्यनुगृहीत एवं ह्यल तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते" नामक उक्ति के अनुसार श्रुति से अनुगृहीत तर्क का आश्रय लेना उचित मानते हैं क्योंकि वह अनुभूति का अंग होता है। पंचदशी भी "स्वानुभूतत्यनुसारेण तर्क्यंताम मा कुतर्क्यताम्" के अनुसार अपने निजी अनुभव के अनुसार तर्क करना उचित समझती है। संक्षेप में शंकराचार्य वेदान्त के प्रत्यक्ष विषयक मतों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा उनकी दृष्टि में वेद अपौरुषेय हैं और प्रत्येक कल्प में उनकी आवृत्ति होती है।

शंकराचार्य अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों की भाँति केवल बाह्य जगत की वास्तविकता को स्वीकार कर संतोष नहीं करते थे अपितु वे एक ऐसे शाश्वत अपरिवर्तनशील परमसत्य की खोज में थे जो कि इस दृश्यमान जगत का आधार है। उनके अनुसार यह समस्त विश्व जो कि मनुष्य को चर्मचक्षुओं द्वारा दृष्टिगोचर होता है, असत्य है और वास्तविकता तो यह है कि सबमें

एक ही शुद्ध और परमब्रह्म का अस्तित्व है तथा उसी की माया से भेद की प्रतीति होती है। श्री लोकमान्य तिलक ने भी 'गीतारहस्य' के 'विषय प्रवेश' में शांकर मत पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "एक शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त-ब्रह्म के सिवा दूसरी कोई भी स्वतंत्र और सत्य वस्तु नहीं है। दृष्टिगोचर भिन्नता मानवी दृष्टि का भ्रम और माया की उपाधि से होनेवाला आभास है।"[1] इस प्रकार शंकराचार्य एक ब्रह्म को ही सत्य मानते थे तथा उनकी दृष्टि में अनादिकाल से चली आती हुई अविद्या के फलस्वरूप ही हमें नाना प्रकार की विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जिनसे कि जन्म, जरा, मरण इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं और इन समस्त विकारों का ह्रास करने के हेतु 'एक ब्रह्म ही सत्, है' इस ज्ञान का साक्षात्कार परमावश्यक है और वह ब्रह्म सत्‌चित् तथा आनन्दमय होने पर भी निर्गुण, निर्विशेष एवं चिन्मात्र है। शंकराचार्य ने जीवात्मा को ही परब्रह्म का स्वरूप माना है और वे आत्मा को ही स्वतंत्रसत्ता मानते हैं तथा जगत की सत्ता को केवल व्यावहारिक ही समझते हैं—"आत्मत्वाच्चात्मनोनिराकरणशंकानुपपत्तिः। नह्यात्माऽऽगंतुकः कस्यचित्, स्वयं सिद्धत्वात्। नह्यात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति। तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यन्याप्रसिद्धप्रमेय सिद्धय उपादीयंते।...आत्मातु प्रमाणादि व्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादि व्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगंतुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते।" (वेदान्त भाष्य २।३।७)

शंकराचार्य के अद्वैतवाद का महावाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है और वे कहते हैं कि चिन्मात्र, निर्विशेष ब्रह्म में अहं या ज्ञाता की अनुभूति उसी प्रकार भ्रममात्र है, जिस प्रकार दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब तो देख पड़ता है परन्तु वह होता भ्रांतिपूर्ण ही है। उन्होंने इस भ्रांति का कारण अविद्या को माना है तथा उनके शब्दों में ब्रह्म या आत्मा पर पड़े हुए अविद्या के परदे के कारण ही जीव अथवा ज्ञाता का ज्ञान उत्पन्न होता है। वस्तुतः शंकराचार्य ने माया और अविद्या को एक ही वस्तु माना है[2] तथा ब्रह्मसूत्र की भूमिका में जो उन्होंने अध्यास का निमित्त मिथ्याज्ञान

---

१. गीतारहस्य—श्री लोकमान्य तिलक (विषय-प्रवेश, पृष्ठ १२)

२. "भाष्यकारेण च विद्या मायाऽविद्यात्मिका मायाशक्तिरिति तत्र-तत्र निर्देशात्। टीकाकारेणचाविद्या मायाऽक्षरमित्युक्तत्वात्।"

—पंचपादिका विवरण (विजयानगरम् संस्कृतसीरिज) पृष्ठ ३२

को माना है वह वास्तव में अविद्या के ही अनुरूप है और 'कृत्स्न प्रसक्ति' नामक अधिकरण के भाष्य में ही ब्रह्म के अनेक रूपों को अविद्या कल्पित माना गया है—"अविद्या कल्पितरूप भेदाम्युपगमात्" (२।१।२७) शंकराचार्य माया में तनिक भी वास्तविकता नहीं मानते और उनकी दृष्टि में वह केवल अविद्या है जो कि अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही विलीन हो जाती है अतएव उनकी दृष्टि में ब्रह्म पर माया का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शंकराचार्य माया को अनिर्वचनीय मानते हैं और चूँकि अनिर्वचनीय का अर्थ "सद्-सद् विलक्षण" अर्थात् सत् और असत् से भिन्न होता है अतः माया कोई वस्तु ही नहीं है, इसलिए उसे सत् नहीं कह सकते और चूँकि उसके कारण जगत् जीव आदि भेदों का ज्ञान होता है अतः उसे सर्वदा असत् भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, हम माया का उभय या अनुभय रूप अवश्य स्वीकार कर सकते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि निर्विशेष ब्रह्म माया द्वारा अविछिन्न होने पर ही सगुण ब्रह्म बन जाता है अतः शंकराचार्य ने माया को मानवीय दृष्टि में भ्रम उत्पन्न करनेवाली माना है और वे स्वयं तो परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म की सगुणता किसी भी भाँति स्वीकार नहीं करते तथा स्पष्ट रूप से कहते हैं कि श्रुतियों में जहाँ कहीं सगुण ब्रह्म का वर्णन किया गया है वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपासना के हेतु ही है इस प्रकार उनकी दृष्टि में ब्रह्म का वास्तविक रूप निर्गुण ही है।

शंकराचार्य का आचरण सिद्धान्त भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसके अनुसार स्मृतिग्रंथों में निरूपित आचार व्यवहार भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं जिनके बिना न तो चित्त शुद्धि ही संभव है और न ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की योग्यता ही आ सकती है। यह तो स्पष्ट ही है कि शंकराचार्य ने "निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वप्रकाश, चिन्मात्र, ब्रह्म ही मैं हूँ" का ज्ञान होने पर मनुष्य की अविद्या दूर हो जाती है तथा "एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, यह जगत् मिथ्या है तथा जीव ही ब्रह्म है उससे भिन्न नहीं" का ज्ञान हो जाने पर अपने आपको बद्ध समझने वाला जीव मुक्त हो जाता है नामक सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया था और इस प्रकार उन्होंने सैद्धांतिक दृष्टि से प्राणिमात्र का कर्म करना अनिवार्य समझा है। वैदिक धर्म के ज्ञानपक्ष की भाँति आचरण-पक्ष का सैद्धांतिक विवेचन करते हुए वे कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का कर्म करना अनिवार्य है परन्तु अन्त में कर्म को भी त्याग कर सन्यास ग्रहण करना होगा क्योंकि समस्त वासनाओं और कर्मों को त्यागे बिना ब्रह्मज्ञान असंभव ही

है। अतएव शंकराचार्य ने निवृत्तिमार्ग का जिसे कि सन्यास निष्ठा या ज्ञान-निष्ठा भी कहा जाता है, महत्त्व प्रतिपादित किया है और वे उपनिषदों, ब्रह्म-सूत्र तथा गीता को ज्ञान तथा कर्म का समुन्चय करनेवाली कृतियाँ मानते हैं और सन्यास मार्ग को ही श्रेष्ठतम समझते हैं।[1] संक्षेप में, इस प्रकार वेदों की एकवाक्यता प्रतिपादित करते हुए शंकराचार्य ने 'स्मार्त्त मार्ग' नामक एक नवीन मत का प्रवर्तन किया है और उसके अनुसार श्रुति के मूल सिद्धान्तों द्वारा एक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत् एवम् आनन्द स्वरूप मुक्त स्वभाव ब्रह्म का ही प्रतिपादन होता है और इस विश्व में उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं है तथा उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही वास्तविक मोक्ष है लेकिन इस ज्ञान-साधना के हेतु यह अत्यावश्यक है कि वेदविहित नियमानुसार अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए अपने अंतःकरण को शुद्ध कर लिया जाय चाहे यह शुद्धि एक या अनेक जन्मों के अभ्यास द्वारा क्यों न प्राप्त हो।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत में वेदविरोधी बौद्ध तथा जैन-धर्म का विस्तार होने पर वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करने के हेतु आठवीं शताब्दी के अंत में कुमारिल भट्ट जिन्होंने कि वेदों की पुनः स्थापना के हेतु वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करने की प्राणपण से चेष्टा की है तथा शंकराचार्य जिनके सैद्धांतिक महत्त्व पर अभी-अभी हम प्रकाश डाल चुके हैं नामक जिन दो महान विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ है उन दोनों में शंकराचार्य को ही अत्यधिक सफलता मिली तथा उनका युग कालिदास, भवभूति और बाणभट्ट जैसे प्रसिद्ध कवियों तथा दिंगनाग, उद्योतकर, कुमारिल एवं धर्मकीति जैसे दार्शनिकों का युग माना जाता है। परन्तु तर्क सम्मत और समयापेक्षित होते हुए भी शांकरमत के दोनों पक्षों में पूर्ण समन्वय का अभाव था अतः उपासना क्षेत्र में अद्वैतवाद का सिद्धान्त स्थायी न रह सका क्योंकि यदि यह दृश्य जगत् ब्रह्म ही है; उससे विभिन्न नहीं तथा जीवात्मा भी ब्रह्म ही है और उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, तब भक्ति कैसे हो और किससे प्रेम किया जाय तथा गुण किसके गाए जायँ आदि बातें अस्पष्ट रहीं। अतएव "इस सिद्धान्त के फलस्वरूप व्यावहारिक जगत् में प्रेम और स्नेह को कोई स्थान ही न रहा। यद्यपि

---

१. गीता में लिखा भी है कि जो मुनि योगारूढ़ होना चाहते हैं उन्हें कर्मों से सहायता मिल तो सकती है परन्तु योगारूढ़ होनेके हेतु शम (सन्यास) ही साधन है और इस प्रकार कर्म की अपेक्षा ज्ञाननिष्ठा ही श्रेष्ठतम् है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते॥

शंकराचार्य के शिष्यों ने आत्मा की अज्ञानावस्था में प्रेम आदि को स्थान दिया था पर यह सिद्धान्त प्रचलित होकर वैष्णवधर्म के मूल में कुठाराघात का कारण हुआ।"[1] यह तो स्पष्ट ही है कि शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का खंडन किया है परन्तु उन्होंने जिस मत का उपदेश दिया है उसका सैद्धांतिक पक्ष बौद्धों के शून्यवाद के सदृश्य ही है और उन्होंने जिस ब्रह्म के स्वरूप की कल्पना की है वह बौद्धों के शून्यवत् ही प्रतीत होता है तथा साथ ही उनके द्वारा किया गया सन्यासियों का संगठन भी बौद्ध धर्म के भिक्षुओं के आदर्श पर आधारित जान पड़ता है। वास्तविकता तो यह है कि शंकराचार्य ने बौद्धों के शस्त्रों द्वारा ही बौद्ध धर्मावलम्बियों को पराजित किया था परन्तु आगे चलकर शंकर विरोधी वैष्णव दार्शनिकों ने शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध (मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तत्) कहा है।[2] इस प्रकार शंकराचार्य का अद्वैतवाद यद्यपि वेदानुभावी ब्राह्मणों को ही सुखकर प्रतीत हो सका परन्तु वह सर्वसाधारण की बुद्धि के अगम्य ही था अतः उसका विरोध करने के हेतु "श्री यामुनाचार्य ने अपने शिष्य श्री रामानुजाचार्य को 'बादरायण सूत्र' पर भाष्य करने का आदेश दिया। ब्रम्हसूत्र और उपनिषद् के आधार पर स्थापित शंकर अद्वैत के सामने भक्ति सिद्धान्त की स्थापना असंभव होती देखकर वैष्णव आचार्यों ने उस भाष्य की रचना की आवश्यकता समझी।"[3] स्मरण रहे कि वैष्णवाचार्यों के सर्वप्रथम आचार्य नाथमुनि थे जो कि श्री रंगम में दशवीं शताब्दी में विद्यमान यामुनाचार्य के पौत्र और उत्तराधिकारी थे।

---

1. Collected works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. IV; pp.71

२. श्री रामानुजाचार्य ने वेदान्तभाष्य की टीका में लिखा है—

वेदोऽनृतो बुध्दकृता गमोऽनृतः प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्।
बौध्दाऽनृतो बुद्धिफले तथाऽनृते यूयं च बौध्दाश्च समान संसदः॥

अर्थात् हे शंकरानुयायियों! जैसे तुम्हारे वेद अनृत हैं वैसे ही शून्यवादियों के लिए बुद्ध के आगम अनृत हैं। तुम दोनों के लिए जैसा ज्ञाता (जीव अनृत है उसी तरह बुद्धि और उसका फल अनृत है। इस प्रकार तुम और बौद्ध दोनों एक ही भाई बिरादरी के हो।

—श्री राहुल सांकृत्यायन, दर्शनदिग्दर्शन, पृष्ठ ८१९
तथा आनन्दतीर्थ, तत्त्वोद्योत।

३. Collected works of Sir R. G. Bhandarker vol. IV, pp. 71

रामानुजाचार्य

वैष्णव आचार्यों में विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठाता के रूप में रामानुजाचार्य को विशेष महत्त्व दिया जाता है तथा उनका जन्म मद्रास के समीप 'त्रिपुरी' नामक स्थान में सन् १०१६ में हुआ था और मृत्यु श्रीरंगम में सन् ११३७ में। उनके पिता का नाम केशव तथा माता का नाम कान्तिमती था। शंकर मतानुयायी 'यादव प्रकाश' जो कि कांचीवरम् में रहते थे, उनके प्रारम्भिक गुरु थे परन्तु अद्वैतवाद के सम्बन्ध में अपने गुरु से मतभेद हो जाने के फलस्वरूप उन्होंने उनका शिष्यत्व त्याग कर 'प्रबन्धम्' के गीतों का अध्ययन किया और यामुनाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण कर श्रीरंगम में अपने सम्प्रदाय की—जो कि श्री सम्प्रदाय कहलाता है—स्थापना की। यामुनाचार्य के निधन के पश्चात् ये उनके उत्तराधिकारी हुए और न केवल अपने भक्ति विषयक सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के हेतु उन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया अपितु उत्तरी भारत के प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों का पर्यटन करते हुए काशी भी गए। कहा जाता है कि उन्हें शैवधर्म में दीक्षित करने के उद्देश्य से तत्कालीन चोलराज कुल्लोटुंग प्रथम ने इन पर बहुत अधिक अत्याचार किए थे जिसके फलस्वरूप इन्हें उस राज्य को त्याग कर यादववंशीय होयसल राजाओं की शरण लेनी पड़ी जहाँ कि उन्होंने तत्कालीन राजा विठ्ठलदेव को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित भी किया। स्मरण रहे कि वैष्णवों का साहित्य 'उभयवेदान्त' कहलाता है क्योंकि वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रंथ दो प्रकार के होते हैं अर्थात् वैष्णव आचार्य वेद, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवत्गीता को तो मानते ही हैं तथा साथ ही पुराणों और तमिल भाषा के कुछ ग्रंथों को भी उनका ही मानते हैं और यही उनके 'आगम' भी हैं। यामुनाचार्य ने 'आगमों' का प्रामाण्य सिद्ध करने के हेतु 'आगम प्रामाण्य' और 'महापुरुष निर्णय' नामक ग्रंथों का प्रणयन किया तथा 'सिद्धत्रय' और 'गीतार्थ संग्रह' भी उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। रामानुजाचार्य का 'श्री भाष्य' वेदान्त सूत्रों की प्रसिद्ध व्याख्या है तथा इसके अतिरिक्त उन्होंने गीताभाष्य, वेदार्थ संग्रह, वेदान्त सार और वेदान्त दीप नामक ग्रंथ भी लिखे हैं। इस प्रकार श्री सम्प्रदाय को शास्त्र-सम्मत सिद्ध करने के हेतु उन्होंने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद, ब्रह्मसूत्र तथा गीता) पर भाष्य लिखे और इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदू धर्म के इतिहास पर उनका व्यक्त और विस्तृत प्रभाव पड़ा है तथा अद्वैतवाद के विरोधी एवं भक्तिमार्ग

के प्रचारक परवर्ती वैष्णव आचार्यों—मध्वाचार्य,वल्लभाचार्य, चैतन्य, रामानंद--पर विशिष्टाद्वैत का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

वस्तुत: उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा और सृष्टि सम्बन्धी परस्पर विरोधी मान्यताएँ ही दृष्टिगोचर होती हैं तथा उनमें जहाँ कि 'तत्वमसि' (वह तू ही है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म ही है) आदि उक्तियों द्वारा अद्वैत ब्रह्म का निरूपण किया गया है वहाँ 'ज्ञाज्ञौ द्वावज। वीशानीशौ' (दोनों अज हैं एक ईश है दूसरा अनीश, एक प्राज्ञ है, दूसरा अज्ञ), 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्ति अश्नन्नन्यो अभिचाक शीति" (दो पंक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक फलों का आस्वादन करता है तथा दूसरा चुपचाप बैठा देखता रहता है।) आदि उक्तियों द्वारा द्वैतभावना का भी प्ररूपण किया गया है। चूँकि अद्वैतवाद का समर्थन करने के हेतु शंकराचार्य ने उपनिषदों का ही आधार लिया था, अतएव आगे चलकर रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य ने भी अपने-अपने सिद्धान्तों का निरूपण करने के हेतु उपनिषदों का ही आधार लिया है।

शंकराचार्य ने ब्रह्म की एकता स्वीकार करते हुए उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं मानी है लेकिन रामानुजाचार्य ने ब्रह्म की एकता को अद्वितीय न मान कर चिन्मय आत्मा तथा जड़ प्रकृति से विशिष्ट माना है तथा शंकर के माया और मिथ्यात्ववाद दोनों को ही असत्य माना है। उन्होंने चित् अर्थात् जीव, अचित् अर्थात् जगत और ईश्वर नामक तीन पदार्थों को स्वीकार करते हुए कहा है कि यद्यपि जीव, जगत और ईश्वर ये तीनों ही तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् नित्य और स्वतंत्र हैं परन्तु वास्तव में जीव और जगत दोनों ही सर्वान्तरयामी ईश्वर के आधीन हैं अतएव चिद चिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है तथा इस ईश्वर के सूक्ष्म चित् अचित् से ही स्थूल चित् और स्थूल अचित् (क्रमश: अनेक जीव और जगत्) की उत्पत्ति हुई। उनकी दृष्टि में ब्रह्म ही तत्त्व है और वह नित्य, सत्य, ज्ञानमय, आनन्दमय, शक्तिमान है तथा 'चूँकि वह समस्त जगत् का सृष्टि, स्थिति और संहारकर्ता है, अत: ब्रह्म को सगुण ही मानना चाहिए क्योंकि इस जगत् में निर्गुण वस्तु की कल्पना ही असंभव है। रामानुज का कथन है कि जिस प्रकार आत्मा शरीर का नियंत्रण करती है उसी प्रकार ईश्वर चित् और अचित् का नियमन करता है और इस प्रकार नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर को विशेष्य और नियम्य तथा अप्रधान होने से

जीव और जगत् को विशेषण स्वीकार किया गया है अतएव जिस प्रकार नीलत्व और कमल दोनों साथ-साथ रहते हैं उसी प्रकार विशेषण तथा विशेष्य भी साथ-साथ रहते हैं और विशेषणों से मुक्त विशेष्य अर्थात् विशिष्ट की एकत्व कल्पना करने के कारण ही रामानुज-दर्शन 'विशिष्टाद्वैत' (विशिष्टस्य विशिष्टरूपेणाद्वैतम अर्थात् विशिष्ट का विशिष्ट रूप से अद्वैत) कहलाता है। तत्त्व ज्ञान की दृष्टि से उनका मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है लेकिन आचरण की दृष्टि से तो उसमें भक्ति की ही प्रधानता है और उन्होंने कर्मनिष्ठा को स्वतंत्र न मानकर ज्ञाननिष्ठा का उत्पादक माना है तथा इस प्रकार अद्वैत ज्ञान के स्थान पर विशिष्टाद्वैत और सन्यास के स्थान पर 'भक्ति' की प्रतिष्ठा कर दोनों में भेद माना है परन्तु आचार दृष्टि से भक्ति को ही महत्ता दी है और ईश्वर को सर्वोपरि, सर्वगुणसम्पन्न, अनुपम, अद्वितीय और महान माना है जो कि सबका स्वामी तथा विश्वात्मस्वरूप है और जिसे पुरुषोत्तम भी कहा गया है। रामानुज ने 'तत्त्वमसि' की व्याख्या ही भिन्न रूप में की है और उनकी दृष्टि में 'तत्' का अर्थ सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प और जगत् का कारण ईश्वर है तथा 'त्वं' का अर्थ अचित् विशिष्ट जीव शरीरवाला ब्रह्म है। अतएव 'तत्त्वमसि' का अर्थ अन्तर्यामी ईश्वर तथा विश्व प्रपंच निर्माता ईश्वर दोनों की तात्विक एकता है। साथ ही उपासना और ध्यान के हेतु उन्होंने ब्रह्म के पाँच रूप माने हैं—

(१) परब्रह्म—ईश्वरका परब्रह्मस्वरूप वैकुण्ठ में जो कि अनेक प्रकार की विलास सामग्रियों से सुसज्जित है रहता है तथा उसे नारायण या वासुदेव भी कहते हैं। वे शेष नाग पर विराजमान हैं तथा श्री, भू, लीला आदि से सेवित और शंख, चक्र, गदा तथा पद्म को चारों हस्तकमलों में धारण किए हुए हैं तथा अनन्त, गरुड़, विश्वक्सेन आदि मुक्त आत्माएँ उनके साथ विहार करती हैं।

(२) व्यूह—परब्रह्म ने पूजा तथा विश्व उत्पादनार्थ वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक चार रूप जिन्हें कि व्यूह भी कहते हैं, धारण किए हैं।

(३) विभव—ब्रह्म का यह स्वरूप ईश्वर के मत्स्य, कच्छप आदि दस अवतारों से सम्बन्ध रखता है।

(४) अन्तर्यामी—इस रूप में ईश्वर योगियों के मानस में प्रवेश करता है तथा घट-घट में वास करनेवाला समझा जाता है।

(५) अर्चा—ब्रह्म के इस स्वरूप में उपासकों द्वारा उसकी अनेक मूर्तियों की

कल्पना की जाती है और देवालयों तथा घरों में उनकी स्थापना भी की जाती है तथा यह समझा जाता है कि इन प्रतिमाओं में परब्रह्म सूक्ष्म शरीर के रूप में विराजमान है।

रामानुज सम्प्रदाय के परम उपासक श्री लक्ष्मीनारायण माने गए हैं तथा उनके स्वरूप का चित्रण करते हुए कहा गया है कि वे कल्याण गुणों के समूह हैं और उनका दिव्य श्री विग्रह स्वेच्छानुसार सदा एकरस, अचिन्त्य, दिव्य, अद्भुत, नित्य, निर्मल, उज्ज्वल, सुगंधित, सुन्दर, सुकुमार, लावण्य, यौवन आदि अनन्त गुणों का भंडार है और उनकी लीला सृष्टि का उद्भव, स्थिति एवं संहार है तथा ब्रह्मा से लेकर कीट पतंगों तक की सृष्टि करने के पश्चात् भी वे अपने रूप में ही अवस्थित रहते हैं।

शंकराचार्य ने आत्मा की पृथक सत्ता स्वीकार नहीं की है लेकिन रामानुजाचार्य आत्मा का अनेकत्व स्वीकार करते हुए उसे बद्ध और नित्य नामक तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं। बद्ध आत्माओं के भी अनेक प्रकार हैं जो कि ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र कीटों और वनस्पतियों तक फैले हुए हैं तथा बद्ध आत्मा के भोगेच्छु अर्थात् आनन्द के इच्छुक और मुमुक्ष नामक दो भेद भी माने गए हैं। भोगेच्छु तो भौतिक आनन्द को ही अपना ध्येय मानकर उसी की प्राप्ति के हेतु द्रव्य एकत्र करने में तत्पर रहते हैं तथा कुछ तो स्वर्गादि की प्राप्ति के हेतु तीर्थ यात्रा, यज्ञ, पुण्य, जप, व्रत आदि का अवलम्ब लेते हैं। मुमुक्षुओं में से कुछ 'केवली' कहलाते हैं जो कि सांसारिक दोषों से अपनी आत्माओं को रहित कर लेते हैं और कुछ तो नित्यानन्द की खोज में रहते हैं तथा मुक्ति द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहते हैं। शंकराचार्य की भाँति रामानुजाचार्य भी अविद्या को जीव के बंधन का कारण मानते हैं परन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार ज्ञान होने से अविद्या अस्त हो जाती है तथा अविद्या का अन्त होना ही मुक्ति माना गया है और मुक्ति क्रिया साध्य नहीं है परन्तु विशिष्टाद्वैत में मुक्ति या ईश्वर-साक्षात्कार-क्रिया या उपासना को साध्य मानते हुए कहा गया है कि सर्वकर्तृत्व गुण केवल ईश्वर में ही रहता है लेकिन मुक्तजीव सर्वज्ञत्व तथा सत्य संकल्पत्व गुणों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। डॉ० राधाकृष्ण ने लिखा भी है-- "रामानुज दर्शन के अनुसार जब जीवात्मा ईश्वर को विस्मरण कर स्वयं को स्वतन्त्र समझने लगता है तब ईश्वर उसे कर्म के कटु परिणामों द्वारा वास्तविक स्थिति का बोध कराता है। तब उसे अपने पापपूर्ण

कर्मों का स्मरण होता है। अन्तर्यामी परमात्मा की प्रेरणा से वह अपने पापों को जान लेता है और भगवान से सहायता के हेतु प्रार्थना करता है। रामानुज दर्शन में पाप कर्मों को स्वीकार करने तथा कर्मों का उत्तरदायित्व समझने को महत्त्व दिया गया है। यामुनाचार्य ने स्वयं को पापों का आगार कहकर भगवान से सहायता के लिए विनय की है।"[1] रामानुज ने भक्ति के साधन पक्ष में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों को ही महत्त्व दिया है तथा भक्ति का सर्वश्रेष्ठ अंग समर्पण माना है जिसे कि प्रपत्ति भी कह सकते हैं और प्रपत्ति के अधिकारी शूद्र भी हो सकते हैं। भक्ति के इन साधनों के अतिरिक्त 'अर्थ पंचक' में 'आचार्याभिमान योग' नामक एक और साधन का उल्लेख है जिसके अनुसार शिष्य सब कुछ गुरु को अर्पण कर देता है। रामानुज ने पूजा के अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग नामक पाँच प्रकार माने हैं और उपवास, तीर्थ, दान, यज्ञादि कर्मों को निष्काम भाव से करने पर जोर देते हुए 'पद्म पुराण' के अनुसार शरीर पर शंख चक्रादि के चिन्ह बनाना, चन्दन लगाना, मंत्रोच्चार करना, वैष्णवों की सेवा करना, एकादशी व्रत करना आदि कुछ अन्य कर्म-विधान भी उन्होंने सम्मिलित किए हैं। उनकी दृष्टि में कर्मयोग के इस पथ पर चलकर साधक की आत्मा शनैः शनैः शुद्ध हो जाती है और भगवान भी उस पर प्रसन्न होते हैं तथा वह ज्ञानयोग के योग्य हो जाती है। डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में "रामानुज के अनुसार निष्काम कर्म से संचित कर्मों का नाश होता है। आडम्बरपूर्ण कर्मों का फल अस्थायी होता है तथा ब्रह्मज्ञान का फल अक्षय होता है। परंतु कर्मों का सम्पादन ईश्वर को किया जाय तो वह मोक्ष का कारण होता है।"

रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत के समर्थन में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, पुराण आदि सभी का आधार ग्रहण किया है और सृष्टि का क्रम सांख्यशास्त्र के अनुसार माना है जिसमें नारायण और विष्णु के तत्त्वों का समावेश हो सका है तथा नारायण को विशिष्टता प्रदान की गई है। स्मरण रहे कि श्री सम्प्रदाय में कहीं भी गोपालकृष्ण का उल्लेख नहीं हुआ है और न राम को ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। चूँकि श्रीमद्भगवद्गीता में जिन स्वरूपों का वर्णन किया गया है उन्हीं का रामानुज ने भी विशेष रूप से चित्रण किया

---

1. Indian Philosophy by Shri Radhakrishnan p.p. 703

है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि परम्परागत भक्ति को ही ब्राम्हण धर्म के साँचे में ढालने की ओर उनकी रुचि नहीं है। श्री सम्प्रदाय की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें भक्तिमार्ग को शूद्रों के लिए भी उन्मुक्त कर दिया गया है और आगे चलकर रामानन्द, नामदेव तथा तुकाराम ने तो इस बात पर विशेष जोर दिया था। कुछ विचारकों ने प्रपत्ति की भावना को ईसाई मत की देन माना है परन्तु यह भ्रांतिपूर्ण धारणा ही है। इस प्रकार रामानुज की सैद्धांतिक विचारधारा का अनुशीलन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुतः भक्ति मार्ग के परिनिष्ठित स्वरूप की स्थापना का श्रेय सर्वप्रथम रामानुज को ही प्राप्त होना चाहिए क्योंकि भक्ति के इसी स्वरूप द्वारा उत्तर भारत का भक्ति आन्दोलन पूर्ण रूप से प्रभावित हुआ है लेकिन तुलनात्मक दृष्टि से श्री सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या दक्षिण भारत में ही विशेष रूप से है। यद्यपि शंकराचार्य के सभी परवर्ती आचार्यों ने 'मायामिथ्यावाद' का खंडन किया है परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो सैद्धान्तिक दृष्टि से एक प्रकार से विशिष्टाद्वैत 'शांकरमत' से समझौता ही था क्योंकि शंकराचार्य के मतानुसार कर्म आचरण से चित्त शुद्धि होने के उपरान्त ज्ञान प्राप्ति होने पर सन्यास ग्रहण कर ब्रम्हचिंतन में रत होना या फिर रामानुज की दृष्टि में प्रेमपूर्वक वासुदेव भक्ति में तत्पर रहते हुए ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण करना नामक दोनों ही बातें कर्मयोग की दृष्टि से एक समान ही हैं तथा दोनों मार्ग वस्तुतः निवृत्ति विषयक ही कहे जा सकते हैं। कदाचित् इसीलिए परवर्ती वैष्णवाचार्यों ने विशिष्टाद्वैत को अद्वैतवाद का ही एक सुधार माना है।

वैष्णव-धर्म के तीन आचार्य : मध्व, निम्बार्क और विष्णुस्वामी

मध्वाचार्य

माया को किसी भी रूप में मिथ्या समझकर चलनेवाले सम्प्रदायों का खंडनकर भगवद्भक्ति को ही वास्तविक मोक्ष का साधन मानने वाले रामानुज के श्री सम्प्रदाय के पश्चात् भक्ति क्षेत्र में 'द्वैत सम्प्रदाय' नामक एक तीसरे सम्प्रदाय की स्थापना हुई जिसके प्रवर्तक मध्वाचार्य थे। मध्वाचार्य आनन्दतीर्थ, पूर्णबोध तथा पूर्णप्रज्ञ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं और इसी प्रकार उनका दर्शन भी 'पूर्णप्रज्ञ दर्शन' कहलाता है। त्रिविक्रम के पुत्र नारायण द्वारा संपादित 'माधव विजय' के अनुसार उनका जीवन वृत्तान्त विस्तार के साथ दिया गया है तथा उसके अनुसार उनका जन्म 'राजपीठ' नामक नगर में 'मध्यगेह' भट्ट के यहाँ हुआ था और उनका जन्मनाम वासुदेव था तथा वे प्रकाशाचार्य के शिष्य थे। दीक्षित होने के उपरान्त वे बदरिकाश्रम गए और वहाँ से राम तथा वेदव्यास की प्रतिमाएँ ले आए तथा सन्यास-ग्रहण करने पर उनका नाम 'आनन्दतीर्थ' हुआ। सम्प्रदाय के अनुसार मध्वाचार्य का समय संवत् १०४० से ११११ तक माना जाता है लेकिन डॉ० भंडारकर इससे सहमत नहीं हैं और वे उनका समय वि० सं० १२५४ से १३३३ तक मानते हैं। उन्होंने अपने इस कथन के प्रमाण स्वरूप आचार्य मध्व के 'महाभारत तात्पर्य' तथा शिलालेखों के कुछ प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं।[१] बहुत से विद्वानों का विचार है कि उनका जन्म मद्रास प्रान्त के उडीपी जिले (जिसे कि उडुपी भी कहते हैं) के 'बिल्व' नामक ग्राम में हुआ था और इसी प्रकार कोई इनका जन्म संवत् ११९७, कोई ११९९ और कोई १३१४ मानते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने सैंतीस ग्रंथों का प्रणयन किया है और शंकराचार्य के अद्वैतवाद तथा रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का विरोध करते हुए श्रीमद्भागवत और पांचरात्र संहिताओं का आधार लेकर अपने मत की स्थापना की है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि उनका दर्शन 'पूर्णप्रज्ञदर्शन' कहलाता है और साथ ही उन्होंने ब्रम्हसूत्र पर भाष्य भी लिखे हैं तथा अपने 'अनुव्याख्यान' में उसकी पुष्टि भी की है।

---

१. Vaishnavism and Shaivism — Dr. R. G. Bhandarkar (pp. 82-83)

द्वैतवाद का प्रतिपादन करने के हेतु शंकराचार्य के अद्वैतवाद की आलोचना करते हुए मध्वाचार्य ने इस बात पर जोर दिया है कि भ्रम या भ्रांति के हेतु दो वास्तविक पदार्थों का होना आवश्यक है और जिस प्रकार रस्सी में सर्प का और शुक्ति में रजत का भ्रम होता है, लेकिन रस्सी में रजत या हाथी का भ्रम नहीं होता और चूंकि इन दोनों भ्रमात्मक ज्ञानों में सर्प और रजत की वास्तविक सत्ता विद्यमान रहती है इसीलिए उनका भ्रम भी होता है और इसी प्रकार जगत की वास्तविक सत्ता होने पर ही ब्रह्म में जगत का भ्रम उत्पन्न हो सकता है अन्यथा न हो पाता। इस प्रकार मध्वाचार्य भ्रम या भ्रांति को सर्वथा नियमहीन मानते थे तथा उनकी दृष्टि में विश्व में भेद स्वाभाविक तथा नित्य है और भेद की वास्तविकता को स्वीकार किए बिना जगत का व्यवहार चलना भी असंभव ही है। माध्वमत में तो स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि यदि विश्व में भेद ही न हो तो फिर समाज और उसके व्यवहारों का लोप ही हो जाय तथा अद्वैतवादियों को भी पाप और पुण्य तथा ज्ञान और अज्ञान का भेद स्वीकार करना ही होगा। इस प्रकार मध्वाचार्य की दृष्टि में विश्व के पाँच प्रकार के निम्नांकित भेद तो स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं—

१. ईश्वर और जीव भेद—जीव ईश्वर से तथा ईश्वर जीव से नित्य भिन्न है।

२. जीव और जड़ भेद—जड़ ईश्वर से तथा ईश्वर जड़ से नित्य भिन्न है।

३. जीव और जड़ भेद—जीव जड़ से तथा जड़ जीव से नित्य भिन्न है।

४. जीव-जीव भेद—एक जीव अपर जीव से भिन्न है। तथा

५. जड़ जड़ भेद—एक जड़ जड़ से भिन्न है।

मध्वाचार्य ने इन भेदों की वास्तविकता के पक्ष में एक सुंदर व्यावहारिक युक्ति देते हुए कहा है कि यदि हम इन भेदों को न मानें तो फिर व्यवहार चल ही नहीं सकता तथा यदि जीव और जीव का भेद न मानें तो हमारा नैतिक जीवन ही नष्ट हो जाएगा और इस प्रकार इन पाँच भेदों का जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक उसकी मुक्ति भी नहीं होती। यों तो भेदों की व्यावहारिक सत्ता को अद्वैतवादियों ने भी अस्वीकार नहीं किया था परन्तु मध्वाचार्य तो भेद को व्यावहारिक ही नहीं, पारमार्थिक भी मानते हैं। अन्य अधिकांश भारतीय दार्शनिकों की भाँति उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति

नामक तीन प्रकार के प्रमाण माने हैं तथा उनकी दृष्टि में केवल प्रत्यक्ष और अनुमान की सहायता से ही हम विश्व की गुत्थियों को समझ नहीं सकते और उसके लिए श्रुति का अवलंब अनिवार्य है। इस प्रकार अद्वैतवाद निरर्थक ही है क्योंकि उसके द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय में सीधा संबंध नहीं होता। माध्वमत में दृश्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट अंशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव नाम के दस पदार्थ माने गए हैं।[1] साथ ही परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्व, अहंकार, बुद्धि, मन, इंद्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माणु, अविद्या, वर्ण, अंधकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब नामक बीस प्रकार के दृश्य पदार्थ माने गए हैं तथा अन्य पदार्थों की विस्तृत विवेचना करते हुए अचिन्त्या शक्ति, आधेय शक्ति, सहज शक्ति और पद शक्ति नामक चार प्रकार के शक्ति पदार्थ माने गए हैं जिनमें कि अचिन्त्य शक्ति पर विशेष बल दिया गया है।

सृष्टि की रचना के विषय में मध्वाचार्य शास्त्र को आधार मानते हैं तथा मध्वमत में विष्णु ही सर्वोच्च परम तत्व है। मध्वाचार्य परमात्मा को अनंत और असीम गुणों से पूर्ण तथा नित्य मानते हैं और उनकी दृष्टि में जिस प्रकार उसके ऐश्वर्यादि गुण निस्सीम हैं उसी प्रकार आनंदादि गुण भी अपरिमित हैं तथा असंख्य गुणों का आधार होने के साथ साथ वे उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, आवरण (अज्ञान), बोधन, बंधन और मोक्ष इन आठ प्रकार के कार्यों के कार्यकर्ता हैं तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि इन आठ कार्यों में परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी चेतन का कोई अधिकार नहीं है। माध्वमत में भगवान में अचिंत्य शक्ति का वास माना गया है तथा उनकी शक्ति अद्भुत और अलौकिक मानी गयी है और चूँकि उनका शरीर सच्चिदानंदमय है अतः शरीरी होने पर भी वे नित्य तथा स्वतंत्र माने गए और उनके मच्छ कच्छपादि अवतार स्वयं पूर्ण कहे गए हैं। 'माध्व बृहद् भाष्य' में लिखा भी है "अवतारादयो विष्णोः सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिता।" इसी प्रकार श्री बलदेव उपाध्याय ने भी माध्व-दर्शन को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"मत्स्य कूर्मादि स्वरूपों से, कर चरणादि अवयवों से, ज्ञानानन्दादि गुणों से भगवान अत्यन्त अभिन्न हैं, अतएव भगवान

१. विशेष अध्ययन के लिये देखिए—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डॉ० दीनदयालु गुप्त (पृष्ठ ५०), तथा उत्तरा (बंगला मासिक पत्र) पौष १३३२ तथा वैशाख १३३३ बंगला अंकों में प्रकाशित श्री गोपीनाथ कविराज का 'गौड़ीय वैष्णव दर्शन' नामक लेख।

तथा भगवान के अवतारों में भेद दृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।"[1] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि माध्वमत में अद्वैतवादियों के सदृश्य परमात्मा को निर्गुण न मानकर सत्य, ज्ञान, आनन्द आदि अनेक गुणों से युक्त माना गया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि वैष्णव सम्प्रदायों में सर्वप्रथम मध्वाचार्य ने ही नराकार विष्णु का परमतत्त्व से अभेद स्थापित करने का प्रयास किया है और जहाँ कि अन्य आचार्यों ने निर्गुण ब्रह्म के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण करते हुए साधना पंथ में प्रतीक रूप विष्णु की उपासना को स्वीकार किया था वहाँ (माध्वमत) में विष्णु उस परम तत्त्व के प्रतीक न होकर स्वयं परमतत्त्व हैं और जहाँ कि इसके पूर्व साधकगण परमतत्त्व तथा सगुण आराध्य में किंचित्मात्र भेद मानते थे वहाँ अब मध्वाचार्य ने वह भेद बिलकुल ही नहीं माना। साथ ही जहाँ कि अन्य आचार्य भक्तिरूपा मुक्ति को श्रेष्ठतम मानते हुए भक्ति द्वारा भक्ति और मुक्ति दोनों को ही साध्य समझते थे, वहाँ माध्वमत में भक्ति द्वारा विष्णु की प्राप्ति ही को एकमात्र मुक्ति माना गया है और इस प्रकार श्री ऋग्वेदी के शब्दों में "वैकुण्ठनाथाचे गुण जापल्याने त्याची कृपा प्राप्त होऊन मुक्ति प्राप्त होते। विष्णु देवतेच्या ठायीं अखंडित प्रेम हेंच मोक्षाचें कारण आहे। या प्रकारें ज्यास मोक्ष प्राप्त होतो त्याला पुनर्जन्म नाहीं।"[2] यद्यपि श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण को ही पूर्णावतार और शेष सभी को अंशावतार माना गया है परन्तु मध्वाचार्य ने परमात्मा के सभी अवतारों को पूर्णावतार मानकर मानो यह विश्वास दिलाना चाहा है कि भगवान के किसी भी अवतार को आराध्य मानकर भक्ति की जा सकती है और इस प्रकार उसके सभी विभिन्न अवतारों में समस्त गुणों का अवतरण होता है। "परमात्म भिन्ना तन्मात्राधीन लक्ष्मी:" नामक उक्ति के अनुसार परमात्मा से भिन्न होकर भी लक्ष्मी वस्तुत: एकमात्र उसी के आधीन रहती है और उसकी आश्रिता होने के कारण वह परमात्मा के इंगितानुसार ही पूर्वकथित आठ कार्यों का संपादन करती है लेकिन सृष्टि रचयिता ब्रह्मा की उत्पत्ति लक्ष्मी द्वारा ही होती है और वह माया रूप धारिणी भगवान की भार्या होने के साथ-साथ नित्य, मुक्त, अप्राकृत, अक्षर, दिव्यशरीर सम्पन्न तथा व्यापक भी है—

---

१. दे० भारतीय दर्शन—श्री बलदेव उपाध्याय (पृष्ठ ४६१)

२. दे० हिन्दुधर्म दीपिका—श्री ऋग्वेदी (पृष्ठ १९१)

द्वावेव नित्यमुक्तोतु परमः प्रकृतिस्तथा।
देशतः कालतश्चैव समन्याव्याप्तादुभावजौ।
(भागवत तात्पर्य निर्णय)

साथ ही श्री, भू, ह्री, दक्षिणा, सीता, श्रीनी, सत्या, रुक्मिणी आदि सब लक्ष्मी के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं और माध्वमत में तो चेतन तथा अचेतन नामक दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ भी मानी गयी हैं तथा जड़ प्रकृति आठ प्रकार की कही गयी है और चेतन प्रकृति ही जो कि चित्तस्वरूपा है लक्ष्मी रूप में निवास करती है।

मध्वाचार्य ने जीवों की संख्या अनन्त मानते हुए उन्हें मुक्तियोग्य, नित्य संसारी और तमोयोग्य नामक तीन वर्गों में विभाजित किया है। ब्रम्हा, अग्नि, वायु आदि देव, नारदादि ऋषि, विश्वामित्रादि विप्रगण, रघु, अम्बरीष आदि उत्तम मनुष्य मुक्तिजीव होने के अधिकारी हैं; दैत्य, राक्षस और पिशाच आदि तमोमय जीव हैं तथा इन दोनों के मध्य की श्रेणी वाले मनुष्य नित्य संसारी जीव हैं जो कि पृथ्वी, स्वर्ग नरक आदि लोकों में संचरण करते हुए सुखदुःख भोगा करते हैं लेकिन यह तो स्पष्ट ही है कि माध्वमत में भेद स्वभावसिद्ध माना गया है तथा जगत से मुक्ति पा जाने पर भी जीव और ईश्वर में तथा जीव और जीव में पारस्परिक विभिन्नताएँ रहती ही हैं। साथ ही मध्वाचार्य ने कर्मक्षय, उत्क्रांतिलय, अर्चिरादिमार्ग और भोग नामक मुक्ति के चार प्रकार माने हैं और भोग मुक्ति के भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य नामक चार प्रकार कहे गए हैं। कर्मक्षय नामक मुक्ति में संचित पाप पुण्य का क्षय हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता और जब उनका भी क्षय हो जाता है तो जीव ब्रम्हनाड़ी या सुषुम्ना नाड़ी के सहारे उत्क्रमण करता है जिससे कि उसे जीवत्व का बोध नहीं रहता और उसका हृदय द्वार जिसे कि ब्रह्म द्वार भी कहते हैं, खुल जाता है तथा मानसस्थ ईश्वर ब्रह्म द्वारा से बाहर आ उस जीव को और भी ऊँचे लें जाते हैं तथा वैकुण्ठ-लोक में पहुँचकर उसे भगवान का साक्षात्कार होता है और यही उत्क्रमणलय की चरमावस्था है। जिन ज्ञानी भक्तों के प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता वें 'अर्चिरादिमार्ग' का अवलम्ब लेकर सुषुम्ना की पार्श्ववर्ती नाड़ी से उर्ध्वगमन करते हैं और अर्चिरादि लोकों में पहुँचकर वहाँ से वायुलोक होते हुए ब्रह्मलोक पहुँच जाते हैं। भोगमुक्ति में ज्ञानी भक्तों के प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने पर वे श्वेतद्वीप पहुँचकर नारायण का दर्शन करते हैं और

उनकी आज्ञा पाकर पुनः पृथ्वी पर विचरण करते हैं। इस प्रकार सालोक्य भोगमुक्ति में मुक्तजीव परमात्मा के लोक में पहुँचकर वहीं रहकर अपनी इच्छानुकूल भोग करता है; सामीप्य भोगमुक्ति में जीव ईश्वर के समीप सान्निध्य प्राप्त कर आनन्द प्राप्त करता है; सारूप्य भोग मुक्ति में मुक्त जीव भगवान के सदृश गुण और रूप लाभ करता है लेकिन ईश्वर की समान-रूपता को धारण करने पर भी वह परमानन्द भोग में असमर्थ ही रहता है और इस प्रकार सायुज्य भोग मुक्ति में वह ईश्वर में प्रविष्ट होकर उन्हीं के शरीर से आनन्द भोग करता है तथा देवगण ही सायुज्य भोग मुक्ति के अधिकारी माने गए हैं। इस प्रकार मध्वाचार्य ने वैष्णव-धर्म को पूर्णरूप से, प्रतिस्थापित करने का प्रयास किया और इसमें कोई संदेह नहीं कि यद्यपि माध्वसम्प्रदाय के मतानुयायियों की संख्या कन्नड़, बम्बई, मैसूर और पश्चिमी घाट में ही अधिक है तथा द्वैत सम्प्रदाय के ग्यारह मठों में आठ दक्षिण भारत में हैं तथा केवल तीन शेष भारत में परन्तु स्मरण रहे कि उनके उपदेशों से समस्त भारतीय समाज में भक्ति भावना को बलवती होने का अवसर प्राप्त हुआ है तथा उत्तरी भारत में भी उसकी लहर प्रवाहित हुई और इस प्रकार द्वैत सम्प्रदाय का अपना एक विशिष्ट महत्त्व माना जाता है।

निम्बार्काचार्य

चूँकि रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य दोनों ने ही अपने-अपने सम्प्रदायों के प्रचार का केन्द्र दक्षिण भारत को ही बनाया था अतः उत्तर भारत में भक्ति सम्प्रदाय का अपेक्षाकृत बहुत ही कम प्रचार हुआ और कुछ समय उपरान्त निम्बार्काचार्य ने ही पहली बार दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तरी भारत को अपने उपदेशों के प्रचार का केन्द्र विशेष रूप से चुना। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि उनके काल निर्धारण के विषय में अभी तक कुछ भी निश्चित न हो सका है और विद्वानों ने उनके समय के सम्बन्ध में अनिश्चित मत प्रकट किए हैं तथा केवल अनुमान से ही उनका समय रामानुजाचार्य के पश्चात् मध्वाचार्य के समकालीन माना गया है। डॉ भंडारकर ने तो उनका निधन सन् ११६२ में माना है परन्तु इस तिथि को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। कहा जाता है कि निम्बार्काचार्य जाति के तेलंग ब्राह्मण थे और उनका जन्म बैल्लरी जिले में 'निम्ब' अथवा 'निम्बपुर' नामक ग्राम में हुआ था। साथ ही उनका जन्म वैशाख शुक्ल तृतीया को माना जाता है और उनके पिता का नाम जगन्नाथ तथा माता का नाम सरस्वती कहा जाता

है। इसी प्रकार उन्हें विष्णु के सुदर्शन चक्र का अवतार भी कहा गया है तथा इस विषय में एक कथा भी प्रचलित है कि एक समय कुछ साधु सायंकाल को उनके पास आये जो कि सूर्यास्त के उपरान्त भोजन नहीं करते थे। अतएव उन्होंने एक निम्ब (नीम) वृक्ष पर सुदर्शन चक्र का आह्वान किया और इस तरह अतिथियों ने भी उसे सूर्य समझकर भोजन कर लिया। कहते हैं इस घटना के पूर्व उनका नाम नियमानंद था परन्तु तब उनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ गया। यों तो उनके कई नाम—निम्बार्काचार्य, निम्बादित्य, निम्बभास्कर और नियमानंदाचार्य आदि—दार्शनिक साहित्य में दृष्टिगोचर होते हैं लेकिन प्रसिद्धि तो उनके निम्बार्काचार्य नाम को ही प्राप्त हुई है। कुछ विद्वानों ने भेदाभेद वाले श्री भास्कराचार्य तथा निम्बार्काचार्य दोनों को एक ही व्यक्ति माना है परन्तु जैसा कि बंगला मासिक पत्रिका उत्तरा के अगहन बंगला संवत् १३३२ के अंक में श्री गोपीनाथ कविराज ने लिखा है वस्तुतः "ये दोनों आचार्य पृथक् पृथक् व्यक्ति थे।" यद्यपि निम्बार्काचार्य दाक्षिणात्य ही थे लेकिन दक्षिण में विद्याध्ययन करने के उपरान्त वे सन्यास ग्रहण कर भारत की यात्रा करते रहे और बहुत अधिक समय तक तो वृन्दावन में भी रहे। यह तो स्पष्ट ही है कि निम्बार्क द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद के प्रचारक थे तथा उन्होंने प्रपत्ति के सिद्धान्त पर ही विशेष बल दिया था और उनका सम्प्रदाय सनक सम्प्रदाय या हंस सम्प्रदाय कहलाता है लेकिन साथ ही इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की यह भी धारणा है कि वस्तुतः सनक सनन्दन आदि ऋषि इसी सम्प्रदाय के प्रारंभिक प्रवर्तकों में से हैं। निम्बार्कानुयायी सन्यासी तथा गृहस्थ दोनों ही प्रकार के हैं और निम्बार्क के 'वेदान्त पारिजात सौरभ' जिसमें ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य हैं तथा 'दशश्लोकी' जिसमें संक्षेप में ज्ञेय पंच विधि पदार्थ का निरूपण है नामक दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि 'सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्णस्तवराज' नामक पचास श्लोकों का स्तोत्र भी उनका ही रचा हुआ है।

यह तो हम स्पष्ट कर ही चुके हैं कि निम्बार्कमत द्वैताद्वैत या भेदाभेद कहलाता है और इस प्रकार निम्बार्क की दृष्टि में जीव और जगत का ब्रम्ह के साथ द्वैत सम्बन्ध भी है और अद्वैत भी अर्थात् जीव अपनी जीव दशा में परमात्मा का पूर्ण अंश ही है परन्तु उसका परमात्मा से अभेद्य सम्बन्ध भी है और इस प्रकार श्री बलदेव उपाध्याय के शब्दों में "उनकी सम्मति में जीव

अवस्थाभेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी।"[1] निम्बादिक दश-श्लोकी भाष्य में श्री हरिव्यास देव जी ने भी कहा है—"एकमेव ब्रह्म विज्ञान-रूपं वस्तुतः सर्वाकारम्। जीवब्रह्मणोरभेदेऽपि वैलक्षण्यव्यवहारोऽवतारारिणोरिव नित्यस्तेन न क्वापि वाक्यव्याकोपो भक्तिसिद्धिश्च। न च धर्मसांकर्यम्। घटक-पालयोर्गुणगुणिनोश्च सत्य्य भेदे तददर्शनात्।" अर्थात् विज्ञानस्वरूप एक ही ब्रह्म सर्व जीव जगत् का नियन्ता होता है और जीव तथा ब्रह्म में अभेद रहते हुए भी जीव तथा ब्रह्म का परस्पर विलक्षण व्यवहार ही है जैसे अवतार और अवतारी, गुण और गुणी में अभेद है परन्तु दृष्टिमात्र से ही भेद दिखाई देता है, वस्तुतः जब कि उनमें भेद होता नहीं है। इस प्रकार निम्बार्क मत में द्वैताद्वैत या भेदाभेद का समर्थन किया गया है और यह भी जाना गया है कि प्रत्येक मुक्त आत्मा आपस में भिन्नता रखते हुए भी परमात्मा से अपने को अविभक्त ही अनुभव करता है तथा जीव ईश्वरात्मक और उससे अविभाज्य ही है। रामानुज की भाँति निम्बार्क ने भी चित्, अचित् तथा ब्रह्म नामक तीन तत्त्वों को स्वीकार किया है और इस प्रकार ब्रह्म को जगत् का कर्ता तथा कृति का विषय मानते हुए उसे ब्रह्म-पराख्या शक्ति, जीवाख्या शक्ति तथा मायाख्या शक्ति नामक तीन प्रकार की शक्तियों से पूर्ण माना गया है। निम्बार्क चित् अर्थात् जीव को देहादि अचित् पदार्थों से भिन्न ज्ञानस्वरूप मानते हुए भी नित्य ज्ञाता और ज्ञान का आश्रय मानते हैं तथा जिस प्रकार सूर्य आलोकमय और आलोक का आश्रय दोनों ही है उसी प्रकार चित् अर्थात् जीव भी ज्ञान स्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों ही है। ईश्वर को प्रेरक कहा जाता है तथा जीव को प्रेर्यवान और जीव को भी मुक्तजीव तथा बद्धजीव नामक दो प्रकार का माना गया है—

अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्।
मुक्तं च भक्तं किल बद्धमुक्त प्रभेद बाहुल्यमथापि बोध्यम्॥

साथ ही मुक्त जीव भी नित्य मुक्त तथा साधन मुक्त नामक दो प्रकार के कहे गये हैं और इस प्रकार वे जीव की तीन कोटियाँ मानते हैं—बद्ध-जीव, मुक्त जीव तथा नित्य मुक्त जीव। चूँकि जीव अंश और ब्रह्म अंशी है अतः जीव सर्वदा ही अपने ज्ञान तथा योग की प्राप्ति के हेतु ईश्वर पर ही आश्रित रहता है। वस्तुतः देवादिमनुष्यादि देह में किसी भी रूप में अनुचित अभिमान करने वाला ही बद्धजीव कहलाता है और गरुड़ सनकादि

१. दे० भारतीय दर्शन—श्री बलदेव उपाध्याय (पृष्ठ ४८७)

को नित्य सिद्धि अथवा नित्य मुक्ति जीव मानते हुए वे यह भी कहते हैं कि "योगियों को समाधिनिष्ठ अवस्था में भी उस प्रकार का आनन्द प्राप्त हो सकता है लेकिन उनकी अनुभूति नित्य सिद्ध जीवों के सदृश्य स्वाभाविक और अमिट नहीं होती। साथ ही क्रममुक्ति तथा सद्योमुक्ति नामक दो प्रकार की मुक्ति स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा है कि निष्काम कर्म तथा विधिपूर्वक अर्चनादि कर जो व्यक्ति स्वर्गादि लोकों का अनुभव प्राप्त कर सत्यलोक में स्थित होते हैं तथा प्रलयागम की अवस्था में ब्रह्म में सायुज्य लाभ करते हैं उन्हें क्रममुक्ति प्राप्त होती है और जिनका सांसारिक बंधन श्रवणादि भक्ति से टूट गया है तथा जो भगवत्कथा के भागी हो गये हैं वे सद्योमुक्ति द्वारा हरिपद या कृष्णलोक प्राप्त करते हैं। स्मरण रहे निम्बार्क मत में अचेतन पदार्थ भी प्राकृत अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न जगत, अप्राकृत अर्थात् प्रकृति से परे वैकुण्ठादि और काल अर्थात् जड़ तत्वसृष्टि का सहकारी तथा प्राकृत सम्पूर्ण पदार्थों का नियामक नामक तीन भागों में विभाजित किए गये हैं तथा ब्रह्म को भी पर अमूर्त अर्थात् परम अक्षर तत्व, अपर अमूर्त अर्थात् सर्वद्रष्टा और सर्वशक्तियों का उद्भव, परमूर्त अर्थात् हिरण्यगर्भ और सभी व्यक्त रूपों का मूलस्रोत तथा अपरमूर्त अर्थात् जीव रूप जिससे कि इन्द्रिय जगत की अनुभूति प्राप्त होती है नामक चार रूप माने गये हैं।

इस प्रकार निम्बार्क मत में भगवद्सेवा, भक्ति और उनकी कृपा द्वारा प्राप्त मुक्ति को ही इष्ट फल कहा गया है। वस्तुतः निम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना गया है और उन्हें दोषहीन, कल्याणगुण की राशि, व्यूह समूह में अंगी तथा 'पर' कहा गया है —

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥

साथ ही उनकी शक्ति को अचिंत्य तथा अनंत मानते हुए कहा गया है कि वे ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनों के ही आश्रय हैं और इस प्रकार ऐश्वर्यानन्दप्रधान तथा सेवानन्दप्रधान नामक भगवान के लोकादि प्राप्ति की मुक्ति के दो रूप भी माने गये हैं और कहा जाता है कि निष्काम भाव से भगवत्सेवा तथा भगवत्प्रेम करने वाले जीव ईश्वर के सान्निध्य में भगवत्सेवा के आनन्द की मुक्ति प्राप्त करते हैं तथा सकाम भक्ति करनेवाले जीव भगवान के ऐश्वर्यादि को प्राप्त कर भगवल्लोक में भी ऐश्वर्यानन्द पाते हैं। स्मरण-

मात्र से ही श्रीकृष्ण अविद्यापर्यन्त समस्त अनर्थों का हरण करते हैं अतः उन्हें हरि कहा गया है और अविद्या, अस्मित, रागद्वेष, अभिनेवाषादि दोषों से रहित सत्यस्वरूप कृष्ण मोक्षदान, स्वाभाविक सम्पूर्ण ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज आदि से पूर्णतः मुक्त हैं। श्रीकृष्ण को कारणों के कारण ईश्वरेश्वर, देवों के देव ब्रम्ह रुद्रादिकों के गुरु तथा उन्हें उत्पन्न करनेवाला माना गया है। रमा, लक्ष्मी या भू शक्ति कृष्ण के ऐश्वर्य रूप की अधिष्ठात्री हैं तथा गोपी और राधा उनके प्रेम तथा माधुर्य की। 'निम्बादित्य दशश्लोकी' में कृष्ण के रूप को स्पष्ट करते हुए कहा भी गया है—"उपास्यस्य कृष्ण स्वामिनो रूपं सच्चिदानंदविग्रहं स्वमहिमसंव्योमपुरशब्दृदितव्रजादिनित्यपदस्थितं व्रजे द्विभुजं गोपवेषं द्वार्वत्या चतुर्भुजं च सार्वज्ञयसार्वैश्वर्यसर्वकारणत्वसर्वशक्तित्वसौहार्द्र-मार्दव कारुणिकत्वादिगुणरत्नाकरं भक्तवत्सलमित्येतत्।" साथ ही 'निम्बादित्य दशश्लोकी' में यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यही ब्रजकृष्ण जो कि अपनी प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आल्हादिनी गोपी स्वरूप शक्तियों से परिवेष्ठित रहते हैं, निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्यदेव हैं—"वृषभानुजाविशिष्टं कृष्णस्यस्वरूपं सदोपासनीयं नितरां एकान्तभावेन श्रवणादिभिरनुकूलनीयमित्यर्थः।" इस प्रकार दशश्लोकी में निम्बार्क ने स्पष्ट कर देना चाहा है कि ब्रह्मा शिवादि से वंदित कृष्ण के चरकमलों को तजकर अन्य देवोपासना से मनुष्य को तनिक भी लाभ नहीं है तथा अन्य को छोड़कर केवल कृष्ण ही उपास्यदेव हैं "तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्तं भजेत्तं तद् सदिति" तथा "नाव्या गतिः कृष्णपदारविन्दात् संदृष्यते ब्रह्म-शिवादिवंदिदात्।" अर्थात् जिस भाव से भगवान की उपासना की जाती है भगवान उसी भाव से प्राप्त भी हो जाते हैं तथा ईश्वर कृपा ही सबसे अधिक महत्त्व की बात है। निम्बार्क मत में यह भी माना गया है कि ईश्वर की कृपा से ही दैन्यादिभाव उत्पन्न होते हैं तथा प्रेमरूपी भक्ति प्राप्त होती है और इस प्रकार अनन्य भक्ति द्वारा ही हम भगवत्कृपा प्राप्त कर सकते हैं जो कि साधनारूपा तथा परारूपा नामक दो प्रकार की मानी गयी है तथा जिसमें कि परा को श्रेष्ठ माना गया है। वल्लभ संप्रदाय आदि अन्य वैष्णव संप्रदायों में भी भगवत्कृपा का फल भगवान की शरण अथवा उनके प्रति प्रेम प्राप्ति को माना गया है तथा निम्बार्काचार्य ने प्रभु कृपा का फल प्रभु शरण प्राप्ति करना ही माना है। भगवतकृपा का फल प्राप्त होने पर ही भक्त भक्तिरस का आस्वादन कर पाता है तथा नवधाभक्ति के अभ्यास द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम

प्रकट कर सकता है और इस प्रकार निम्बार्क मत में प्रेमाभक्ति को शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल नामक पाँच भावों से पूर्ण माना गया है और उज्ज्वल रस को ही जिसके भक्त गोप, गोपियाँ तथा राधा माने गये हैं, श्रेष्ठतम माना गया है। परवर्ती वैष्णव आचार्य वल्लभाचार्य और चैतन्य मुनि ने भी इसी को उत्कृष्टता प्रदान की है। स्मरण रहे निम्बार्क ने 'दश-श्लोकी' में सकल मनोवांछनाओं को पूर्ण करने वाली कृष्ण के वामांग में विराजित और सहस्रों सखियों से सेवित राधा की प्रार्थना भी कृष्ण की स्तुति के साथ की है जिससे कि युगल उपासना के साथ-साथ परमात्मा की माधुर्य तथा प्रेमशक्ति स्वरूपा राधा की उपासना को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है तथा उन्हें सकल कामनाओं को पूर्ण करानेवाली माना गया है—

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूप सौभगाम्।

सखीसहस्रैः परिषेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।

कहा जाता है कि पुराणों आदि में कृष्ण की प्रेयसी के रूप में राधा का चित्रण किए जाने पर भी राधा-कृष्ण की उपसना की ओर विशेष ध्यान निम्बार्क का ही गया है और इस दृष्टि से निम्बार्क सम्प्रदाय का अधिक महत्त्व है। कृष्ण-काव्य की परम्परा पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि राधा-कृष्ण की उपासना का उद्भव और विकास किस प्रकार हुआ। निम्बार्क सम्प्रदाय में भक्त का राधाकृष्ण की भक्ति-साधना के साथ-साथ साधुनिंदा आदि अपराधों से बचना भी आवश्यक समझा गया। इस प्रकार निम्बार्क संप्रदाय की दार्शनिक विचारधारा का यही सारांश है और इसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि निम्बार्काचार्य पर रामानुज का विशेष प्रभाव पड़ा है तथा रामानुज की भाँति उन्होंने भी प्रपत्ति अर्थात् शरणागति को विशेष महत्त्व दिया है लेकिन साथ ही ईश्वर की कृपा तथा उसके प्रति प्रेम को भी प्रधानता दी गई है और इस प्रकार जहाँ कि रामानुज भक्ति को उपनिषदों में विहित उपासना की कोटि में रख उसका मौलिक रूप ही परिवर्तित कर देते हैं वहाँ निम्बार्क भक्ति के मूल स्वरूप को सुरक्षित भी रखते हैं। साथ ही श्री सम्प्रदाय में भक्ति को नारायण, लक्ष्मी, भू और लीला तक ही सीमित रखा गया है जब कि सनक सम्प्रदाय में कृष्ण और सखियों द्वारा परिवेष्टित राधा को ही प्रधानता दी गई है। अतएव हम कह सकते हैं कि उत्तरी भारत में राधा-कृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन करने का पूर्ण श्रेय निम्बार्काचार्य को ही है।

विष्णुस्वामी

शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य के साथ साथ दक्षिण के वैष्णव आचार्यों में विष्णुस्वामी का नाम भी उल्लेखनीय है जो कि रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहे जाते हैं लेकिन इस सम्प्रदाय का पूर्ण रूप से ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं है। स्मरण रहे कि वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी की परम्परा में ही माना जाता है तथा नामदेवजी ने भक्तमाल में उन्हें विष्णुस्वामी की परम्परा में ही माना है—

आचरच हरिदास अतुलबल आनंद दाइन।
तिहिं मारग बल्लभ विदित प्रभु पथित पराइन।

डॉ० भंडारकर ने भी यद्यपि स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि विष्णुस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त वही है जो कि वल्लभाचार्य का है परन्तु प्रो० जी० एच० भट्ट उन्हें विष्णुस्वामी की परम्परा में नहीं मानते और उन्होंने लिखा भी है—"The connection between Vishnuswami and Vallabhacharya, cannot, therefore, be accepted as historically and philosophically correct".[1] लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि विष्णुस्वामी नाम के आचार्य हुए अवश्य हैं तथा उन्होंने रुद्र सम्प्रदाय की स्थापना भी की है क्योंकि पद्मपुराण और भाष्य पुराण में उनका उल्लेख किया गया है—

श्री ब्रह्मरुद्रसनकादि वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्याः संप्रदायप्रवर्त्तकाः॥
श्री विष्णुस्वामि निम्बार्क मध्वारामानुजाख्यया।
भविष्यन्ति प्रसिध्दास्ते ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्॥
आसिद्धान्तकर्तारश्चत्वारो वैष्णवा द्विजाः।
यैरयं पृथिवीमध्ये भक्तिमार्गो दृढीकृतः॥
विष्णुस्वामी प्रथमतो निम्बादित्यो द्वितीयकः।
मध्वाचार्यस्तृतीयस्तु तुर्यो रामानुजः स्मृतः॥

—वैष्णव धर्म नों संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २३५.

1. A further note on Vishnuswami and Vallabhacharya by Prof. G. H. Bhatt, M. A., 8th oriental Conference, Mysore.

इसी प्रकार गदाधरदास ने भी सम्प्रदाय प्रदीप नामक ग्रंथ में लिखा है कि वल्लभाचार्य के समय (१६वीं शती) तक विष्णु सम्प्रदाय के सातसौ आचार्य हो चुके और यदि इस कथन को प्रामाणिक माना जाय तो विष्णुस्वामी का समय बहुत ही प्राचीन प्रतीत होता है परन्तु इस कथन के समर्थन में पुष्ट प्रमाणों का अभाव सा है। विक्रम की चौदहवीं शती के लगभग श्रीधर स्वामी ने भागवत की स्वरचित टीका में विष्णुस्वामी का उद्धरण दिया है। अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि विष्णुस्वामी श्रीधरस्वामी से पूर्ववर्ती थे। डॉ० भंडारकर, आर्थर वेनिस, सतीशचंद्र विद्याभूषण आदि विद्वानों ने विष्णुस्वामी का समय तेरहवीं शती के लगभग माना है और भंडारकर ने तो नाभा जी के भक्तमाल का उल्लेख भी किया है जिसके अनुसार विष्णुस्वामी के उत्तराधिकारी ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभ हुए हैं। 'गौडीयदशम खंड' के एक लेख में श्री भक्तिसिद्धांत सरस्वती महाराज ने लिखा है—"एक देवतनु विष्णुस्वामी ई० सन से ३०० वर्ष पहले हुए जो मथुरा खंड में रहते थे। इनके पिता का नाम देवेश्वर भट्ट था। इन विष्णुस्वामी के ७०० वैष्णव त्रिदंडी इनके मत का प्रचार करते थे। इस मत के सबसे अंतिम सन्यासी श्री व्यासेश्वर थे। दूसरे एक और विष्णुस्वामी का नाम राजगोपाल विष्णुस्वामी था। इनका जन्म सन् ८३० में हुआ। यह कांचीनगर में रहते थे। कांची में उन्होंने श्री राजगोपाल देव जी अथवा श्री बरदराज की मूर्ति की स्थापना की। यह प्रसिद्ध है कि इन्होंने ही द्वारिका में रणछोड़ जी तथा सप्त नगरियों में से अन्य नगरियों में भी विष्णुओं में भी विष्णु-मूर्तियों की स्थापना की थी। ...... तीसरे एक और विष्णुस्वामी हुए थे। श्री वल्लभाचार्य जी के पूर्व पुरुष उन्हीं तीसरे विष्णुस्वामी के गृहस्थ शिष्य थे।"[1] डॉ० दीनदयालु गुप्त ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' में लिखा है—"रायबहादुर श्री अमरनाथ जी का इस विषय पर 'भांडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऐनल्स' में एक लेख है, जिसमें कहा गया है कि माध्वाचार्य तथा सायनाचार्य के गुरु श्री विद्याशंकर थे और विद्याशंकर का ही दूसरा नाम विष्णुस्वामी था।"[2] इस प्रकार इन विभिन्न मतों के मध्य यह जानना कि वस्तुतः विष्णुस्वामी सम्प्रदाय

१. गौड़ीय दशमखंड पृष्ठ ६२४--२६
२. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय पृष्ठ ४२

के प्रवर्तक विष्णुस्वामी का समय कौन सा है, दुरूह समस्या ही है। साथ ही यह भी जनश्रुति है कि महाराष्ट्र में प्रचार पानेवाला भागवतधर्म जो कि आगे चलकर 'वारकरी सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसके अनुयायी ज्ञानदेव तथा नामदेव आदि भक्त थे, वस्तुतः विष्णुस्वामी मत का ही रूपान्तर है परन्तु इसमें सत्यांश कितना है यह नहीं कहा जा सकता। इधर एक यह किम्बदन्ती भी प्रचलित है कि विष्णुस्वामी किसी द्रविड़ देशीय राजा के एक ब्राह्मण मंत्री के पुत्र थे और उन्होंने कठिन तपस्या द्वारा भगवान के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया था तथा ब्रम्ह को वे अद्वैत किन्तु साकार मानते थे और कृष्णोपासना को ही महत्त्व देते थे। दीर्घायुप्राप्त कर अंत में उन्होंने शास्त्रोक्त विधि से संन्यास भी ग्रहण किया था और कालान्तर में अपने नश्वर शरीर को त्याग कर वे परमधाम को प्राप्त हुए।

विष्णुस्वामी संप्रदाय के जो कि रुद्र संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हैं, प्रवर्तक भगवान् शंकर माने जाते हैं और कहा जाता है कि उन्होंने इसका सर्वप्रथम उपदेश बालखिल्य ऋषि को दिया था तथा यही ज्ञान कालांतर में विष्णुस्वामी को भी प्राप्त हुआ जिन्होंने कि सर्वसाधारण में इसका प्रचार करते हुए एक प्रथक् सम्प्रदाय स्थापित किया। 'संप्रदाय प्रदीप' के अनुसार कहा जाता है कि विष्णुस्वामी ने ब्रह्मसूत्र, गीता और भागवत पर भाष्य लिखे थे लेकिन उनकी ये रचनाएँ अप्राप्त हैं अर्थात् उनका दार्शनिक सिद्धान्त वस्तुतः किस प्रकार का था यह नहीं कहा जा सकता परन्तु कतिपय विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि उनका दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के ही सदृश्य है तथा डॉ० भांडारकर ने तो उनके सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए लिखा भी है कि "सर्वप्रथम एक ही ब्रह्म था और उसकी इच्छा हुई 'एकोहं बहुस्याम्' तथा वह अचेतन जगत में परिवर्तित हो गया जिसका कि नियन्ता वह स्वयं ही था। सृष्टि के समस्त जीव उसमें से इस प्रकार उत्पन्न हुए जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से स्फुलिंग उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म ने अपनी अनंत शक्ति द्वारा अदृश्य बुद्धि तथा आनंद को उत्पन्न किया और अंत में उसके समस्त गुण प्रकट हुए। ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप में वही दृश्य आनन्द व्याप्त है।"

वल्लभाचार्य और उनकी दार्शनिक विचारधारा

यद्यपि राधा और कृष्ण को आधार मानकर भक्ति का प्रचार करने का श्रेय निम्बार्काचार्य को ही दिया जाता है परन्तु वास्तविकता तो यह है कि उत्तर भारत में राधाकृष्ण की भक्ति-भावना को अंकुरित एवं विकसित करने का श्रेय वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु को ही है। साथ ही दक्षिण से जो भक्ति आन्दोलन शनैः शनैः प्रगति की ओर पहुँच रहा था उसे उत्तर भारत में पहुँचाकर पूर्णता प्राप्त कराने का श्रेय वल्लभाचार्य को ही अधिक है और इसमें कोई संदेह नहीं कि उनका प्रभाव परवर्ती सम्प्रदायों पर किसी न किसी रूप में पड़ा ही है अतएव निम्बार्काचार्य की भक्ति परम्परा में आते हुए भी उन्हें स्वतंत्र महत्त्व प्रदान करना चाहिए।

वल्लभाचार्य के पूर्वज दक्षिण भारत में 'गोदावरी तट' पर 'कांकरवाड़' नामक ग्राम के निवासी थे और भारद्वाज गोत्र के तेलंग ब्राह्मण थे तथा उनका वंश 'वेलनाट' या 'वेल्लनाडु' कहलाता था। वल्लभाचार्य के पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट था जो कि विद्वान एवम् धर्मनिष्ठ ब्राह्मण तथा श्रीकृष्ण के परम भक्त थे और इल्लामागारु उनकी माता का नाम था। वल्लभाचार्य के जीवन चरित्र 'वल्लभदिग्विजय' में वल्लभाचार्य के जन्म के संबंध में एक कथा दी गई है। एक बार लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी इल्लामागारू के साथ तीर्थयात्रा करते हुए दक्षिण से उत्तर की ओर आए और काशी में रहने लगे लेकिन वहाँ रहने के कुछ दिनों पश्चात् ही राजनैतिक परिस्थितियों के कारण काशी में अराजकता सी फैलने लगी तथा मुसलमानों के आक्रमण की आशंका व्यक्त की जाने लगी। अतः लक्ष्मण भट्ट अपने परिवारसहित पुनः दक्षिण की ओर चल दिए और जब वे वर्तमान मध्यप्रदेश के रायपुर जिले में 'चम्पारण्य' नामक वन में से होकर जा रहे थे तो 'इल्लामागारु' प्रसव पीड़ा से व्याकुल हो उठीं। सायंकाल का समय था अतएव उनके साथी पास के चौड़ा नगर पहुँचकर ही रात्रि में विश्राम करना चाहते थे लेकिन इल्लामागारु वहाँ तक पहुँचने में असमर्थ थी अतएव लक्ष्मण भट्ट अकेले वहीं रुक गये और उनके साथी चले गए। उसी रात्रि उनकी पत्नी ने उस घोर निर्जन विपिन के एक विशाल शमी वृक्ष के नीचे सात मास के शिशु को जन्म दिया लेकिन

चूँकि वह बालक उस समय संज्ञाहीन प्रतीत हुआ, अतः उसे मृत समझकर पत्तों से ढाँककर वे दोनों आगे चल दिए और रात्रि के अंधकार में लक्ष्मण भट्ट उस शिशु की विशेष परीक्षा भी न कर सके तथा दैवेच्छा पर ही उन्होंने संतोष किया। वे अपनी पत्नी सहित चौड़ा नगर पहुँचे और उन्हें जब यह समाचार ज्ञात हुआ कि काशी की स्थिति पुनः ठीक है तथा अब वहाँ मुसलमानों के आक्रमण की आशंका नहीं है, अतः वे पुनः अपने कुछ साथियों सहित काशी की ओर रवाना हुए और उसी स्थान पर पहुँचे जहाँ कि उन्होंने शमी वृक्ष के पत्तों से ढाँककर उस शिशु को रखा था लेकिन वहाँ पहुँचकर जब उन्होंने उस शिशु को जीवित पाया तो उन्हें अत्यन्त आश्चर्य और आनन्द हुआ। उन्होंने उस शिशु का नाम 'वल्लभ' रखा तथा उसे लेकर वे काशी पहुँचे और हनुमान घाट पर आकर रहने लगे तथा वहीं पर वे ब्रह्मोचित कृत्य तथा अध्ययन-अध्यापन करते हुए जीविकोपार्जन करने लगे। 'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार वल्लभाचार्य का जन्म वैशाख कृष्ण एकादशी रविवार सं० १५३५ माना जाता है लेकिन स्मरण रहे बड़ौदा कालेज के संस्कृत के आचार्य श्री 'भट्ट' जी ने उनका जन्म संवत् १५३० माना है और वे लिखते हैं "The evidence in support of the year 1473 A. D. is earlier and stronger and can easily out-weigh the eveidence in support of 1479 A. D. which is latter and weak."[1] परन्तु यह मत अभी सर्वमान्य न हो सका और वल्लभाचार्य जी का जन्म वल्लभ दिग्विजय के अनुसार ही मानना उचित है।

कहा जाता है कि बचपन से ही वल्लभ कुशाग्र बुद्धि के प्रतीत होते थे और विद्याप्राप्ति में असीम योग्यता प्रदर्शित करते हुए दस वर्ष की आयु में ही उन्होंने वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण आदि का सांगोपांग अध्ययन कर लिया तथा उपरान्त प्रतिभा और विद्वता के फलस्वरूप इस अल्पायु में ही वे काशी में प्रसिद्ध हो गए और शास्त्रार्थों में भी उत्साहपूर्ण भाग लेते हुए अपने अगाध पांडित्य एवं प्रबल तर्कों से विद्वानों को निरुत्तर करने लगे लेकिन सं० १५४५ में लक्ष्मण भट्ट का काशी में ही देहान्त हो जाने के फलस्वरूप वे

---

1. The Birth date of Vallabha Charya, the Advocate of Sudhavait Vedant by Prof. Bhatt (Ninth All India oriental conferene in vendrum p. 60)

उसी वर्ष वैशाख कृष्ण १५ को पिता की स्मृति में दानादि देने के हेतु जगदीशपुरी पहुँचे जहाँ कि वैष्णव एवं शंकरमत के विद्वानों में हो रहे शास्त्रार्थ में भाग लेकर वैष्णव धर्म का समर्थन करते हुए उन्होंने विजय प्राप्त की और उनका यह दृढ़ निश्चय सा हो गया कि अद्वैतवादियों के निराकार मायावाद के विपक्ष में साकार एवम् विशुद्ध ब्रह्म का व्यापक प्रचार समस्त भारतवर्ष में किया जाए। अतः वे अपनी माता सहित अपने मामा के घर विद्यानगर (विजयनगर, दक्षिण भारत) पहुँचे और वहाँ अपनी माता को छोड़कर उद्देश्य सिद्धि के हेतु सम्पूर्ण भारत के देशाटन - हेतु चल दिये। इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण देश की कई बार यात्राएँ कीं और इन यात्राओं में अद्वैतवाद का खंडन एवम् ब्रम्हवाद तथा भक्तिमार्ग का प्रचार करते हुए अपने दार्शनिक मत शुद्धाद्वैत के सिद्धान्त और पुष्टिमार्गी भक्ति का व्यापक प्रचार किया। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य की इन यात्राओं में उनका सोरो निवासी शिष्य कृष्णदास मेघन सर्वदा ही उनके साथ रहता था।

वल्लभाचार्य की इन यात्राओं में उनकी तीसरी यात्रा का महत्त्व सबसे अधिक है क्योंकि इसी में उन्हें आचार्य की उपाधि भी प्राप्त हुई। कहा जाता है कि जब वे यात्रा करते हुए तृतीय बार 'कांकरवाड़ा' पहुँचे तो वे विद्यानगर (विजयनगर) में दक्षिण के सुप्रसिद्ध हिन्दू नरेश महाराजा नृसिंह वर्मा के सेनापति राजा कृष्णदेवराय द्वारा आयोजित पंडितों की एक विशाल सभा में गए जिसमें कि एक ओर शंकराचार्य के अनुयायी अद्वैतवादी तथा शैव, शाक्त आदि अवैष्णव विद्वान थे और दूसरी ओर रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि वैष्णव विद्वान थे। उस शास्त्रार्थ में अद्वैतवादियों की ओर से प्रमुख वक्ता विद्यातीर्थ थे तथा दूसरी ओर उक्त वैष्णव सम्प्रदायों की ओर से आचार्य व्यासतीर्थ थे लेकिन उस शास्त्रार्थ में अत्यधिक वादविवाद के बावजूद वैष्णव मत पराजित सा होता प्रतीत हुआ अतः वल्लभाचार्य ने भी उस शास्त्रार्थ में सम्मिलित होकर अपना प्रकांड पांडित्य प्रदर्शित करते हुए शंकराचार्य के मायावाद का खंडन कर कुछ ऐसे अकाट्य तर्क प्रस्तुत किए कि अद्वैतवादियों को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। चूँकि उन्हीं के कारण वैष्णवमतावलम्बियों की विजय हुई, अतः राय कृष्णदेवराय तथा अन्य वैष्णव आचार्यों ने उनका अत्यधिक स्वागत सत्कार किया और 'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार इसी घटना के पश्चात् वे विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के प्रचारक भक्त हरिस्वामी तथा शेषस्वामी द्वारा विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर

आचार्य के रूप में अभिषिक्त किए गये। यह भी कहा जाता है कि वल्लभाचार्य के प्रगाढ़ पांडित्य से प्रभावित होकर पहले माध्व सम्प्रदाय के आचार्य व्यासतीर्थ की लालसा उन्हें अपने सम्प्रदाय का आचार्य बनाने की थी परन्तु चूँकि वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त विष्णुस्वामी मत के अधिक अनुकूल थे और तत्कालीन विष्णुस्वामी सम्प्रदायानुगामी द्राविड़ देशीय विल्वमंगल जो कि उस समय उस सम्प्रदाय के आचार्यों में थे किसी योग्य उत्तराधिकारी की खोज में भी थे तथा उन्हें इस पद के लिये वल्लभाचार्य पूर्णरूप से उपयुक्त प्रतीत हुए अतः वल्लभाचार्य ने माध्व सम्प्रदायी आचार्य का प्रस्ताव अस्वीकार कर विष्णुस्वामी मत को सहयोग देना और आचार्य बनना स्वीकार कर लिया। 'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के फलस्वरूप राय कृष्णदेवराय ने उनका स्वर्ण मुद्राओं से अभिषेक किया था और उन्हें 'आचार्य चक्र चूड़ामणि जगद्गुरु श्रीमदाचार्य महाप्रभु' की उपाधि से विभूषित भी किया तथा तभी से वे 'श्री आचार्य जी महाप्रभु' के नाम से प्रख्यात भी हुए लेकिन वल्लभाचार्य ने उस विपुल स्वर्णराशि में से केवल सात स्वर्णमुद्राएँ ग्रहण कर शेष द्रव्य धर्मार्थ कार्यों में लगवा दिया और उसे वहाँ उपस्थित विप्र वृन्दों में बँटवा दिया। 'वल्लभ दिग्विजय' में यह घटना 'कनकाभिषेक' के नाम से प्रसिद्ध है तथा कहा जाता है कि वल्लभाचार्य ने उसी समय से शुद्धाद्वैत मत का प्रचार किया था और इस प्रकार उनकी जीवन घटनाओं में विद्यानगर की यह घटना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है परन्तु अभी तक उसका ठीक-ठीक संवत् ज्ञात नहीं हो सका है। कुछ साम्प्रदायिक ग्रंथों में वल्लभाचार्य की प्रथम यात्रा के समय इस घटना का घटित होना स्वीकार किया गया है और डॉ० दीनदयालु गुप्त भी इसी मत से सहमत हैं[१] लेकिन कुछ विचारकों का यह भी मत है कि "ऐतिहासिक कालक्रम से यह घटना सं० १५६५ से पूर्व की नहीं हो सकती, क्योंकि राजा कृष्णदेवराय का शासन-काल उसी संवत से आरंभ होता है।"[२] इधर हाल ही में प्रकाशित डॉ० हरवंशलाल शर्मा के गवेषणात्मक प्रबन्ध 'सूर और उनका साहित्य' में भी तृतीय यात्रा में ही संवत् १५६५ में विद्यानगर का शास्त्रार्थ होना स्वीकार

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयालु गुप्त पृष्ठ ७०
२. अष्टछाप परिचय—श्री प्रभुदयाल मीतल पृष्ठ ६

किया गया है।[1] लेकिन स्मरण रहे कि चौरासी वैष्णवों की वार्ता के कुछ प्रसंगों में भी वल्लभाचार्य की प्रथम यात्रा के समय ही विद्यानगर के एक शास्त्रार्थ का उल्लेख किया गया है और लिखा है कि उस शास्त्रार्थ में उन्होंने शंकराचार्य के मायावाद का खंडन कर ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया था परन्तु श्री प्रभुदयाल मीतल तथा अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि इस प्रकार के शास्त्रार्थ तीन बार हुए थे। अतएव विद्यानगर का प्रसिद्ध शास्त्रार्थ जिसके कारण वल्लभाचार्य आचार्य के रूप में अभिषिक्त हुए और कनकाभिषेकवाली घटना वास्तव में उनकी तृतीय यात्रा में ही हुई थी। इधर हाल ही में श्री वसन्तराम शास्त्री की लिखी हुई गुजराती में 'पुष्टिमार्ग नो इतिहास' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है और उसमें गुजरात के सावली नामक ग्राम में एक कुएँ की खुदाई के समय प्राप्त कुछ ऐतिहासिक महत्त्व की सामग्री में से एक जीर्ण ताड़ पत्र का जिसमें कि वल्लभाचार्य के कनकाभिषेक का समय संवत् १५६५ दिया गया है उल्लेख करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि वल्लभाचार्य की प्रथम यात्रा में नहीं अपितु तृतीय यात्रा में ही उनका कनकाभिषेक हुआ था—

"विद्यापत्तनम्। श्रीनृसिंह वर्मा सार्वभौम स्वस्ति श्री साम्राज्ये मीनमासे लोकगुरु आचार्य चक्रवर्ति श्री प्रभु वल्लभ हेमाभिषिकिम्। ········ आवृत्तिपूर्ण कार्तिक शुक्ल ·· अब्द १५६५॥"

— पुष्टिमार्ग नो इतिहास (गुजराती) श्री वसन्तराम शास्त्री, पृ० १९।

इस प्रमाण के उपलब्ध होने से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में उनका कनकाभिषेक तृतीय यात्रा में ही हुआ होगा। वस्तुतः वल्लभाचार्य ने अपने जीवन काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष के तीर्थों तथा प्रमुख स्थानों की कई बार यात्राएँ की थीं और इन यात्राओं का उनके जीवन में बड़ा महत्त्व है तथा साथ ही वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रंथों में ये यात्राएँ 'पृथ्वी प्रदक्षिणाएँ' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यहाँ इन यात्राओं की कुछ प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन अप्रासंगिक न होगा। कहा जाता है कि अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् ही बारह वर्ष की आयु में संवत् १५४६ में उन्होंने यात्राएँ प्रारंभ कर दी थीं और सर्वप्रथम काशी से उज्जैन होते हुए वे दक्षिण भारत पहुँचे जहाँ कि उन्होंने विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायियों के वेदान्त विषयक सिद्धान्तों का सम्यक् अध्ययन कर एक दो स्थलों पर शास्त्रार्थ किए और शांकरमत का खंडन कर शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया तथा संवत् १५५० में

---

१. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृष्ठ १४५

उन्होंने समस्त ब्रज की यात्रा की और श्रावण शुक्ल एकादशी को गोकुल के ठकुरानी घाट पर श्रीमद्भागवत का साप्ताहिक परायण किया और तभी वे अपने शिष्यों को 'ब्रह्म संबंध' मंत्र की दीक्षा भी देने लगे। कहा जाता है कि उन्हीं दिनों गोवर्धन की गिरिराज पहाड़ी पर एक भगवद्स्वरूप का प्राकट्य हुआ था जिसका कि अत्यंत श्रद्धा और भक्ति के साथ ब्रजवासी 'देवदमन' नाम से पूजन करते थे और अपनी द्वितीय यात्रा में, जिसे कि उन्होंने १५५४ की ज्येष्ठ शुक्ल द्वितीय रविवार को प्रारंभ किया था, देशाटन करते हुए सं० १५५६ में जब वे पुनः गोवर्धन पहुँचे तो ब्रजवासियों ने उनको उक्त स्वरूप के दर्शन कराये। वल्लभाचार्य ने उस स्वरूप का नाम 'श्रीनाथ जी' या 'गोवर्धननाथ' रखा और उन्हें एक छोटे से मंदिर में स्थापित कर उस मंदिर का सेवाकार्य रामदास क्षत्री को सौंप दिया। स्मरण रहे अष्टछाप के प्रसिद्ध आठ कवियों के 'कुंभनदास' ने इसी यात्रा में उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था और सदू पांडे भी जिन्होंने कि उक्त स्वरूप के दर्शन उन्हें कराए थे उनकी शरण में आए। कुंभनदास श्रीनाथजी के सन्मुख कीर्तन करते थे तथा सदू पांडे सेवापुष्प और भोग-सामग्री एकत्रित करते थे। बुंदेलखंड के विरक्त राजपूत क्षत्री रामदास चौहान बड़ी तन्मयता के साथ उनका पूजन करते थे। अपनी इसी यात्रा में वल्लभाचार्य दक्षिण में घूमते हुए महाराष्ट्र में पंढरपूर पहुँचे जहाँ कि श्री विठ्ठलमूर्ति के दर्शन कर वे अत्यधिक प्रभावित हुए और वहीं उन्हें यह प्रेरणा भी हुई कि विवाह करना चाहिए, लेकिन उन्होंने अभी कुछ समय तक वैष्णव भक्ति का प्रचार करना ही श्रेयस्कर समझा और विवाह नहीं किया। देशाटन करते समय ही वे अपनी यात्रा की समाप्ति पर अपनी माता को लेकर काशी आए और सं० १५५७ की आषाढ़ कृष्ण पंचमी को काशी में ही उन्होंने अपना विवाह किया। यों तो प्रारंभ में उनका विचार पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने का ही था तथा वे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट नहीं होना चाहते थे लेकिन अपने पीछे अपने मत के प्रचारार्थ उत्तराधिकारी की आवश्यकता समझ कर उन्होंने विवाह करना आवश्यक समझा। उनकी पत्नी का नाम महालक्ष्मी, श्वसुर का मधुमंगल या देववंत तथा सास का अणिमा था। कहा जाता है कि विवाह के अवसर पर उनकी पत्नी की आयु केवल आठ वर्ष के लगभग थी अतः उनका द्विरागमन सात वर्ष पश्चात् सं० १५६६ में जब कि वल्लभाचार्य अपनी प्रमुख यात्राएँ समाप्त कर शास्त्रार्थ विजय एवं आचार्यत्व ग्रहण कर चुके थे हुआ। विवाह करने के पश्चात् अपने परिवार को काशी में ही छोड़कर सं० १५५८ के पौष मास में उन्होंने पुनः अपनी

यात्रा प्रारंभ की और इस यात्रा में वे प्रारंभ में ब्रज ही पहुँचे। उनकी इस यात्रा में ही अम्बाला के एक धनाढ्य सेठ पूरनमल ने श्रीनाथजी का विशाल मंदिर बनवाने की उनसे अनुमति माँगी और वल्लभाचार्य की स्वीकृति प्राप्त होने पर आगरा से निष्णात कारीगर बुलाए गए जिन्होंने कि वैशाख शुक्ल तृतीया सं० १५५९ को इस मंदिर का निर्माण कार्य प्रारंभ किया और सं० १५६४ में उसमें श्रीनाथजी की मूर्ति की स्थापना की गई। चूंकि रामदास चौहान का देहान्त हो गया था अतः सदू पांडे की राय से राधाकुंड पर रहनेवाले बंगाली वैष्णवों को उन्होंने श्रीनाथजी की सेवा के लिये बुलवाया तथा मंदिर के समीपवर्ती रुद्रकुंड पर कुटियों का निर्माण कर उन्हें बसाया। द्रव्याभाव के फलस्वरूप मंदिर का निर्माण कार्य कुछ समय तक रुका भी रहा और सत्रह वर्ष पश्चात् सं० १५७६ की वैसाख शुक्ल तृतीया को कहीं उसके पूर्ण होने का अवसर आया। इधर श्रीनाथजी की विभवता पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक वृद्धि कर चुकी थी और सेवा-सामग्री भी यथेष्ट मात्रा में एकत्रित होती जा रही थी, अतः मंदिर का पूर्णरूप से निर्माण हो जाने पर एक विशाल समारोह भी किया गया। इधर सूरदास भी श्रीनाथजी की कीर्तन सेवा में सम्मिलित हो चुके थे और कृष्णदास मेंटिया की अपेक्षा एक प्रकार से मंदिर के अधिकारी से बन गये थे। सेवा पूजा का कार्य तब भी बँगाली वैष्णव ही करते थे। मंदिर का निकटवर्ती ग्राम अब 'गोकुलपुर' कहलाने लगा क्योंकि वहाँ श्रीनाथ जी के दूध घर की सेवा हेतु सैकड़ों गायें एकत्रित हो चुकी थीं। अपनी तृतीय यात्रा में वल्लभाचार्य ने अनेक स्थानों का भ्रमण किया और जैसा कि हम अभी अभी कह चुके हैं संवत् १५६५ में कनकाभिषेक तथा आचार्य पद पर अभिषिक्त होने के कारण उनके गौरव की अपूर्व वृद्धि हुई। इसी यात्रा में उन्होंने प्रयाग के दूसरी ओर यमुना के दक्षिण तट पर स्थित अर्लेकपुर या अड़ैल नामक ग्राम को अपना निवास स्थान बनाया तथा अपने कुटुम्ब को यहाँ ले आए। स्मरण रहे उनका दूसरा स्थायी निवास काशी के समीपवर्ती चरणाट में भी था। कहा जाता है कि अपने द्विरागमन के पश्चात् जब वे अड़ैल से ब्रज की ओर जा रहे थे तो आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क पर गऊघाट नामक स्थान में सूरदास से उनकी भेंट हुई थी और उनके कीर्तन पर मुग्ध होकर उन्होंने सूर को अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित कर लिया था। भारतवर्ष में उस समय सिकन्दर लोदी का शासन था और मथुरा में बहुत से हिन्दू मुसलमान बनाए जा रहे थे तथा इस विषय की एक कथा 'वल्लभ

दिग्विजय' में भी दी गई—"मथुरा में बादशाह के एक राजकर्मचारी ने विश्रान्त घाट पर ऐसा यंत्र लगा रखा था कि जो हिन्दू उसके नीचे से होकर निकलता था वह मुसलमान हो जाता था। श्रीवल्लभाचार्य ने यह बात देखकर नगर के द्वार पर ऐसा यंत्र बाँधा कि मुसलमान फिर हिन्दू होने लगे। सिकन्दर लोदी आचार्य जी के इस चमत्कार से प्रभावित हुआ।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभाचार्य ने जबर्दस्ती बनाए गए मुसलमानों को पुनः हिन्दू धर्म में अंगीकार कर लिया था। इस घटना के पश्चात् वे अड़ैल वापिस चले गये और वहाँ आश्विन कृष्ण द्वादशी संवत् १५६८ वि० को उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ का जन्म हुआ तथा कुछ समय उपरान्त वे सपरिवार जगदीश यात्रा को चले गये और वहाँ से काशी होते हुए चरणाद्री (चुनार) पहुँचे जहाँ कि पौष कृष्ण नवमी सं० १५७२ में उनके दूसरे पुत्र विट्ठलनाथ का जन्म हुआ। उस नवजात शिशु को लेकर वे अड़ैल पहुँचे जहाँ कि उसके प्रारंभिक संस्कार हुए और फिर व्रजप्रदेश की यात्रा कर जहाँ कि गोपीनाथ के यज्ञोपवीत का उत्सव मनाया गया था वे पुनः जगदीश्वर यात्रा को गए और वहाँ उनकी भेंट चैतन्य महाप्रभु से हुई। अब वे अड़ैल वापिस लौट आए और वहाँ उन्होंने परमानन्ददास को भी अपनी शरण में ले लिया। अब वे प्रायः अपने स्थायी निवास में ही अधिक समय तक रहते थे लेकिन प्रत्येक वर्ष चातुर्मास व्रज में ही व्यतीत करते थे।

चूँकि वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित मत अत्यन्त सरल, रोचक, सहज, आकर्षक और समयानुकूल था अतः वे जहाँ कहीं भी जाते वहीं पर अनेक व्यक्ति उनके शिष्य बन जाते और उन्होंने सभी जाति और वर्णों के स्त्री पुरुषों को अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित कर लिया था। कहा जाता है कि इस प्रकार उनके लगभग एक लाख चौरासी हजार शिष्य थे जिनमें से चौरासी प्रमुख थे और उन चौरासी शिष्यों का ही वृत्तान्त 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में दिया गया है। उनके शिष्यों में अनेक सुकवि, गायक एवम् कीर्तनकार थे तथा सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास और कृष्णदास नामक अष्टछाप के चार कवि उन्हीं के शिष्य थे। कृष्णदास उनके अत्यधिक विश्वास-पात्र थे और वे सर्वदा ही उनके साथ रहे तथा इन तीनों यात्राओं में भी साथ साथ गये थे। वल्लभाचार्य ने अपनी यात्राओं में जिन स्थानों पर श्रीमद्भागवत का परायण किया था या जिन स्थानों का विशेष महत्त्व माना था वहाँ 'बैठकें' बनवा दी गई हैं तथा इस प्रकार की बैठकें देश भर में ८४ स्थानों

पर हैं और 'महाप्रभुजी की बैठकें' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सबसे प्रथम बैठक गोकुल में ही है और केवल ब्रजप्रदेश में ही बाइस बैठकें हैं जो कि ब्रज चौरासी कोस की यात्रा में पड़ती हैं। अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ उन्होंने अनेक छोटे बड़े ग्रंथों का निर्माण भी किया था और 'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार उनके पैंतीस ग्रंथ कहे जाते हैं लेकिन अभी तक केवल तीस छोटे बड़े ग्रंथ ही उपलब्ध हुए हैं तथा वे ही वल्लभ संप्रदाय में प्रसिद्ध भी हैं —

अणुभाष्य, सुबोधिनी, पूर्वमीमांसा भाष्य, तत्त्वदीप निबन्ध, पुरुषोत्तम सहस्रनाम, दशमस्कंध अनुक्रमणिका, षोड़शग्रंथ, (यमुनाष्टक, सिद्धान्त रहस्यनवरत्न, पुष्टि प्रवाह मर्यादा, अंतःकरण प्रबोध, भक्तिवर्द्धिनी, निरोध-लक्षण, सन्यास निर्णय, कृष्णाश्रय, सेवाफल, चतुःश्लोकी, सिद्धान्त मुक्तावली, बालबोध, विवेक धैर्याश्रय, जलभेद, पंचपद्म) पत्रालंबन, विविध नामावली, प्रेमामृत, शिक्षाश्लोक, न्यायादेश, सेवाफल विवरण, मधुराष्टक, परिवृढाष्टक।

इन ग्रंथों में अणुभाष्य जिसमें कि शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध में शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के हेतु ब्रह्मसूत्र का भाष्य किया गया है और सुबोधिनी जो कि श्रीमदभागवत के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम और एकादश स्कंधों की टीका है नामक दो कृतियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं। वल्लभाचार्य के समस्त ग्रंथों का प्रणयन संस्कृत भाषा में ही हुआ है लेकिन इधर अभी हाल ही में 'चौरासी अपराध' नामक उनकी एक ब्रजभाषा गद्य में लिखी हुई पुस्तक भी प्रकाशित हुई है तथा साथ ही तेलगू भाषा में रचे हुए कुछ गीत भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ब्रजभाषा और उसके साहित्य क प्रगति में उनका भी विशेष योग रहा है तथा उन्होंने स्वयं ही व्याख्यान और प्रचार आदि में ब्रजभाषा का ही उपयोग किया है। साथ ही वे उसे 'पुरुषोत्तम भाषा' कहा करते थे। वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गी भक्ति का प्रचार ब्रजप्रदेश, राज-पूताना, काठियावाड़ तथा गुजरात में अधिक हुआ। चालीस दिन तक अनशन और विप्रयोग करने के पश्चात् उन्होंने अषाढ़ शुक्ल तृतीया सं० १५८७ में मध्यान्ह के समय काशी के हनुमान घाट पर जलसमाधि ग्रहण की तथा उस समय उनकी आयु बावन वर्ष की थी।

यह तो कहा जा चुका है कि वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहलाता है और जैसा कि शुद्धाद्वैत मार्तण्ड में कहा गया है उसमें शुद्ध का अर्थ माया सम्बन्धों से रहित मान कर उससे रहित ब्रह्म को

ही जगत का कारण और कार्य मानते हुए मायाशबलित ब्रह्म को कारण और कार्य नहीं माना गया—

माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।
कार्यकारण रूपं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम् ॥

अपने 'तत्वदीप निबन्ध' के शास्त्रार्थ प्रकरण में वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को सत्, चित् और आनन्द स्वरूप मानकर उसे व्यापक, सर्वशक्तिमान, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सहस्रगुणों से मुक्त, सजातीय, विजातीय और स्वगत द्वैत रहित अर्थात् अद्वैत माना है और वे उसे सम्पूर्ण सृष्टि का आधारभूत, माया को अपने वशीभूत रखने वाला, समस्त प्रपंची पदार्थों से विलग, अनंत रूपवाला, अविभक्त और अनादि, अपनी इच्छा मात्र से ही विभक्त होनेवाला तथा अपने स्वरूप में और अपने द्वारा रचित लीला में मग्न रहने वाला मानते हैं। वल्लभाचार्य परब्रह्म को परमेश्वर पुरुषोत्तम मानते हैं तथा उसे सर्वशक्तिमान मानकर उसे ही समस्त जगत का कर्ता मानते हुए भी सगुण नहीं मानते अपितु जिन जड़ चेतनों को सगुण कहा गया है उन्हें भी ब्रह्म का ही अंश कहते हैं लेकिन साथ ही उसे विरुद्ध धर्मों का आगार मानते हुए वे यह भी कहते हैं कि वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है और जो निधर्मक है वही सधर्मक भी। इस प्रकार प्रकृतिजन्य धर्मों के अभाव में परब्रह्म जिस प्रकार निर्गुण है उसी प्रकार आनंदात्मक दिव्यधर्मों के फलस्वरूप वह सगुण भी कहा जाता है।[1] स्मरण रहे वेदों की श्रुतियों में भी जहाँ कि "नायमात्मा प्रवचेनलभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" के द्वारा ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है वहीं साथ ही "आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादि" कहकर उसे सगुण भी माना गया है। अतः वेदों और श्रुतियों में मतैक्य स्थापित करने के हेतु वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की। शंकराचार्य ने ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ माया अर्थात् मिथ्या मान लिया था और इस प्रकार सब कुछ मिथ्या स्वीकार कर लेने पर भक्ति को भी माया ही समझना पड़ता अतएव अन्य वैष्णव आचार्यों की भाँति उन्होंने भी मायावाद का खंडन करते हुए कहा कि माया परब्रह्म से उसी प्रकार भिन्न नहीं है जिस प्रकार अग्नि से

१. निर्दोष पूर्णगुणविग्रह आत्मतंत्रो। निश्चेतनात्मक शरीरगुणैश्चहीनः।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः। सर्वत्र च—त्रिविध भेद विवर्जितात्मा॥
तत्त्वदीप निबन्ध

उसकी दाहक शक्ति एवम् सूर्य से उसका प्रकाश और वह परब्रह्म से परिवेष्टित रहती हुई उसी की शक्ति है तथा उसी के आधीन भी है और चूँकि ब्रह्म उसके आश्रित नहीं है अतः वह उसके सत्य स्वरूप को भी आच्छादित नहीं कर सकती। वल्लभ सम्प्रदायियों का मत है कि श्रुतियों में जहाँ ब्रह्म को निर्गुण माना गया है वस्तुतः वहाँ उसे प्राकृत गुणरहित ही समझा गया है। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म में आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति भी मानी गई है तथा इसी शक्ति द्वारा वह एक से अनेक और अनेक से एक होता रहता है अर्थात् ब्रह्म से ही पदार्थों का आविर्भाव और ब्रह्म में ही उसका तिरोभाव होता है। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने 'आविर्भाव और तिरोभाव' को समझाते हुए लिखा है—"वल्लभ सम्प्रदाय में आविर्भाव का अर्थ प्रकट होने का है, नवीन निर्माण का नहीं है, तथा तिरोभाव का अर्थ गुप्त होना अथवा समा जाना है, नाश होने का नहीं। जगत का ब्रह्म में तिरोभाव, अर्थात् समावेश होता है, जगत का लयात्मक नाश नहीं होता। इसी प्रकार आविर्भाव के अर्थ में पहिले से ब्रह्म में स्थित ब्रह्मरूप जगत का प्राकट्य होता है।" ईश्वर, जीव और जगत तीनों को अभिन्न मानने से उनका सिद्धान्त अद्वैतवादी जान पड़ता है लेकिन शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जहाँ कि एक ब्रह्म ही सत्य तथा शेष सब को मिथ्या माना गया है वहाँ जीव और जगत को ईश्वर का अंश मानकर उन्हें भी सत्य मानते हुए वे सच्चिदानन्द ब्रह्म के धर्म और धर्मी नामक दोनों स्वरूप स्वीकार करते हैं। अतएव उनकी अद्वैतता शंकराचार्य से नितान्त भिन्न है ब्रह्म के अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी ब्रह्म नामक दो स्वरूप मानते हुए भी वल्लभाचार्य दोनों को ही पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म का स्वरूप मानते हैं और इस प्रकार उन्हें अलग-अलग ब्रह्म न मानकर एक परब्रह्म की अनेक स्थितियाँ कहते हैं। आविर्भाव और तिरोभाव की क्रिया द्वारा ही अक्षर ब्रह्म की अनेकरूपता देख पड़ती है तथा उसी से जीव और जगत की उत्पत्ति भी होती है। 'तत्त्वदीप निबन्ध' के प्रथम श्लोक में ही परमात्मा की प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि मैं उस अद्भुत अलौकिक कर्म करनेवाले कृष्ण की वन्दना कर रहा हूँ जिससे कि जगत् की उत्पत्ति हुई है और जो रूप एवं नाम के भेद से इस सृष्टि में क्रीडा कर रहा है—

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुत कर्मणे।
रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः॥

अर्थात् इससे स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभाचार्य कृष्ण को ही पूर्णानन्द स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म मानते थे और 'सिद्धान्त मुक्तावली' की 'परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्' नामक उक्ति द्वारा स्पष्ट ही श्रीकृष्ण को परब्रह्म माना गया है तथा जैसा कि सिद्धान्त मुक्तावली में लिखा है, आनन्द सागर में विहार करनेवाले कृष्ण का ही स्मरण करना चाहिए क्योंकि उनकी प्रार्थना से पुरुष विश्व के दुखों से मुक्ति पा सकता है—

तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः।
आत्मानंदसमुद्रस्थं कृष्णमेवं विचिन्तयेत् ॥

इस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय में आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण को परब्रह्म और इष्टदेव मानकर तथा उन्हीं की भक्ति को परमानन्द प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन समझते हुए उनके लोकवेदप्रथित तथा लोकवेदातीत नामक दो रूप माने गये। लोकवेदप्रथित रूप में जिसे कि उनका धर्मरक्षक रूप भी कहा जाता है, कृष्ण के मथुरा, द्वारिका और कुरुक्षेत्र में विविध लीलाएँ कर दुष्टों का संहार करते हुए धर्म संस्थापना पर विशेष ध्यान दिया गया और लोकवेदातीत रूप जिसे कि हम रसरूप भी कह सकते हैं के दो भेद माने गये अर्थात् प्रथम तो बालरूप में कृष्ण ने विविध कौतुकों द्वारा यशोदा और नन्द का चित्त आकर्षित किया तथा द्वितीय में वृन्दावन में गोपियों के साथ रासलीला की। स्मरण रहे वल्लभ सम्प्रदाय में इसी रसात्मकस्वरूप को भावात्मक, फलात्मक या स्वरूपात्मक मानते हुए प्रधानता दी गई है। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को माया-तीत मानते हुए उसके अवतार रूप को मायिक जगत् से अलिप्त अर्थात् नितान्त शुद्ध माना है और वे कहते हैं कि परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम केवल अकेला ही अवतरित नहीं होता अपितु वह अपने अक्षर धाम तथा अपनी अनेक आनन्द प्रसारिणी शक्तियों के साथ अवतार लेता है और उसका लीलाधाम माया से अलग ही रहता है। वल्लभसम्प्रदायी ब्रज को भगवान का लीलाधाम मानते हैं और इसे मायिक गुणों से सर्वथा परे समझते हैं। वल्लभाचार्य ब्रह्मा, विष्णु और शिव को भी ब्रह्म का ही रूप कहते हैं तथा विष्णु-उपासना को मोक्ष प्रदायिनी भी मानते हैं लेकिन वे सर्व वस्तुओं सहित आत्मा को श्रीकृष्ण को अर्पित करने से ही ब्रह्मभाव की प्राप्ति पर जोर देते हैं—

मोक्षस्तु विष्णोः सुलभो भोगस्श शिवतस्तथा।
समर्पणेनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद्‌ध्रुवम् ॥

यह तो हम स्पष्ट कर चुके हैं कि ब्रह्म की इच्छा एवम् उसकी आविर्भाव्य

और तिरोभाव की शक्तियों द्वारा ही सृष्टि-उत्पत्ति की क्रिया होती है। अतः इससे स्पष्ट है कि वल्लभ सम्प्रदाय जीव को अंश और परमात्मा को अंशी समझता है। तत्त्वदीप निबन्ध में लिखा है कि वस्तुतः ब्रह्म की इच्छामात्र से ही असंख्य जीवों की उत्पत्ति हुई है तथा जिस प्रकार अग्नि से स्फुल्लिंग उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म के चिद् अंश से असंख्य निराकार जीव एवम् सत् अंश से जड़ प्रकृति तथा आनन्द से उसके अन्तर्यामी रूप का आविर्भाव हुआ—

अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म ह्याविभक्तं विभक्तिमत्।
बहु स्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती ॥
तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः ॥
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया ॥
विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु संदशेन जडा अपि।
आनन्दांश स्वरूपेण सर्वान्तर्याभिरूपिणः ॥

—तत्त्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, श्लोक ३०-३२, पृष्ठ ९२

वल्लभाचार्य ने अणुभाष्य के अध्याय तीन, पाद दो, सूत्र पाँच में लिखा है—"अस्य जीवस्यैश्वर्यादि तिरोहितम्। ...तस्माद् ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः। ऐश्वर्यतिरोभावाद्दीनत्वं, पराधीनत्वं, वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनं, यशस्तिरोभावप्त् सर्वहीनत्वं, श्री तिरोभावाज्जन्मादिसर्वापविद्ष-यत्वं, ज्ञानतिरोभावाद्देहादिष्यहं बुद्धिः सर्वविपरीतज्ञानं चापस्मारसहितस्येव, वैराग्यतिरोभावाद् विषयासक्तिः बन्धश्चतुर्णा कार्यो विपर्ययो द्वयोस्तिरोभावा-देवैवं नान्यथा......आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो, येन जीवभावः इव अतएव काममयः।" अर्थात् परमात्मा की इच्छा से ही जीव के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, स्त्री, ज्ञान एवम् वैराग्य नामक छः गुण तिरोहित हो जाते हैं और तभी बन्ध एवं विपर्यय होता है। ऐश्वर्य के लुप्त होने से दीनता और पराधीनता, वीर्य के तिरोभाव से अनेकानेक दुःख, यश के तिरोभाव से हीनता, श्री के लुप्त होने से जीवन-मरण के अनेकानेक दोष, ज्ञान के तिरोभाव से अहंबुद्धि एवं समस्त पदार्थों में विपरीत ज्ञान होता है और वैराग्य का तिरोधान हो जाने से विषयासक्ति उत्पन्न होती है। अतएव जीव भ्रमोन्मीलित होकर संसार चक्र में घूमता रहता है और भगवद्भजन से विमुख हो अनेकानेक कष्ट झेलता है अतः अविद्यारूपी दोष से मुक्त होने के लिए भगवद्भजन अनिवार्य है। वल्लभ मत के अनुसार जिस जीव में उपर्युक्त छः धर्म एवम् उसका

आनंदांश प्रविष्ट हो जाता है वह सांसारिक क्लेशों से मुक्त होकर सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवम् सायुज्य नामक चार प्रकार की मुक्तियों का भागी होता है। वस्तुत: जीव ब्रह्म से अभिन्न और अणु रूप है तथा उसका तेज आलोक की भाँति अथवा गंध के सदृश्य समस्त शरीर में व्याप्त है। साथ ही वह असंख्य, नित्य और सनातन भी है तथा 'जीवस्य चैतन्यं गुण: स सर्व-शरीरव्यापी' के अनुसार चैतन्य उसका गुण है तथा उसकी चेतनता ही सर्वव्यापी है। अंश होने के कारण वह अल्प सामर्थ्यवान एवम् अल्पज्ञ है तथा अपने अंशी परमात्मा के वशीभूत भी है लेकिन साथ न होते हुए भी अवस्था विशेष में अंश अंशी का एकीकरण भी हो जाता है। वल्लभाचार्य ने शंकरा-चार्य द्वारा वर्णित अविद्या माया को स्वीकार तो किया है परन्तु उनकी दृष्टि में उसका प्रभाव जीव पर ही पड़ता है और उसी के कारण संसार-बद्ध जीव से ईश्वरीय धर्मों का लोप हो जाता है तथा वह दैहिक धर्मों को ही दुख और सुख समझकर अपने किए कर्मों के कारण अनेक योनियों में भटकता फिरता है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि शांकरमत में वर्णित मायावाद के जीव में तथा वल्लभ सम्प्रदाय में कथित ब्रह्मवाद के जीव में विशेष अंतर यह है कि अद्वैतवादी जीव की अनेकता तथा सत्ता स्वीकार न कर भ्रम हटने पर सबको एक ब्रह्म ही समझते हैं लेकिन शुद्धाद्वैतवादी जीवों की अनेकता एवम् अंशरूप से उनकी स्थिति को सत्य प्रतिपादित करते हुए अवस्था विशेष में ब्रह्म और जीव की पृथकता तथा एकता दोनों ही अवस्थाओं को वास्तविक समझते हैं अत: शंकराचार्य का जीव, बुद्धि के सम्बन्ध से अणु-रूप में भासित होने के कारण विभु ही है लेकिन वल्लभाचार्य ने उसे अणु मानकर उनके सिद्धान्तों का खंडन किया है। जीव सृष्टि भी वे दैवी जीव सृष्टि तथा आसुरी जीव सृष्टि नामक दो प्रकार की मानते हैं और दैवी जीव सृष्टि को पुष्टि सृष्टि जिसे कि परमात्मा ने अपनी स्वरूप सेवा के हेतु उत्पन्न किया है तथा जिसके शुद्धपुष्ट, पुष्टिपुष्ट, मर्यादापुष्ट एवम् प्रवाही पुष्ट नामक चार प्रकार होते हैं और मर्यादा सृष्टि नामक दो भेदों में विभाजित करते हैं। स्मरण रहे वल्लभ सम्प्रदाय मर्यादा जीव को पूर्ण पुरुषोत्तम की स्वरूप सेवा योग्य नहीं समझता। शुद्धपुष्टजीव ही नित्य एवम् मुक्त और भगवद्रूप माना गया है तथा कहा जाता है कि जब परब्रह्म अवतार ग्रहण करते हैं तो वे अपने साथ इन शुद्ध पुष्ट भक्तों को भी साथ-साथ लाते हैं। पुष्टि पुष्ट जीव परमात्मा के लोक एवम् लीलाओं के आनंद लाभ द्वारा और मर्यादा पुष्ट जीव

कर्म एवं ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं परन्तु यदि ईश्वर चाहे तो अपनी कृपा द्वारा मर्यादा जीवों को भी अपनी लीला में प्रविष्ट कर पुष्टिपुष्ट भक्तों की श्रेणी में सम्मिलित कर सकता है। प्रवाही पुष्ट जीव वस्तुतः आसुरी जीवसृष्टि माने गये हैं और अज्ञ तथा दुर्ज्ञ नामक उनके दो विभाग कर अज्ञ जीवों का ही उद्धार संभव समझा गया है तथा दुर्ज्ञ का उद्धार तो किसी भी भाँति संभव नहीं माना गया और उन्हें सर्वदा ही संसारचक्र में भ्रमण करना पड़ता है। स्मरण रहे वल्लभाचार्य ने उपर्युक्त विभाजन के साथ-साथ 'तत्त्वदीप निबन्ध' में 'व्यष्टिः समष्टिः पुरुषो जीवभेदास्त्रयो मताः' नामक उक्ति द्वारा व्याष्टि, समष्टि तथा पुरुष नामक जीव के और भी तीन भेद माने हैं।

जैसा कि हम लिख चुके हैं वल्लभ सम्प्रदाय में जीव को ब्रह्म का अंश माना गया है और जिस प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है उसी प्रकार जगत भी ब्रह्मात्मक है अर्थात् ब्रह्म की इच्छा ही सम्पूर्ण प्रबन्ध सृष्टि का कारण है तथा ब्रह्म के आनन्द एवम् चिद्धर्मों के तिरोधान से ही ब्रह्म का सद् अंश जगत निर्मित हुआ है अर्थात् उसमें चैतन्य और आनन्द गुणों की अपेक्षा सत्वगुण की ही अधिकता है तथा अनेक रूपात्मक होने पर भी जगत् अनेक रूपी ब्रह्म के एक सद् अंश का ही परिणाम है तथा इस अनेकरूपता में जो शुद्ध सार सत्ता है वह ब्रह्म का अंश होने से सत्य है और अपनी आदि अवस्था में ब्रह्म से अभिन्न भी है; कदाचित इसीलिए वल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैत कहलाता है। चूँकि जगत् ब्रह्म की इच्छा द्वारा ही आविर्भूत होता है और उसे जगतकर्ता भी कहा जाता है अतः ब्रह्म कारण है तथा जगत् कार्य और जिस प्रकार कुण्डल आदि अनेक रूपों में परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार जगत् रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी भी प्रकार विकार नहीं आता अर्थात् वह अविकृत ही है। जगत् को ब्रह्मरूप मानते हुए 'सिद्धान्त मुक्तावली' में उन्होंने लिखा भी है —

परंब्रह्मस्तु कृष्णोहि सच्चिदानंदकं बृहत्।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्॥
अपरं तत्र पूर्वस्मिन्वादिनो बहुधा जगुः।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतंत्रं चेति नैकधा॥
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्।
द्विरूपं चापि गंगावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी॥

अर्थात् परब्रह्म तो श्रीकृष्ण ही हैं तथा उनका बृहत् अक्षररूप ही

सच्चिदानंद स्वरूप है। वह ब्रह्म दो प्रकार का है तथा साथ में सर्व भी है अतः विलक्षण है और उस ब्रह्म का एक रूप सर्वजगत तथा दूसरा उससे भिन्न है। जगतरूप के विषय में विभिन्न धारणाएँ रखते हुए कुछ लोग उसे माया से दृष्टिगोचर होनेवाला, कुछ सत्व, रज और तम गुणों से उत्पन्न तथा कुछ अनादिकाल से प्रवाह की भाँति स्वतंत्र रूप से चला आ रहा मानते हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के मतों का उल्लेख करते हुए वल्लभाचार्य उस अक्षर ब्रह्म को ही जगतरूप होना स्वीकार करते हैं। वस्तुतः भगवान का आविर्भाव एवम् तिरोभाव ही उनकी दृष्टि में जगत उत्पत्ति एवम् विनाश है तथा भगवान के अनुभव योग्य होने पर जगत का आविर्भाव तथा अनुभव योग्य न होने पर तिरोभाव होता है। जगत की सृष्टि एवम् संहार ब्रह्म की ही शक्तियाँ हैं तथा ब्रह्म ही वास्तव में सत्य है। केवल इसकी प्रतीत ही मिथ्या है और जिस प्रकार नौका में बैठकर मनुष्य को सरिता तट पर स्थित वृक्ष गतिशील प्रतीत होते हैं उसी प्रकार यह ब्रह्मस्वरूप जगत वास्तविक ही है लेकिन अज्ञान के कारण उसकी प्रतीति जीव को मिथ्या भासित होती है।

कहा जाता है कि वल्लभाचार्य जगत के संबंध में अविकृत परिणामवाद को स्वीकार करते थे और चूँकि अविकृत परिणाम के अनुसार कोई भी पदार्थ अपना रूप परिवर्तित हो जाने पर भी पुनः अपने वास्तविक रूप में आ सकता था अतः उनकी दृष्टि में यह जगत भी शुद्ध ब्रह्म का (माया शबलित ब्रह्म का कदापि नहीं) अविकृत परिणाम है तथा लय होनेपर वह पुनः शुद्ध ब्रह्म हो जाएगा। ब्रह्म को ही जगत का निमित्त और उपादान का कारण मानते हुए वल्लभ मत में कहा गया है कि जिस प्रकार मकड़ी स्वेच्छा से तंतु निकालती है, तथा उसमें रमण कर पुनः उसे अपने मुख में प्रविष्ट कर लेती है उसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म ही जगत् रूप में अविकृत परिणाम को प्राप्त होता है और जिस प्रकार इस जगत की उत्पत्ति ब्रह्म की इच्छा से हुई है उसी प्रकार उसका लय भी उसी की इच्छा के आधीन है। स्मरण रहे अद्वैतवादी इस जगत को असत्य मानते हैं तथा उनकी दृष्टि में वह कल्पना, भ्राँति एवम् मिथ्या ही है, यद्यपि कुछ अनीश्वरवादी जगत को सत्य और असत्य दोनों ही मानते हैं और उनकी दृष्टि में चूँकि जगत का प्रत्यक्ष ग्रहण हो रहा है अतः उसे असत्य अथवा मिथ्या भी नहीं कह सकते तथा साथ ही कल्पना एवम् अविद्या के उपादान से उसे वास्तविक भी नहीं कहा जा सकता। वल्लभाचार्य ने 'तत्त्वदीप निबन्ध' के 'सर्वनिर्णय प्रकरण' में सृष्टि के आदि में परम तत्त्व के परिणाम से सत्,

रज, तम, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध), पंच महाभूत (शब्द, वायु, तेज, जल, पृथ्वी) पंच, कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ (कर्ण, त्वक्, घ्राण, नेत्र, जिह्वा) और मन नामक अट्ठाइस तत्वों का प्रादुर्भाव माना है और इनमें से सत्व, रज, तम को वे प्रकृति से पृथक् स्वतंत्र तत्त्व मानते हैं तथा उनकी दृष्टि में उपर्युक्त अट्ठाइस तत्त्व से युक्त अखंड रूप सृष्टि में परब्रह्म जब अंतर्यामी रूप द्वारा प्रविष्ट होकर उसका संचालन करता है तभी अनेक नाम रूपात्मक सृष्टि प्रसारित होने लगती है। इस प्रकार ब्रह्म के ही अविकारी परिणाम प्रकृति को वे जगत का उपादान कारण मानते हैं। वल्लभाचार्य प्रपंच अर्थात् जगत को भगवत् कार्य तथा उसे भगवान् की मायाशक्ति द्वारा मानते हैं और इस प्रकार उनकी दृष्टि में जगत ईश्वर कृत तथा संसार जीव कृत है और चूंकि जगत एक सत्य तत्त्व का अविकृत परिणाम है अतः वह सत्य ही है। भगवान का अंश होने के कारण जगत भगवत् स्वरूप है लेकिन चूँकि संसार की रचना जीव ने अविद्या, कल्पना या भ्रम से की है, अतः वह असत्य है और फिर संसार का स्वरूप भी कुछ निश्चित नहीं है। वस्तुतः राग द्वेष से घिरी बुद्धि के कारण ही जीव के कर्मों का संचालन होता है और उन्हीं के कर्मानुसार ही जन्म मरण एवं अनेकानेक सुखदुख सहन करने पड़ते हैं और यही संसार चक्र भी है लेकिन ज्ञान, योग अथवा भक्ति द्वारा अविद्या से मुक्ति पा जाने पर जीव सांसारिक बंधनों से मुक्त हो सकता है लेकिन उस अवस्था में भी उसका सम्बन्ध इस जगत से रहता ही है। जीव की मुक्ति में संसार का लय है लेकिन जगत का लय कभी भी नहीं होता अपितु वह ईश्वरेच्छा पर ही निर्भर है। वल्लभाचार्य ने भगवान की शक्ति-स्वरूपा माया के भी विद्या माया और अविद्या माया नामक दो रूप माने हैं तथा यह दो रूपधारिणी माया इस सृष्टि और संसार में प्रसारित है तथा इसके अधीन जीव हैं लेकिन भगवान नहीं और अविद्या माया से जीव संसारचक्र में आबद्ध होता है लेकिन विद्या माया द्वारा वह इस संसार से मुक्त होता है। अविद्या माया सत्यज्ञान का आच्छादन कर तथा सत्य में असत्य का भास कराकर दो प्रकार से असत्य प्रतीत कराती है तथा जीव को लौकिक विषयों के जंजाल में फँसाकर अज्ञानता में डालती है जिससे कि जीव को शोक, मोह, सुख, दुख, राग, द्वेषादि आदि की ही भ्राँति होती है। अतएव भ्राँतिपूर्ण बुद्धि के कारण वह पदार्थों का जन्म रूप में अवलोकन करता है जब कि वास्तव में वह पदार्थ अन्य

प्रकार का होता नहीं है। इसी प्रकार सुबोधिनी टीका में ही "माया च द्विधाभ्रमं जनयति, विद्यमानं न प्रकाशयति अविद्यमानंच प्रकाशयति देश कालव्यत्यासेन। प्रमाणभूतोवेद: सर्वं खल्विदं ब्रम्हेत्याह ब्रम्हविदां प्रतीतिरपि तथा भ्रान्तप्रतीतिस्तु नार्थनियामकत्वमन्यथा भ्रमदृष्टिं गृहीतं भ्रम: स्यात्। अतोऽन्यत्रैव सिद्धा भ्रमि: माययापुर: स्थिते विषये समानीयते विषयता माया-जन्या विषयो भगवान् अतो विषयताजन्यं ज्ञानं विषयजनितं प्रमेति।" नामक पंक्तियों द्वारा उन्होंने माया को भ्रम उत्पन्न कर विद्यमान का प्रकाश न करनेवाली तथा अविद्यमान को आलोकित करनेवाली नामक दो प्रकार की रूपधारिणी माना है। आचार्यों ने अविद्या माया को अज्ञान, अध्यात्म, भ्रम, स्वप्न आदि कई नाम दिए हैं और उसी प्रकार वल्लभचार्य भी अविद्या माया के अन्त:करण का अज्ञान या अध्यात्स, प्राणाध्यास, इंद्रियाध्यास, देहाध्यास और स्वरूप का अज्ञान नामक पाँच भेद मानते हैं जिनमें फंसकर जीव सांसारिक क्लेशों को पाता है तथा उनका नाश होने पर ही सांसारिक दुखों से मुक्ति प्राप्त करता है। तत्त्वदीप निबंध की "अथ पुष्टिमार्गीयस्य वितेष भोगु' प्रारब्धं नश्यति न वेति विचार्यते।.....एकेषां पुष्टिमार्गीयाणां भक्तानामुभयो: प्रारब्धाप्रारब्धयोर्भोगंविनैव नाशो भवति। कुत एततत्राह।" नामक पंक्तियों द्वारा विद्या से ही अविद्या का नाश माना गया है और तभी जीव की मुक्ति संभव समझी गयी है और उस समय देह, इन्द्रिय, अंत:करण का अध्यास मिट जाता है तथा सांसारिक क्लेशों से मुक्त जीव जीवन्मुक्त कहलाता है तथा अहंकार से युक्त जीव का संसार तो छूट जाता है लेकिन उसकी देह का लय नहीं होता। अतएव विद्या एवम् ज्ञान-प्राप्ति के हेतु पंचतत्त्व माया का ध्वंस होकर जीव का अपने सत्य स्वरूप को जानकर मुक्ति लाभ प्राप्त करना आवश्यक माना गया है और इस प्रकार वल्लभाचार्य की दृष्टि में अविद्या को दूर करने के अन्य मार्ग दुस्तर ही हैं अत: भगवान के अनुग्रह अर्थात् पुष्टि या कृपा द्वारा प्राप्त भगवद्भक्ति ही वस्तुत: सबसे सरल मार्ग है।

सांसारिक क्लेशों से मुक्त होकर आनन्द प्राप्ति की मुक्ति अवस्था वल्लभाचार्य ने मोक्ष ही मानी है तथा जिस प्रकार पुष्टि, मर्यादा और प्रवाहमार्गी नामक तीन प्रकार के जीव हैं उसी प्रकार मोक्ष की भी अनेक अवस्थाएँ हैं। भक्ति के रूप एवम् ईश्वरेच्छा के अनुरूप ही पुष्टि मार्ग में भक्त जीव को मुक्ति का आनन्द प्राप्त होता है तथा मर्यादामार्ग में वेदोक्त साधनों के सहारे भगवान की सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा

सायुज्य मुक्तियों में से किसी एक की प्राप्ति होती है और यद्यपि कर्ममार्गी जीव वेदोक्त यज्ञादि करने पर स्वर्गादि लोकों को प्राप्त कर पुनः इसी मर्त्यलोक में वापिस आ जाता है लेकिन पुष्टि एवम् मर्यादा-मार्गीय भक्त या ज्ञानी पुनः इस सांसारिक प्रपंच में वापिस नहीं आता। ज्ञानरूपी साधन से सत्यज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म के अक्षर रूप में लीन हो सायुज्य मुक्ति लाभ का अवसर प्राप्त होता है लेकिन पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की स्नेह पूर्ण भक्ति करने से पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु की कृपा द्वारा उनकी लीला का नित्यानन्द प्राप्त होता है।

यह स्वीकार करते हुए भी कि ज्ञान, योग और भक्ति द्वारा सांसारिक क्लेशों का निवारण होता है, वल्लभाचार्य ने ज्ञान और योग के साधनों को कलिकाल से प्रताड़ित जीवों के हेतु कष्ट साध्य समझा है अतएव मुक्ति का सुगम उपाय भक्ति को ही मानते हुए सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नामक इन चार मुक्ति अवस्थाओं से अधिक श्रेष्ठतम अवस्था सायुज्य अनुरूपा मुक्ति की मानी है और उनकी दृष्टि में इससे पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला में प्रविष्ट होकर उस लीला का आनन्द प्राप्त होता है। चूँकि इसके द्वारा वह भजनानन्द में मग्न रह प्रभु कृपा द्वारा भगवल्लीला की अनुभूति करता है अतः उसे 'स्वरूपानन्द' भी कहा जाता है। वल्लभाचार्य ने 'प्रकृतिकालादधतीते वैकुण्ठादप्युत्कृष्टे श्रीगोकुल एवं सन्तीति शेषः" अर्थात् वैकुंठ से गोकुल का अधिक महत्त्व मानते हुए पुरुषोत्तम की नित्य लीला संयोग तथा वियोग दोनों से पूर्ण मानी है और चूँकि सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवम् सायुज्य केवल संयोग की ही अवस्थाएँ हैं अतः लीला का रस अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व का है। रसरूप पुरुषोत्तम के स्वरूपानन्द की शक्ति को प्राप्त कर उसकी लीला में प्रवेश करना और चूँकि भगवान कभी-कभी मुक्तजीव को अपने स्वरूप का अंग ही बना लेते हैं अतः पूर्ण पुरुषोत्तम का अंग या आभूषणादि रूप ही बन जाना तथा प्राकृत देहेन्द्रियादि से रहित हो अप्राकृत शरीर द्वारा उसके वैकुंठादि लोकों में आनन्द लाभ करना नामक तीन फल वल्लभाचार्य ने पुष्टि सेवा के माने हैं। इसी प्रकार 'अणुभाष्य' में सद्योमुक्ति एवम् क्रममुक्ति नामक दो प्रकार की मुक्तियों का उल्लेख करते हुए वे पुष्टिमार्गीय भक्त की मुक्ति विभिन्न लोकों में जाए बिना और प्रारब्ध कर्मों के भोगे बिना ही मानते हैं। सद्योमुक्ति में भगवान् भक्त के प्रारब्ध कर्मों को अपनी कृपा

द्वारा नष्ट कर देते हैं और सांसारिक क्लेशों में न फंसने देने के लिए उसे जीवनमुक्त अवस्था में प्रारब्ध कर्म सहन करने के हेतु संसार में नहीं रहने देते और अपनी नित्य रसात्मक लीला में प्रविष्ट कर लेते हैं। क्रममुक्ति की मोक्ष अवस्था में ज्ञानमार्गी साधक अग्निहोत्रादि कर्म, उपासना एवं ज्ञान के साधनक्रम में अनेक लोकों से होते हुए ही ज्योतिर्मय ब्रह्म को प्राप्त होता है। 'अणुभाष्य' में अक्षर ब्रह्म-प्राप्ति एवम् पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म प्राप्ति में अंतर मानते हुए ब्रह्म प्राप्ति को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है तथा ब्रह्मविद में परब्रह्म के समस्त गुण आविर्भूत होते हैं लेकिन परब्रह्म के आधीन होने से उसमें कर्तृत्व भाव नहीं आता। 'अणुभाष्य' में 'ब्रह्म सम्बन्धयोग्यानि शरीराणि नित्यानि सन्त्येव। यथाऽनुग्रहो यस्मिञ्जीवे स तादृशं तदाविश्य भगवदानन्दमश्नुत इति सर्वभवदातम्" नामक अवतरण द्वारा भगवान का जिस प्रकार का अनुग्रह जीव पर होता है उसी के अनुसार अलौकिक शरीर में प्रवेश कर मुक्त जीव को भगवल्लीला की आनन्दानुभूति होना स्वीकार किया गया है और इस प्रकार चरम मोक्ष लाभ में भगवत् कृपा ही प्रधान कारण मानी गयी है तथा उसे ही भक्तों का एक मात्र साध्य समझा गया है। इस प्रकार विरह की सायुज्य अवस्था तथा परमार्थ मुक्ति की सायुज्य अवस्था में तादात्म्य स्थापित कर पूर्ण पुरुषोत्तम के लोक में पहुँचकर उसकी आनन्द लीलाओं का आनन्द विग्रह द्वारा अनुभूति करना वल्लभ सम्प्रदायियों का चरम लक्ष्य रहा है।

यह तो कहा ही जा चुका है कि वल्लभाचार्य के मतानुसार पूर्ण पुरुषोत्तम के लीलाधाम का नाम गोलोक, गोकुल या वृन्दावन है तथा वह ब्रह्म का ही स्वरूप है और उसे अक्षर ब्रह्म भी कहा जाता है। भक्तों को आनन्द प्रदान करने के हेतु जब भगवान इस जगत में अवतार लेते हैं तब साथ ही उनकी समस्त रसपूर्ण लीलाएँ, अनेकानेक शक्तियाँ, लीलाधाम आदि भी इस जगत में अवतरित होते हैं तथा नित्य लीलाधाम गोलोक का अवतरित रूप ब्रज वृन्दावन भी माया के गुणों से परे ही रहता है। वस्तुतः वल्लभ सम्प्रदाय में गोकुल की महता वैकुण्ठ आदि लोकों से भी अधिक मानी गयी है और प्रत्येक वल्लभ सम्प्रदायी भक्त का चरम लक्ष्य भगवान् की रसरास समूह रास लीला एवम् उनके अक्षर धाम में पहुँचना ही रहा है। 'रस्यते इति रस्यः' के अनुसार जो आस्वादि हो वह रस है तथा 'रसानां समूह रासः' द्वारा समूह को रास माना गया है और इस रस या आनन्द के लौकिक विषयानन्द, अलौकिक ब्रह्मानंद तथा काव्यानंद नामक तीन प्रकार के आनन्द होते हैं लेकिन

वल्लभाचार्य श्रीकृष्ण को विभाव रूप प्रदान कर उनके प्रेम संसर्ग से उत्पन्न होनेवाले रस को ब्रह्मानंद से भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं तथा उसे भजनानन्द मानते हैं और उनकी दृष्टि में भगवान् ने व्रज में लीलाएँ इसीलिए की जिससे मुक्तजीवों को ब्रह्मानन्द से मुक्ति प्राप्त होकर भजनानन्द प्राप्त हो—

ब्रह्मानंदात्समुद्धृत्य भजनानंदयोजने ।
लीलाया युज्यते सम्यक् सातुर्ये विनरूप्यिते ।

यदि 'रहस' शब्द से 'रास' शब्द का निर्माण मान लिया जाय तो फिर उससे एकान्त आनन्द का बोध होता है और श्रीधर स्वामी तो 'बहुनर्तकि युक्तो नृत्य विशेषो रासः" अर्थात् बहुत सी नर्तकियों सहित एक विशेष नृत्य को ही रास मानते हैं तथा चैतन्य सम्प्रदायी जीव गोस्वामी ने—

नटैर्गृहीतकंठैन अन्योन्यातकांश्रियाम् ।
नर्तकीनां भवेत् रासो मंडलीभूय नर्तनः ॥

इस अवतरण में नट के साथ गले में बाँह डालकर नृत्य करना ही 'रास' माना है और वल्लभाचार्य ने भी सुबोधिनी टीका में बहुत सी नर्तकियों के नृत्य द्वारा ही रस की अभिव्यक्ति मानी है तथा इस रसयुक्त नृत्य को ही रास कहा है। उनके विचार में देह द्वारा पर्याप्त अनुभव से नहीं अपितु रास-क्रीड़ा के मानसिक अनुभवों द्वारा रस की अव्यक्ति होती है। डॉ० दीनदयालु गुप्त के शब्दों में "अप्राकृत देहधारी, स्वरूप कृष्ण की आप्राकृत गोपियों के साथ की नृत्यलीला का जो रस समूह है वह 'रास' है।" उन्होने रास के भी तीन रूप नित्य रास, अवतरित रास या नैमित्तिक रास एवम् अनुकरणात्मक रास जो कि भावात्मक एवम् मानसिक है और देहात्मक नामक दो रूप माने हैं। वल्लभाचार्य ने नित्य रास की प्रशंसा करते हुए गोलोक या गोकुल में श्रीकृष्ण का अपने आनन्द विग्रह से अपनी आनन्दप्रसारिणी शक्तियों के साथ नित्य रस मग्न रहना माना है और उनकी क्रीड़ाएं भी अनादित तथा अनंत मानी गई हैं। श्रीकृष्ण ने अपनी आनन्द शक्तियों सहित अपने रसात्मक रूप से अवतरित होकर जो रास इस जगत में किया वह अवतरित रास या नैमित्तिक रास है तथा अभिनय मंडली बनाकर कृष्ण का रासलीला करना अनुकरणात्मक दैहिक रास माना गया है और साथ ही कृष्ण भक्ति के भी वात्सल्य भाव से नंद एवम् यशोदा सखा भाव से दामा विशालादि गोप, माधुर्य भाव से केवल गोपी रूप और दास्य भाव से बृजजन रखा गया और

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयालु गुप्त (पृष्ठ ४९८)

गोपी कृष्ण का रस रमण नामक रूप बाह्य एवम् अभ्यंतरिक जो कि आंतरिक रमण का परम फलरूप है तथा बाह्यरूप नामक दो प्रकार माने है। स्मरण रहे वल्लभाचार्य के मतानुसार रास में प्रवेशात्मक मोक्ष मधुरभाव के उपासक पुष्टि भक्तों को ही प्राप्त होता है, मर्यादा भक्तों को नहीं। साथ ही गोपीकृष्ण रास में आध्यात्मिक दृष्टि का आरोप कर उसे दिव्य रूप भी प्रदान किया गया और इस प्रकार कृष्णोपासक भक्तों ने रास के श्रृंगारिक भावों को परब्रह्म श्रीकृष्ण का संसर्ग प्राप्त होने के कारण निर्दोष ही माना है तथा उन्होंने श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी टीका के रास प्रकरण की कारिकाओं में लिखा भी है :—

क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते।
तासां कामस्य सम्पूर्तिनिष्कामेति तास्तथा ॥
कामेनपूरितः कामः निष्कामः संसारं जनयेत्स्फुटम्।
कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः ॥
अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापिच।
अत एच्छुतेर्लोको निष्कामः सर्वदा भवेत् ॥
भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते।
अतः कामस्य नोद्बोधं तत शुकवचः स्फुटम् ॥

अर्थात् श्रीकृष्ण की रासलीला में काम की क्रियाएँ होते हुए भी वस्तुतः काम-भावना नहीं है और गोपियों के लौकिक काम का शमन एवम् अलौकिक काम की पूर्ति निष्काम भगवान् द्वारा ही हुई थी। यदि लौकिक काम से काम की पूर्ति हुई होती तो उससे संसार उत्पन्न होता लेकिन यहाँ तो गोपी कृष्ण दोनों में ही लौकिक काम का अभाव एवम् संसार से निवृत्ति की भावना है इसलिए रास लीला में किसी की भी मर्यादा भंग नहीं हुई अपितु गोपियों को 'स्वरूपानंद मुक्ति' ही प्राप्त हुई है अतएव इस रासलीला का श्रवण करने से लोक निष्काम हो जाता है तथा चूँकि भगवान् का चरित्र निष्काम है अतः काम का उद्बोध उससे नहीं होता। कामक्रियाओं के रहते हुए भी काम का अभाव ही रासलीला में माना गया है और कहा जाता है कि जिस प्रकार वात्सल्य स्नेह में चुम्बनादि की क्रियाओं के होने पर भी काम भावना का संचार नहीं होता उसी प्रकार रासलीला में भी काम भावना न थी और इसीलिए शुकदेव मुनि ने श्रीमद्भागवत में रास प्रकरण के अंत में कहा है कि भगवान् ने ब्रजवनिताओं के साथ जो रासलीला की उसको श्रद्धापूर्वक श्रवण

करने एवं वर्णन करने से कामयोग रूपी हृदयरोग का नाश ही होता है—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः।
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः॥
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं।
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

—श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध, अ० ३३, श्लोक ४०

इस प्रकार कृष्ण को अप्राकृत देहधारी, रस रूप साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मानकर यह कहते हुए कि पाप पुण्य द्वारा निर्मित पंच महाभूतात्मक भौतिक शरीर द्वारा कृष्ण तक पहुँचना गोपियों के लिए असंभव था, अतः रास द्वारा ही वे उनके पास पहुँच सकीं नामक विचारों द्वारा वल्लभ सम्प्रदायियों ने कृष्ण सान्निध्य से विकार पूर्ण लौकिक भावों का शुद्ध होना स्वीकार किया है और वे ऐहिक दृष्टि से गर्हित होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि से 'परकीया' गोपियों को मान्यता देते हैं। स्मरण रहे वल्लभाचार्य गोपी भाव में कई भावों का समावेश मानते हैं और उनकी दृष्टि में जहाँ कि राधा भगवान् की आदि रस शक्ति है वहाँ गोपिकाएँ इस रस शक्ति की भिन्न-भिन्न रूप हैं तथा पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का रस रूप उनकी रसात्मक शक्तियों के बिना अपूर्ण ही है। जैसा कि हम कह चुके हैं स्वयं आनन्दरूप पूर्ण पुरुषोत्तम से ही गो, गोपी, गोलोक आदि की उत्पत्ति हुई है, अतः कृष्ण और गोपियों का अभिन्न सम्बन्ध है तथा जहाँ कि एक धर्मी है वहाँ दूसरा उनका धर्म है। वस्तुतः भगवान् के आनन्द की पूर्ण सिद्ध शक्ति राधा ही है तथा वह भगवान् की रस शक्तियों के मध्य रस की सिद्ध शक्ति होने के फलस्वरूप स्वामिनी-स्वरूपा भी है और भगवान् भी उसी के वश में रहते हैं। स्मरण रहे वल्लभ मतानुयायियों की दृष्टि में गोपियाँ रसात्मकता अर्थात् आनन्द के आविर्भाव की स्थिति सिद्ध करानेवाली शक्तियों की तथा राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक है और चूँकि कृष्ण की व्रजलीलाएँ नित्य लीलाओं का अवतार हैं अतः स्वाभाविक ही आनन्दांश के इच्छुक भक्त, गोपी स्वरूप बनने की अभिलाषा रखकर उन्हीं की लीलाओं का अनुसरण भी करते हैं और बिना गोपी या गोप बने उन्हें भगवान् के सान्निध्य का रसास्वादन भी प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः वल्लभ सम्प्रदाय में माधुर्योपासक भक्त सखी रूप माने जाते हैं और सख्य भाव से भक्ति करनेवाले भक्त सखारूप। साथ ही कृष्ण लीला का अन्योक्ति रूप स्वीकार कर यह भी कहा जाता है कि गोपी आत्मा है और

कृष्ण परमात्मा तथा चूँकि भगवान् का अंश होने से आत्मा स्वाभाविक ही अपने अंशी से सम्मिलन को इच्छुक रहती है अतएव रासलीला में गोपियों का कृष्ण से सम्मिलन ही आत्मा और परमात्मा का मिलन है। स्मरण रहे सुबोधिनी टीका के रास पंचाध्यायी फल प्रकरण में वल्लभाचार्य ने—"एकोनविंशतिविधा गोप्यः स्वस्याधिकारतः, एको नविंशतिविधां स्तुतिं चक्रुरितीर्यते। राजसी तामसी चैव सात्विकी निर्गुणा तथा, एवं चतुर्विद्यांगोप्यः पतिमत्वो निरूपिताः। तथैवानन्यपूर्वञ्च प्रार्थनामाहुरुत्तमाम्; गुणातीत सात्विकी च तामसीराजसी तथा। कृष्णभावनया सिद्धा, विशेषणाह वै शुकः, अनन्य पूर्विका एवं पुनस्तिस्त्रो मुदा जगुः।" नामक पंक्तियों द्वारा रास में प्रविष्ट हो जाने वाली गोपियों के उन्नीस प्रकार माने हैं जिन्हें कि मुख्यतः अन्नपूर्णा (जो कि अन्य से विवाहित होने पर भी कृष्ण से अनुराग रखती थीं), अनन्य-पूर्णा (जिनमें कि उन कुमारिकाओं की जो कि कुमारी अवस्था में ही कृष्ण को वरण करना चाहती थी तथा वे जिन्होंने कृष्ण से विवाह किया था, की गणना की जाती है) और निर्गुणा नामक तीन वर्गों में रखा जा सकता है। जैसा कि डा० दीनदयालु गुप्त ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है वस्तुतः वल्लभाचार्य ने गोपियों के प्रकार वर्णित करते समय कहीं भी राधा नामक स्वामिनी स्वरूपा गोपी का उल्लेख नहीं किया और न अपने अन्य किसी ग्रंथ में ही किया है। अतएव विठ्ठलनाथ ने 'स्वामिन्याष्टक' तथा 'स्वामिनीस्तोत्र' नामक दो ग्रंथ राधा स्तुति में रचकर अपने सम्प्रदाय में राधा नामक गोपिका का समावेश किया है। यद्यपि अन्य मूर्तिपूजक मतावलम्बियों की भाँति वल्लभ सम्प्रदाय में भी प्रतिमा पूजन का विधान है लेकिन विचारपूर्वक देखा जाए तो इन मूर्तियों को भगवान का साक्षात् स्वरूप कहा जाता है तथा वल्लभ मत में अन्य देवालयों में प्राण प्रतिष्ठित प्रतिमाओं की भाँति अपने सेव्य स्वरूपों की प्राण प्रतिष्ठा कभी भी नहीं की गई क्योंकि उनकी दृष्टि में तो इन स्वरूपों में साक्षात् भगवान ही साकार रूप से वसुधा पर विराजमान हैं। यों तो वल्लभ सम्प्रदाय में श्रीनाथ जी, श्री मथुरेश जी श्री विठ्ठलनाथ जी, श्री द्वारिकेश जी, श्री गोकुलनाथ जी, श्री गोकुल चन्द्रमा जी, श्री बालकृष्ण जी तथा श्री मदनमोहन जी नामक आठ स्वरूपों का विशेष सेवा पूजन किया जाता रहा लेकिन इनमें परम सेव्य स्वरूप श्रीनाथ जी का माना गया है और इस प्रकार श्रीनाथ जी या गोवर्धननाथ को पूर्ण पुरुषोत्तम का साक्षात् स्वरूप ही कहा जाता है। स्मरण रहे श्रीनाथ जी का

स्वरूप श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण स्वरूप के अनुरूप ही है और साथ ही अष्टछाप के कवियों ने जिन पदों का सृजन किया था उनको वे इन्हीं श्रीनाथ जी के समक्ष गाया करते थे। यद्यपि उनके उपलब्ध पदों में कृष्ण की लीलाओं को ही अंकित किया गया है और सूर के क्वचित् एकाध पदों के अतिरिक्त कहीं भी श्रीनाथ जी के नाम या स्वरूप का वर्णन दृष्टिगोचर नहीं होता।

यह तो हम स्पष्ट कर ही चुके हैं कि जिस प्रकार वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैत कहलाता है, उसी प्रकार भक्ति क्षेत्र में उनकी साधना पद्धति 'पुष्टिमार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है और साथ ही वल्लभाचार्य की दार्शनिक विचारधारा पर चाहे कुछ अंशों में विष्णुस्वामी का प्रभाव पड़ा हो, लेकिन साधनमार्ग व्यवस्था उनकी निजी वस्तु ही है और 'सम्प्रदाय प्रदीप' में तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि वस्तुत: 'पुष्टिभक्ति' के हेतु उन्हें आंतरिक प्रेरणा ही हुई थी—"अन्य सम्प्रदायों (रामानुज, मध्व, निम्बार्क) में नारद पंचरात्र वैखानिसादि शास्त्र प्रतिपादित दीक्षा पूजा का प्रचार होने के कारण यद्यपि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय में आत्मनिवेदनात्मक भक्ति प्रतिस्थापित की गई है लेकिन वह मर्यादा मार्गीय ही है अब आपके सम्प्रदाय में पुष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्मनिवेदन द्वारा प्रेमस्वरूपा निर्गुण भक्ति को आलोकित करना है। सम्प्रति. भक्तिमार्गानुयायी जन समाज शांकर सिद्धांत के प्रचार से पथ-भ्रष्ट हो रही है। अत: उसके कर्तव्य तो आपके द्वारा ही सम्पन्न हो सकते हैं।" इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से सर्वथा विभिन्न भक्ति-साधना की पद्धति का प्रचार करने का श्रेय वल्लभाचार्य को ही है और उन्होंने 'अणु-भाष्य' चतुर्थ अध्याय, चतुर्थपाद, सूत्र ९ में "पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्य:" द्वारा पुष्टिमार्गी भक्ति प्रभु अनुग्रह द्वारा ही संभव मानी है तथा सिद्धान्त मुक्तावली की "अनुग्रह: पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थित:" नामक उक्ति द्वारा प्रभु अनुग्रह को ही पुष्टिमार्गी भक्त के समस्त कार्यों का नियामक माना है। साथ ही यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि 'तत्त्वदीप निबन्ध' में वे "कृष्णानुग्रह रूपादि पुष्टि:" नामक उक्ति द्वारा श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि समझते हैं। अतएव जैसा कि डॉ० दीनदयालु गुप्त का मत है "इस प्रकार भगवान के अनुग्रह अथवा पुष्टि के मार्ग को पुष्टिमार्ग कहा गया है। स्नेहपूर्वक भगवान की सेवा तथा प्रभु कृपा अथवा पुष्टिजन्य प्रेम ही इस सम्प्रदाय की साध्य वस्तु है।"[1] स्मरण रहे वल्लभ सम्प्रदाय में भगवत्कृपा से ही मोक्षसुख की अवस्था

१, दे० अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयालु गुप्त (पृ० ३९५)

प्राप्त होती है। श्री हरिराय वाङ्मुक्तावली में संग्रहीत 'श्री पुष्टिमार्ग लक्षणानि' नामक निबन्ध में श्री हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग का परिचय इस प्रकार दिया है—

सर्वसाधनराहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम्।
फलं वा साधनं यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥
अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥
सम्बन्धः साधनं यत्र फलं सम्बन्ध एव हि।
सोऽपि कृष्णेच्छया जातः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥
यत्र वा सुखसम्बन्धो वियोगे संगमादपि।
सर्वलीलानुभवतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥
समस्त विषयत्यागः सर्वभावेन यत्र वै।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥

अर्थात् जिस मार्ग में लौकिक और अलौकिक, सकाम या निष्काम समस्त साधनों का अभाव ही कृष्ण के स्वरूप प्राप्ति में साधन है या जहाँ जो फल है वही साधन है, वही पुष्टिमार्ग कहलाता है। जहाँ सर्वसिद्धियों का हेतु प्रभु अनुग्रह है, जिस मार्ग में शरीर के अनेक सम्बन्ध साधन रूप बनकर ईश्वरेच्छा के बल पर फलरूप सम्बन्ध बनते हैं तथा जहाँ कि भगवद् विरहावस्था में उनकी लीला की अनुभूतिमात्र से ही संयोगावस्था का सुखानुभव होता है और जहाँ कि सर्वभावों में लौकिक विषय का त्याग कर उन भावों के सहित शरीरादि का भगवान को समर्पण किया जाता है वस्तुतः वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।

कहा जाता है वल्लभाचार्य ने जिस पुष्टिमार्गी भक्ति का प्रतिपादन किया है उसका मूल स्रोत श्रीमद्भागवत में है तथा उसके दशम स्कंध के चतुर्थ श्लोक में पुष्टि अथवा पोषण का निरूपण कर "पोषणं तदनुग्रहः" के अनुसार प्रभु अनुग्रह द्वारा जीव का वास्तविक पोषण स्वीकार किया गया है। कुछ विचारकों ने पुष्टिमार्गानुयायियों को विषय सुख को ही अपना ध्येय समझकर शरीर एवं इंद्रियों के पोषण की ओर ध्यान देनेवाला माना है और वे पुष्टिमार्ग को विलासीमार्ग भी कहते हैं लेकिन वास्तव में वल्लभाचार्य तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने कहीं भी पुष्टिमार्गी सिद्धांतों में विषयसुखपोषण का आदेश नहीं दिया है अपितु सांसारिक विषयों में अनासक्ति एवम् उनके

त्याग का ही उपदेश देते हुए स्पष्ट रूप से यही कहा है कि मनुष्य को सांसारिक विषयों में कभी भी आसक्त न होना चाहिए। 'सन्यास निर्णय' में तो "विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वथा हरेः" द्वारा विषयाक्रान्त मन में प्रभुप्रेरणा का आदेश असंभव समझा गया है और सुबोधिनी टीका में भी "कामादिनां शिथिलत्वे भक्तिर्नोत्पत्स्यते" द्वारा जब तक कामादिक दोष नष्ट नहीं हो जाते तब तक मानस में भक्ति भावनाओं का उत्पन्न होना असंभव माना गया है। स्मरण रहे वल्लभाचार्य ने तत्त्वदीप निबन्ध के शास्त्रार्थ प्रकरण में चार वेद (ब्राह्मण सहित), श्रीमद्भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र एवम् श्रीमद्भागवत की समाधि-भाषा नामक चार प्रमाण माने हैं[1] जोकि वल्लभ सम्प्रदाय में 'प्रस्थान चतुष्टय" के नाम से प्रसिद्ध हैं और कहा जाता है कि पुष्टिमार्गी भक्ति के समस्त सिद्धान्त इन्हीं ग्रंथों के आधार पर प्रतिपादित हैं लेकिन विचारपूर्वक देखने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभ सम्प्रदाय पर महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान, शांडिल्य भक्तिसूत्र, नारद पांचरात्र तथा नारद भक्ति सूत्र का भी प्रभाव पड़ा है।

वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के ऊपर प्रकाश डालते हुए हम कह चुके हैं कि उन्होंने सांसारिक जीवों को पुष्टिमार्गी जीव, मर्यादामार्गी जीव और प्रवाहमार्गी जीव नामक तीन प्रकारों का माना है। अतएव इन तीन वर्गों के आधार पर पुष्टि पुष्ट भक्ति, मर्यादा पुष्ट भक्ति तथा प्रवाही पुष्ट भक्ति नामक तीन प्रकार की भक्ति भी कही जा सकती है जिनमें कि वे पुष्टि मार्गी भक्ति को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं तथा साथ ही शुद्ध पुष्ट भक्ति नामक चतुर्थ वर्ग भी भक्ति का मानते हैं जिसे कि जीव की सिद्धावस्था कहा जाता है। वल्लभाचार्य ने भगवान को सर्वभाव से भजनीय माना है तथा प्रत्येक स्थिति में कृष्ण की शरण लेकर उसे ही अपना रक्षक समझकर भक्त को सर्वदा इसी पर विश्वास रखने को कहा है कि चाहे फल प्राप्ति में विलम्ब हो जाए लेकिन भक्त को उसके विषय में तनिक भी चिन्ता न कर केवल यही समझना चाहिए कि यह भगवान का सेवक है। वल्लभ सम्प्रदाय में निम्नांकित मंत्र द्वारा कृष्ण के चरणों में आत्मसमर्पण किया जाता है, "श्री कृष्णः शरणं मम। सहस्र परिवत्सरमित काल जात कृष्ण वियोग जनित ताप क्लेशानंद तिरोभावोहं, भगवते कृष्णाय

१. वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथंचन॥
—तत्त्वदीप निबंध, शास्त्रार्थ प्रकरण, श्लो० ७ और ९

देहेन्द्रियप्राणान्तः करणानि तद्धर्मांश्च दारागार पुत्रवित्तेहस्थरापि आत्मना सह समर्पयापि, दासोहं कृष्ण तवास्मि" अर्थात् मैं श्रीकृष्ण की शरण में हूँ। सहस्त्रों वर्षों से मेरा श्रीकृष्ण से वियोग हुआ है। वियोगजन्य, ताप एवम क्लेश से मेरा समस्त आनंद तिरोहित हो गया है अतः मैं भगवान् श्रीकृष्ण को अपनी देह, इंद्रिय, प्राण, अंतःकरण एवम् उनके धर्म, स्त्री, गृह, पुत्र, धन और आत्मा सभी कुछ अर्पित करता हूँ। हे कृष्ण, मैं तो आपका अनुचर हूँ और इस प्रकार आप ही का हूँ। वल्लभाचार्य ने सुबोधिनी टीका में श्रीमद्-भागवत की उस उक्ति पर कि 'जो भी भगवान में नित्य काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहार्द्र रखता है, वह भगवत्मय हो जाता है' प्रकाश डालते हुए कहा है कि काम स्त्री भाव में, क्रोध शत्रु भाव में, भय वधिक भाव में, स्नेह संबंधियों में, ऐक्य ज्ञानावस्था में और सौहार्द्र सख्याभाव में होते हैं। चूंकि ये प्रत्येक समय ईश्वर में लगे होने के फलस्वरूप ईश्वरमय ही हो जाते हैं अतः उनकी दृष्टि में भगवान में किसी भी प्रकार से अपना मन लगाना चाहिए, चाहे वह किसी भी भाव से लगे। चतुःश्लोकी में तो स्पष्ट रूप से भक्त के लिये ऐहिक और पारलौकिक कामनाओं से रहित होकर सर्वात्मभाव से कृष्ण का स्मरण, भजनकर उन्हें पूर्णरूप से हृदय में धारण कर लेना आवश्यक माना गया है। वल्लभाचार्य ने भगवत्प्रेम को प्राप्त करने के हेतु नवधाभक्ति की सराहना करते हुए सुबोधिनी टीका में उसके साधन क्रम को अपनाने की राय दी है लेकिन इन समस्त साधनों में आत्म निवेदन या आत्म-समर्पण को अत्यंत महत्त्व देते हुए 'अन्तःकरण प्रबोध' नामक ग्रंथ में तो उन्होंने "सर्वसमर्पित भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव" नामक उक्ति द्वारा भक्त को आत्मा सहित पूर्णरूपेण कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण कर कृतार्थ होकर सुख प्राप्त करने की राय दी है। तन मन धन तीनों का अवलंब भगवत्सेवा में स्वीकार करते हुए भी वे सर्वाधिक फल सम्पादिनी एवम् सर्व-दुःखहारिणी सेवा मानसिक ही मानते हैं और इस प्रकार मन को प्रभु सेवा में लगाना अन्य सभी सेवाओं से श्रेष्ठतम समझते हुए सिद्धान्त मुक्तावली में उन्होंने समस्त दुःखों को दूर करनेवाले कृष्ण की मानसी सेवा को जो कि फलस्वरूपा मानी गई है करने पर ही बल दिया है—

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धांतविनिश्चयम् ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ॥

जैसा कि आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने लिखा है—"पुष्टिमार्ग में आने के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि लोक और वेद दोनों के प्रलोभन से दूर हो जाय; उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे, जो लोक का अनुसरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कार्यों के सम्पादन द्वारा कही गई है यह तभी हो सकता है जब कि साधक अपने को भगवान के चरणों में समर्पित कर दे। इसी समर्पण से इस मार्ग का आरम्भ होता है और पुरुषोत्तम भगवान के स्वरूप का अनुभव और लीलासृष्टि में प्रवेश हो जाने पर अन्त। बीच में जो मार्ग पड़ता है उसका अनुसरण तनुजा और वित्तजा सेवा द्वारा होता है। इस सेवा द्वारा धीरे-धीरे अहन्ता और ममता का नाश हो जाता है और भगवान् के स्वरूप के अनुभव की क्षमता प्राप्त होती है।"[1]

स्मरण रहे कि वल्लभाचार्य ने गुरु-आज्ञा-पालन को भी प्रभु-सेवा का अंग ही माना है क्योंकि इस प्रकार की सेवा-भक्ति का मार्ग उसी के द्वारा समझाया जाता है और भक्तों की उत्तम, मध्यम तथा हीन नामक तीन प्रकार की श्रेणियाँ मानते हुए प्रथम में भगवान् को ही सब कुछ है तथा सब कुछ उन्हीं से प्रकट हुआ है, नामक विचार रखनेवाले भक्तों को, द्वितीय में श्रवणादि साधनों द्वारा सेवा करने पर भी और भगवान् की सर्वज्ञता का ज्ञान होने पर भी उसके प्रति मानस में उत्कट प्रेम न रखनेवाले भक्त को तथा तृतीय में श्रवण-कीर्तनादि साधनों द्वारा भगवत्सेवा करने पर भी हृदय में प्रभु-महिमा का ज्ञान और उसके प्रति उत्कट प्रेम न रखनेवाले भक्त को रखा गया है। भक्ति की प्रथमावस्था में ज्ञान की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी वे पुष्टिमार्गी भक्त को ज्ञानभाव में पूजा के अन्य साधनों का अवलम्ब ग्रहण करने का आदेश देते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित कर्म, ज्ञान और भक्ति नामक मोक्ष प्राप्ति के तीनों साधनों को स्वीकार करते हुए भी वल्लभाचार्य भक्ति को ही विशेष महत्त्व देते हैं और उनकी दृष्टि में कर्मकांडी केवल स्वर्ग प्राप्त करता है, ज्ञानी अक्षर ब्रह्म को प्राप्त होता है लेकिन भक्त तो पूर्ण पुरुषोत्तम में लीन हो जाता है। अतः कर्म, ज्ञान और भक्ति में भक्ति को ही सर्वोत्तम समझा जाना चाहिए क्योंकि उसमें जीव भगवान् पर पूर्णतः आश्रित हो जाता है। साथ ही वे पुष्टि में लोक लाज को कोई स्थान न देकर स्पष्ट रूप में यही कहते हैं कि

---

१. सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृष्ठ १०१-१०२)

रस रूप भगवान् के सहवास का पूर्ण रस, लोक त्याग करने पर ही प्राप्त होता है। इस प्रकार गोपियों की भक्तिभावना पुष्टिमार्गी ही है, लेकिन जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं वल्लभ संप्रदाय में राधा की या युगल रूप की उपासना गोसाईं नाथजी द्वारा ही प्रारम्भ हुई जिसके फलस्वरूप अष्टछाप के कवियों ने युगल स्वरूप का अपने पदों में विस्तार के साथ चित्रण भी किया लेकिन यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि वल्लभ मत में राधा स्वकीया ही मानी जाती है जब कि गौडीय सम्प्रदाय आदि कुछ वैष्णव मतों में उसे परकीया माना गया है। भगवत्-कृपा द्वारा साध्यभक्ति हेतु मानस में उत्कट प्रेम का होना अपेक्षित मानते हुए वे प्रेमोत्कर्ष के लिए भगवान् के वियोग का ज्ञान एवम् उससे संयोग की अतुल आकांक्षा और विफलता को अत्यावश्यक समझते हैं तथा 'निरोध लक्षण' नामक ग्रंथ में अपने मानस में भी गोपियों की सी विरहवेदना के उत्पन्न होने की अभिलाषा कर 'सुबोधिनी' में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "किसी साधन-सम्पत्ति द्वारा ईश्वर भक्त से संतुष्ट नहीं होता, लेकिन उसकी केवल दैन्य भावना से ही वह संतुष्ट हो जाता है और जब वह संतुष्ट होता है तो समस्त दुःखों का नाश कर देता है।" अतएव वल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम भक्ति की पुष्टि हेतु ईश्वर मिलन की विकलता एवम् विरह भाव की स्थिति को विशेष महत्त्व दिया गया है तथा 'सन्यास निर्णय' ग्रंथ में वे विरहानुभूति हेतु गृहत्याग को उत्तम मानते हैं और ऐसी स्थिति में भक्त जो वेष धारण करता है, उसे स्त्री आदि के संबंध से निवृत्ति पाने के लिये वे आवश्यक समझते हैं। वल्लभाचार्य जी के भक्तिवर्द्धिनी नामक ग्रंथ में स्नेह जिसमें ईश्वर के प्रति स्नेह से लोक के प्रति होनेवाला राग नष्ट होता है, आसक्ति जिससे गृहादि के प्रति अरुचि होती है और व्यसन जिससे भक्त पूर्णानुराग की कृतार्थता को प्राप्त करता है, नामक तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। यह तो हम कह ही चुके हैं कि पुष्टिमार्गी भक्ति में श्रीकृष्ण को ही परम आराध्य माना गया है और भक्ति में अनन्यता की भावना को अत्यधिक महत्त्व देते हुए कहा गया है कि भक्त को पूर्ण रूप से कृष्णाश्रय ग्रहण कर अपने मानस में इस प्रकार की दृढ़ निष्ठा रखनी चाहिए, जैसी कि चातक की मेघ के प्रति होती है—

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च
प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत्।
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः
ब्रह्मास्त्र चातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः।

इस प्रकार पुष्टिमार्गी भक्ति में भक्त को भगवान के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना आवश्यक समझा गया और स्पष्ट रूप से उसे यह आज्ञा दी गई कि वह अपने लौकिक और वैदिक कार्य इस प्रकार से ईश्वरार्पण कर दे जैसे कि सेवक अपनी समस्त सेवाएँ अपने स्वामी को अर्पित करता है और उसी के इच्छानुकूल समस्त कार्य भी करता है। अतएव पुष्टिमार्गी भक्ति में वस्तुतः प्रपत्ति को ही विशिष्ट महत्त्व देते हुए गोपालकृष्ण की लीलाओं को अलौकिकता भी प्रदान की गई और लीला को अत्यधिक उच्च स्थान देकर कहा गया कि वस्तुतः लीला पुरुषोत्तम भगवान से कृष्ण गोपिकाओं के साथ त्रिलोक में विहार करते हैं। वह अन्य समस्त लोकों से ऊँचा है और उसे गोलोक कहते हैं तथा भगवान की लीलाओं में भाग लेना ही जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है।

स्मरण रहे कि यद्यपि वल्लभाचार्य के पूर्व अन्य वैष्णवाचार्यों ने भी वैष्णव धर्म की उन्नति में महत्त्वपूर्ण योग दिया था लेकिन उनका प्रभाव क्षेत्र दक्षिण भारत तक ही सीमित रहा और उत्तरी भारत में उनका उतना अधिक प्रभाव न होने के फलस्वरूप अन्य अवैष्णव सम्प्रदाय तथा शांकरमत ही प्रभावशाली रहे लेकिन वल्लभाचार्य ने अद्भुत व्यक्तित्व, अपूर्व पांडित्य और सुगम मत के प्रचार द्वारा भारत के धार्मिक जगत में क्रांति की लहर सी प्रवाहित करते हुए इस प्रकार सरल, रोचक, आकर्षक एवं युक्तियुक्त मत को सर्वसाधारण के सामने रखा कि प्रायः सभी वर्गों के पुरुष नारी, ऊँच नीच, मूर्ख विद्वान, अगुणी-गुणी, निर्धन-धनी असंख्य व्यक्तियों में वैष्णव धर्म का प्रचार हो गया जिसके फलस्वरूप आगे चलकर दिन प्रतिदिन वह विकसित ही होता गया। चौरासी वैष्णवों की वार्ता में श्री हरिराय जी के भाव प्रकाश में बाबा बेनु की एक वार्ता द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभाचार्य के समय काशी से प्रयाग तक के गाँवों में सर्वत्र शक्ति उपासना का ही प्रचार था और वैष्णव देवताओं का कोई नाम भी न जानता था। इस प्रकार उत्तरी भारत में सर्वत्र शैव, शाक्त एवं शांकरमतानुयायियों से वल्लभाचार्य ने शास्त्रार्थ कर इन अवैष्णव एवं मायावादियों को पराजित कर वैष्णव-धर्म का अनुयायी बनाया।[1] साथ ही पुष्टि भक्ति का प्रचार करने के फलस्वरूप और पुष्टि सम्प्रदाय की स्थापना के कारण श्रीकृष्ण की लीलाभूमि ब्रज को भी अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण भारत के भक्ति संबंधी इन विविध सम्प्रदायों में पुष्टि सम्प्रदाय का अत्यधिक महत्त्व है तथा वल्लभाचार्य ने वैष्णव-धर्म को विकसित करने में जो योग दिया है वह स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

---

१. चौरासी वैष्णवों की वार्ता (अग्रवाल प्रेस मथुरा) पृष्ठ ३७२

महाराष्ट्र का वारकरी सम्प्रदाय और संत ज्ञानेश्वर

वस्तुतः भारतीय भक्ति आन्दोलन को प्रभावित करने में महाराष्ट्र के विविध धार्मिक सम्प्रदायों—नाथ पंथ, महानुभाव पंथ, वारकरी सम्प्रदाय, दत्त सम्प्रदाय और समर्थ सम्प्रदाय—का भी प्रशंसनीय योग रहा है तथा इनमें से वारकरी सम्प्रदाय तो महाराष्ट्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है और वैष्णव-धर्म के विकास में भी उसका अत्यंत उल्लेखनीय स्थान है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वारकरी सम्प्रदाय पूर्णरूप से वैदिक है तथा यद्यपि वह महाराष्ट्र में उदय होकर वहीं पनपा भी लेकिन उसकी शाखाएँ इतनी दूर-दूर तक विस्तृत हुईं कि न केवल महाराष्ट्र अपितु उसके बाहर के अन्य प्रदेशों के सहस्त्रों नर नारी उसकी शीतल छाया में अभी भी विश्राम पा रहे हैं।

वारकरी सम्प्रदाय को मालकरी अथवा भागवत पंथ भी कहा जाता है। वस्तुतः वारकरी पंथ का बाह्य चिन्ह तुलसी की माला धारण करना है और जिस प्रकार ब्राह्मणों के लिये यज्ञोपवीत धारण करना अनिवार्य है उसी प्रकार वारकरी पंथानुयायियों के लिए तुलसी की माला धारण करना आवश्यक समझा जाता है। तुलसी की माला कंठ में धारण कर अपना जीवन अपने इष्टदेव पांडुरंग की सेवा में समर्पित कर देने की भावना के कारण ही सम्प्रदाय मालकारी पंथ कहलाया।[1] इसी प्रकार वारकरी पंथ भागवत धर्म का पूर्णतः अनुयायी है और चाहे उसका पांचरात्र सिद्धान्त के साथ स्पष्ट भेद भी हो लेकिन विठ्ठल की उपासना तथा भक्ति की प्रमुखता के कारण उसे निस्संदेह भागवत धर्म ही समझना चाहिए।[2] इस प्रकार उसे भागवत पंथ भी कहा जा

---

१. आम्हां अलंकार मुद्राचें श्रृंगार।
तुलशी चे हार वाहू कंठीं॥

—तुकाराम

२. दारा सुतगृहप्राण। करावें भगवतांसीं अर्पण। हे भागवतधर्म पूर्ण। मुख्यत्वें भजन या नांव॥ (एकनाथी भागवत २.२९८) हैतुक अथवा अहैतुक। वैदिक लौकिक स्वाभाविक। भगवंतीं अर्पे सकळिक। या नांव देख भागवतधर्म॥ (एकनाथी भागवत २.२९८)

सकता है। परन्तु मालकारी पंथ और भागवत पंथ की अपेक्षा वह वारकरी सम्प्रदाय के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है और उसका वारकरी नाम उपयुक्त भी है। वस्तुतः वारकरी संप्रदाय का नाम दो शब्दों अर्थात् 'वारी' एवं 'करी' के संयोग से बना है और उसका अर्थ 'परिक्रमा करनेवाला' होता है।[1] स्मरण रहे वारकरी सम्प्रदाय पंढरपुर नामक प्रसिद्ध तीर्थस्थल से संबद्ध है और यहीं पर ईंट के ऊपर खड़े विठ्ठल की मूर्ति है तथा पार्श्व में रुक्मिणी की प्रतिमा है जो कि रुखमाई के नाम से प्रसिद्ध है। विठ्ठल श्रीकृष्ण के बालरूप कहे जाते हैं और उनके भावुक भक्त अपने इष्टदेव की भव्यमूर्ति के दर्शन से अपने जीवन को सफल बनाने के हेतु वर्ष में कम से कम दो बार अषाढ़ शुक्ल एकादशी तथा कार्तिक शुक्ल एकादशी को पंढरपुर की यात्रा अवश्य करते हैं। इस यात्रा को 'वारी' तथा इस पुण्ययात्रा के करनेवालों को 'वारकरी' कहने के कारण ही इस सम्प्रदाय का नाम वारकरी पड़ा है।

'विठ्ठल' के साथ-साथ वारकरी सम्प्रदाय के आराध्यदेव विठोबा और पांडुरंग के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। विठोबा और विठ्ठल तो वस्तुतः एक ही हैं अतः अभी हम विठ्ठल शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते समय दोनों की साम्यता प्रदर्शित करेंगे लेकिन पांडुरंग तो वस्तुतः शिव का नाम है और डॉ० भंडारकर ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स" में स्पष्ट रूप से पांडुरंग नाम शिव का ही माना है।[2] डा० भंडारकर ने यह भी सिद्ध किया है कि पंढरपुर का यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि उसे 'पाण्डरम्' ने बसाया था और संभवतः उसका प्राचीन नाम पांडुरंगपुर ही था। हेमचन्द्र के मतानुसार पांडुरम् अथवा रुद्र अथवा शिव

---

१. संत ज्ञानेश्वर ने भी "वारी" शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है—
"ऐसें वैराग्य हैं करी। तरी संकल्पाची सरे वारी ॥ सुखें धृताचिया धवळारीं। बुद्धि नांदे। ज्ञा० ६-३७७ ॥ अर्जुन तयापरी। सरली द्वैताची वारी। नांदो नामार्थ एकाहारीं। मीमि तूं विण ॥ १४-५६ ॥ कर्मीं हा ठावो वरी। आहांती बहुधा अवसरीं। आतां कर्मठा कैंवारी। मोक्षाची हे। १८-६८ ॥ काया वाचा मनें सर्वस्वी उदार। बाप रखुमादेवीवर। विठ्ठलाचा वारिकर ॥" ज्ञा० अभंग ॥

२. Vaishnavism, Shavisim and Minor Religious Systems (Sir R. G. Bhandarkar) Page 88

को कहते है और कहा जाता है कि पंढरपुर में आज भी शिव का एक मंदिर है तथा यात्री विठ्ठल के दर्शनों के पूर्व शिव के ही दर्शन करते हैं। स्मरण रहे संत ज्ञानेश्वर की प्रसिद्ध कृति 'अमृतानुभव' में पाए जानेवाले उनके एक पद की निम्नांकित पंक्ति—"आणि ज्ञानबंधु ऐसे। शिवसूत्राचे निमिथे। म्हणितले असे। सदा शिवे" से प्रतीत होता है कि उन पर काश्मीरी शैवागम सम्प्रदाय के मूलाधार शिवसूत्रों का भी प्रभाव पड़ा था। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि पंढरपुर में स्थापित विठ्ठल अर्थात् विष्णु की मूर्ति के सिर पर शिवलिंग या शिव की मूर्ति बनी हुई है तथा वारकरी सम्प्रदायानुयायी वस्तुतः हरि या हर अर्थात् विष्णु और शिव में तनिक भी विभिन्नता नहीं मानते तथा एकादशी के व्रत के साथ-साथ सोमवार के दिन भी उपवास करते हैं।[1] इस प्रकार बहुत से लोगों का मत है कि शिव और विष्णु की समन्वयात्मक भक्ति का प्रचार करने का श्रेय भी वारकरी मत को ही है।

यह तो स्पष्ट ही है कि वस्तुतः विठ्ठल या विठोबा के नाम से भगवान् विष्णु ही महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हैं। धर्मसिंधु के प्रणेता श्री काशीनाथ पाध्ये ने विठ्ठल शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—"विदा ज्ञानेन ठान् शून्यान लानि गृह्णाति इति विठ्ठलः" अर्थात् ज्ञानशून्य भोलेभाले अज्ञजनों को जो अंगीकार करते हैं वे ही विठ्ठल हैं। साथ ही यह भी कहा जाता है कि विठोबा या विठ्ठल संस्कृत शब्द नहीं है और संस्कृत नाम 'विष्णु' कन्नड़ी भाषा में 'विठ्ठ' हो जाता है।[2] इधर किसी-किसी विद्वान् का यह भी मत है कि विष्णु का प्राकृत रूप विठु है तथा उसमें 'ल' प्रत्यय लगाकर 'विठ्ठल' या वा प्रत्यय संयुक्त कर विठोबा शब्द बनता है। संत तुकाराम के विचार में तो गरुड़वाहन होने के फलस्वरूप ही विष्णु विठोबा नाम से प्रसिद्ध हुए और उन्होंने अपने एक अभंग में कहा भी है—"वीचा केला डावा। म्हणोनि नांव विठोबा॥" इस प्रकार वि = पक्षी, अर्थात् गरुड़ और विठोबा = वाहन = गरुड़वाहन द्वारा विठोबा भगवान् विष्णु को ही माना जाता है। भंडारकर ने भी विठ्ठल को विष्णु का ही अपभ्रंश रूप माना है और कुछ विद्वानों ने

१. वारकरीज दी फारमोस्ट वैष्णव सेक्ट आफ महाराष्ट्र - पं० बलदेव उपाध्याय (दी इंडियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली, भा. १५, १९३९), पृष्ठ २७४

२. Vaishnavism, Shavisim and Minor Religious Systems (Dr. R. G. Bhandarkar) Page 87.

तो विठ्ठल का अर्थ ईंट पर खड़ा हुआ (मराठी=विट=ईंट) माना है। महाराष्ट्र में इस नाम के प्रचलित होने के विषय में एक कथा भी प्रसिद्ध है। कहते हैं प्राचीनकाल में महाराष्ट्र प्रदेश में भीमा नदी के तट पर पुंडलीक जिसे कि पुंडरीक भी कहा जाता है नामक एक व्यक्ति रहता था जो कि अपने माता पिता की बहुत सेवा करता था। उसकी इस सेवा-भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् कृष्ण स्वयं उसे साक्षात् दर्शन देने के हेतु बालक का मनोहर रूप धारण कर उसके पास पहुँचे पर वह तो अपने माता-पिता की सेवा में अत्यंत व्यस्त था लेकिन जब उसे यह भास हुआ कि स्वयं विष्णु उसे दर्शन देने आए हैं तो उसने पास पड़ी हुई दो ईंटें उनके सामने रख दीं तथा उनसे उस पर बैठकर विश्राम करने की प्रार्थना की और कहा कि माता पिता की सेवा से निवृत्त होने पर ही मैं आपकी ओर देख सकूँगा। भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त की इच्छानुसार उस ईंट पर खड़े हो गये तथा अपनी कमर पर हाथ रख कर पुंडलीक की ओर देखने लगे। कहते हैं वही विठ्ठल की मूर्ति का मूल रूप है और वही मूर्ति आज भी पंढरपुर में उसी प्रकार विद्यमान है तथा भगवान् श्रीकृष्ण अभी तक उसी प्रकार कमर पर हाथ रखे एकटक देख रहे हैं। इस प्रकार कहा जाता है कि वस्तुतः अपने परम भक्त पुंडलीक के कारण ही भगवान् विष्णु ने विठ्ठल रूप से अवतार लिया था और पुंडलीक के जिसे कि पुंडरीक भी कहा जाता है नाम पर भीमा नदी के तट का गाँव पुंडरीकपुर कहा जाने लगा तथा कालांतर में वही पंढरपुर के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। शंकराचार्य ने पांडुरंगाष्टक में इस घटना की ओर संकेत भी किया है—

महायोग-पीठे तटे भीमरथ्यां
वरं पुंडरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
समागत्य तिष्ठन्तमानन्दकन्दं
परब्रह्म लिंग भजे पांडुरंगम्

स्वयं ज्ञानेश्वर के एक अभंग द्वारा भी स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः पुंडलीक के लिये ही भगवान् ने विठ्ठल का रूप धारण किया था[1] तथा पंढरपुर की यात्रा करते समय भक्तगण जो 'पुंडलीक वरदा हरि विठ्ठल'

१, पुंडलीकाचिया भावार्था। गोकुलीहुनीं जाला येता।
निजप्रेम भक्ति भर्ता। ध्या ज्या आतां म्हणससे॥
(श्री ज्ञानदेव अभंग १८४, सकल संत गाथा)

नामक जयघोष करते हैं उससे भी यही बात स्पष्ट हो जाती है। पंढरपुर को वारकरी संतों ने दक्षिण की द्वारिका ही कहा है—

पावन पांडुरंगक्षिति। जे कां दक्षिण द्वारावती।
जेथ बिराजे श्री विठ्ठलमूर्ति। नामें गर्जती पंढरी॥

(एकनाथी भागवती, २९।२४३)

स्मरण रहे कि वारकरी-सम्प्रदाय का उद्‌भव कब हुआ; इस विषय में विद्वानों में मतभेद सा पाया जाता है और अभी तक उनमें मतैक्य स्थापित नहीं हो सका है। संत तुकाराम की शिष्या बहिणाबाई के एक अभंग के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि वारकरी-सम्प्रदाय का प्रारंभ ज्ञानेश्वर ने तेरहवीं शताब्दी में किया था।[1] वस्तुतः बहिणाबाई के उस अभंग में बड़े ही मनोहर आलंकारिक ढंग से वारकरी मंदिर के निर्माण का वर्णन किया गया है और यह भी सत्य है कि ऐतिहासिक घटनाओं के वह प्रतिकूल भी नहीं है, लेकिन उसमें जो ज्ञानेश्वर द्वारा नींव रखने की बात कही गई है, उसका अर्थ यह नहीं लिया जा सकता कि वस्तुतः उन्होंने इसे प्रारंभ किया था अपितु वास्तविकता तो यह है कि उनके पूर्व ही इस पंथ का उद्‌भव हो चुका था और उसके अनुयायी विद्यमान भी थे; परन्तु चूंकि वे इधर-उधर बिखरे हुए थे अतः उन्हें एक सूत्र में संगठित कर सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय संत ज्ञानेश्वर को ही है। श्री पं. रा. मोकाशी ने जो वारकरी संप्रदाय के इतिहास को (१) पुंडलीक से ज्ञानदेव (२) ज्ञानदेव से नामदेव का काल (३) भानुदास—एकनाथ काल, (४) तुकाराम निलोबाराय काल और (५) उसके पश्चात् २२५ वर्षों का काल नामक पाँच कालखंडों में विभाजित किया है, वह वस्तुतः उचित ही है।[2]

जैसा कि हम पहले हो लिख चुके हैं, वारकरी संप्रदाय का उद्‌गम पुंडलीक के समय से ही हुआ है और संत तुकाराम ने तो लिखा भी है—"भक्तामाजी

१—संत कृपा झाली, इमारत फला आली॥
ज्ञानदेवे रचिला पाया, उभारिले देवालया॥
नामा तयाचा किंकर। तेणें केला हा विस्तार॥
जनार्दन* एकनाथ। ध्वज उभारिला भागवत॥
भजन करा सावकाश। तुका झालासे कलश॥

२—महाराष्ट्रांतील पाँच सम्प्रदाय—श्री पं. रा. मोकाशी (पृष्ठ ७७)

अग्रगणी । पुंडलीक महामुनी । त्याच्या प्रसादें तरले । जड जीव उद्धरले । तोचि प्रसाद आम्हासीं , विटेवरी हृषीकेशीं ॥" प्रारंभ में ही परंपरा से प्रसिद्ध कथा को उद्धृत कर हम स्पष्ट कर चुके हैं कि पुंडलीक का ऐतिहासिक काल निर्णय अभी तक निश्चित नहीं हो सका है, अतएव वारकरी पंथ के उद्गम काल का निर्धारण भी सहज नहीं है। श्री मालू सोनार ने 'मालूतारण' नामक अपने ग्रंथ में लिखा है कि वर्तमान पंढरपुर जिस स्थान पर है वहाँ पहले निबिड़ अरण्य था तथा शालिवाहन राजा के प्रधान रामचंद्र पंत ने उस वन को साफ़ कराकर वहाँ पर पंढरपुर बसाया और इस प्रकार शालिवाहन शक के प्रारंभ के साथ ही पंढरपुर की स्थापना हुई। स्मरण रहे मालू सोनार ने अपने विचारों की पुष्टि के हेतु तनिक भी प्रमाण नहीं दिए और फिर 'मालूतारण' नामक ग्रंथ का रचना-काल आज से १२५-१५० वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है, अतः उनके विचारों की प्रामाणिकता भी प्रतिपादित नहीं होती। प्रसिद्ध इतिहासकार राजवाड़े और डा. श. गो. तुळपुळे ने पंढरपुर के विठ्ठल मंदिर के 'चौर्‌यांशीचा शिलालेख' नाम से प्रसिद्ध शक ११९५ के एक शिलालेख का जो कि ज्ञानेश्वर से निश्चय ही प्राचीन है, उल्लेख करते हुए कहा है कि वस्तुतः पंढरपुर के विठ्ठल मंदिर का जीर्णोद्धार शक ११९५ के दस-पाँच वर्षों पूर्व ही हो चुका था। चूँकि उसमें दानदाताओं में रामदेवराव जाधव व उसके प्रधान हेमाद्रपंत या हैमाद्रि का नाम दिया गया है अतः इससे स्पष्ट है कि उनके समय तक यह मंदिर अत्यधिक प्रसिद्ध था। साथ ही उन दोनों विद्वानों ने पांडुरंग के देवालय में संस्कृत व कन्नड भाषा में लिखे हुए शक ११५९ के एक अन्य शिलालेख का प्रमाण देते हुए कहा है कि इस शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि सोमेश्वर (होयसल यादव) ने विठ्ठलदेव के अंगभोग व रंगभोग के लिये हिरियगंज नामक गाँव भी दान में दिया था। मैसूर के कडूर ज़िले में 'कगूछ' नामक मौजे में 'हिरियगंज' नामक गाँव भी दान में दिया गया था। इस शिलालेख में 'पुंडरीक मुनि' का भी उल्लेख किया गया है—

परिचय बाजू—भीमरथी नदीतीरसान्निविष्टपंडरगनामानं महाग्रामसधिवसते
पुंडरीकमुनिमनः कुमुदविकाससुधाकराय भगवते स्त्री विठ्ठलदेवाय
हिरियगरंजसंज्ञकमहाग्रहार............

(श्री विठ्ठल आणि पंढरपुर—श्री ग. ह. खरे, पृ. ३७)

साथ ही ज्ञानेश्वर के जन्म-स्थान आलंदी में, हरिहरेन्द्र स्वामी के मठ में, कृष्ण स्वामी की समाधि प्राप्त हुई है, जिस पर कि शक ११३१ का एक शिलालेख है और समाधि पर विट्ठल-रुक्मिणी की प्रतिमाएँ भी पत्थर पर खुदी हुई हैं। स्मरण रहे कि यह समय संत ज्ञानेश्वर के जन्म से लगभग ६० वर्ष पूर्व का है, अतः स्पष्ट हो जाता है कि उनके जन्म के पूर्व ही आलंदी में विठ्ठल की उपासना तथा भक्ति का प्रचार था। शंकराचार्य के पांडुरंगाष्टक स्तोत्र का उदाहरण देकर हम स्पष्ट कर चुके हैं कि उन्होंने भी पुंडरीक वाली घटना की ओर संकेत किया है और पुंडरीक के लिये ही पांडुरंग का आविर्भाव माना है परन्तु यदि यह स्तोत्र आद्य शंकराचार्य की कृति हो तो हम पांडुरंग का काल आठवीं शताब्दी के पूर्व मान सकते हैं, लेकिन अभी तक विचारक इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे कि वस्तुतः वह उन्हीं का रचा हुआ है। इधर मैसूर सरकार को सन् १९२९ में प्राप्त शक ४३८ के एक ताम्रपत्र से स्पष्ट होता है कि जयद्वीप नामक ब्राह्मण को अनवेरी, चाल, कंदक व दुइ-पल्ली तथा 'पांडुरंगपल्ली' नामक गाँव दान में दिए गये थे। कहा जाता है कि पांडुरंगपल्ली वस्तुतः वर्तमान पंढरपुर ही है और इस आधार पर 'भालूतारण' में दिया गया पंढरपुर की स्थापना का काल अर्थात् शालिवाहन शक की पहली शताब्दी माना जा सकता है। अतएव हम पुंडलीक का भी वही काल मान सकते हैं। श्री शं. वा. दांडेकर ने तो वारकरी सम्प्रदाय का इतिहास नामक पुस्तक में तुकाराम के 'युगें झालीं अठ्ठावीस। अजुनी न म्हणशी बैस" नामक अभंग के आधार पर विठ्ठल की मूर्ति को अत्यंत प्राचीन व स्वयंभू ही माना है। स्मरण रहे ज्ञानेश्वर ने भी इसी प्रकार अपने अभंग में "हे नव्हे आजिकालीचें। युगें अठ्ठाविसाचें" कहा है तथा नामदेव की आरती में भी 'युगे अठ्ठावीस विटेवरी उभा' द्वारा यही बात कही गई है।

वस्तुतः वारकरी सम्प्रदाय के इतिहास में ज्ञानेश्वर और नामदेव का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है और इन दोनों को स्नेह, ज्ञान तथा भक्ति का संगम कहा जाता है। यद्यपि इन दोनों के पूर्व वारकरी पंथ का उद्भव हो चुका था परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इस संप्रदाय को सुव्यवस्थित, सुगठित तथा सुप्रतिष्ठित रूप देने का श्रेय ज्ञानेश्वर और नामदेव को ही है। बहिणा-बाई के एक अभंग को उद्धृत कर हम स्पष्ट कर चुके हैं कि वारकरी संप्रदाय में तो ज्ञानेश्वर को ही संप्रदाय का नींव रखनेवाला कहा जाता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा तात्विक दृष्टि से उसे सुदृढ़ता

भी प्रदान की है। अतएव यहाँ संत ज्ञानेश्वर के जीवनवृत्त एवम् विचारधारा पर प्रकाश डालना आवश्यक है।[1]

संत ज्ञानेश्वर का जन्म शके ११९७ अर्थात् वि. सं. १३३२ भाद्र कृष्णाष्टमी की मध्यरात्रि में आलंदी ग्राम में हुआ था। यद्यपि डा० शं. गो. तुळपुळे उनका जन्म आपेगांव में हुआ मानते हैं लेकिन जेसा कि श्री शं. वा. दांडेकर ने 'ज्ञानेश्वरी' की प्रस्तावना में तथा कई अन्य विद्वानों ने अपने ग्रंथों में उनका जन्म आलंदी ग्राम में माना है अत: आलंदी को ही उनका जन्म स्थान मानना उचित है। गोरखनाथ और उनकी साधना पद्धति नामक अध्याय में हम ज्ञानेश्वर की गुरु परम्परा तथा वंशावली का उल्लेख कर ही चुके हैं अत: उससे स्पष्ट हो जाता है कि वे विठ्ठल पंत के पुत्र तथा निवृत्तिनाथ के लघुभ्राता थे। ज्ञानेश्वर के पिता विठ्ठल पंत पहले सन्यासी थे लेकिन गुरु की आज्ञा प्राप्त कर उन्होने सन्यास त्याग कर पुन: गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया था और उनकी सतानें इसी अवस्था में हुई थीं। चूँकि आलंदी ग्राम के ब्राह्मणों ने विठ्ठल पंत का बहिष्कार कर दिया था और इस प्रकार वे यह नहीं चाहते थे कि उनके पुत्रों का जीवन कष्ट में व्यतीत हो अत: उन्होंने प्रायश्चित्त करना चाहा परन्तु आलंदी के ब्राह्मणों ने उनसे यही कहा कि पुन: गृहस्थ बनने का जो पाप है उसकी निष्कृति वस्तुत: देहान्त-प्रायश्चित्त द्वारा ही हो सकती है अत: विठ्ठलपंत और उनकी सहधर्मिणी रुक्मिणी दोनों ने धर्मशास्त्र की मर्यादा एवम् पुत्रों के कल्याण हेतु अपने तप:पूत शरीर को प्रयागराज में त्रिवेणी संगम को अर्पित कर जलसमधि ग्रहण की। कहते हैं उस समय ज्ञानेश्वर की अवस्था पाँच वर्ष की थी तथा उनके लघु भ्राता सोपान की चार वर्ष की तथा सबसे छोटी बहिन मुक्ता की केवल तीन वर्ष की थी। अत: उन चारों को बचपन में ही अनाथ हो जाना पड़ा परन्तु उन्होंने इन कठिन परिस्थितियों में भी अपना साहस नहीं छोड़ा और भिक्षावृत्ति द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते हुए सर्वदा भगवद्भजन, कीर्तन और भगवत्चर्चाओं में ही समय व्यतीत करते रहे। आलन्दी के ब्राह्मणों की राय पर ज्ञानेश्वर जी भाई-बहिन के साथ शुद्धिपत्र प्राप्त करने और उपनयन संस्कार की आज्ञा लेने पैठण पहुँचे लेकिन वहाँ भी ब्राह्मणों ने इन बालकों की शुद्धि होना असंभव माना

---

१. ज्ञानेश्वरजी की काव्य-कला का अध्ययन करने के लिए देखिए; लेखक की पुस्तक 'चिन्तन के चरण' में संकलित 'मराठी काव्य-साहित्य के वाल्मीकि संत ज्ञानेश्वर' शीर्षक निबंध

तथा प्रायश्चित्त की दुरूह व्यवस्था रखकर उन सबका उपहास भी प्रारम्भ किया। कहते हैं कि परम्परा से प्रसिद्ध कथा के अनुसार उसी समय ज्ञानेश्वर ने एक भैंसे से वेदमंत्रों का उच्चारण कराकर पैठण के समस्त विद्वान ब्राह्मणों को आश्चर्यचकित कर दिया और उन्हें अब विदित हो गया कि वस्तुतः वे सब जिसे एक साधारण बालक समझते थे वह कोई साधारण मनुष्य नहीं भगवान की महनीय विभूति ही है। अब इन ब्राह्मणों ने न केवल उन्हें शुद्धि-पत्र प्रदान किया अपितु लज्जित होकर क्षमा याचना भी की परन्तु ज्ञानेश्वर जी को तनिक भी गर्व नहीं आया और उन्होंने कहा कि यह सब तो आप लोगों के चरणों का प्रताप है तथा मैं तो एक तुच्छ बालक हूँ। अब उनकी अद्भुत समर्थता, विद्या और विद्वत्ता की प्रशंसा दूर-दूर तक की जाने लगी। कहते हैं पैठण में ही उन्होंने श्रीमच्छंकराचार्य का भाष्य, श्रीमद्भागवत एवम् योगवशिष्ट आदि ग्रंथों का अनुशीलन किया, उनकी भूमिका भी तैयार की तथा भगवद्भक्ति का प्रचार भी किया। पैठण से ज्ञानेश्वरजी आलें नामक स्थान में होते हुए नेवासें पहुँचे जहाँ कि उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ ज्ञानेश्वरी जिसे कि भावार्थ-दीपिका भी कहा जाता है और जो कि गीता का भाष्य ही है, का सृजन प्रारंभ किया। स्मरण रहे अपनी पन्द्रह वर्ष की आयु में ही उन्होंने ज्ञानेश्वरी की रचना कर डाली और इसमें कोई संदेह नहीं कि यद्यपि गीता पर अनेकानेक भाष्य लिखे गये हैं लेकिन उसके समान सर्वांग सुंदर एवं सर्वथा निराला भाष्य अभी तक दूसरा नहीं लिखा गया। अब संत ज्ञानेश्वर ने तीर्थयात्रा प्रारंभ की और इस यात्रा में उनके साथ निवृत्तिनाथ, सोपानदेव तथा मुक्ताबाई भी थे; साथही विसोबा खेचर, गोरा कुम्हार, चोखामेला, नरहरि सोनार आदि अन्य अनेक संत भी थे। सबसे पहले वे पंढरपुर पहुँचे जहाँ कि उनकी श्री विठ्ठल के परमभक्त नामदेव से भी भेंट हुई। कहते हैं नामदेव की प्रेमाभक्ति से प्रसन्न हो ज्ञानेश्वर ने उन्हें भी अपने साथ ले लिया और फिर साथ ही साथ अनेक तीर्थों का पर्यटन कर पुनः पंढरपुर पहुँचे। इधर उन्होंने स्थान-स्थान पर जो अद्भुत चमत्कार दिखाए थे उनकी प्रशंसा चारों ओर व्याप्त हो चुकी थी और सभी स्थानों से सब प्रकार के भगवद्भक्त योगी, यति, साधक आदि उनके दर्शनार्थ आने लगे थे। इतना ही नहीं उस समय के प्रसिद्ध महात्मा चांगदेव ने भी ज्ञानेश्वर की शरण ग्रहण की थी। इस प्रकार भगवद्-भक्ति का प्रचार करने के उपरान्त अपनी कुल इक्कीस वर्ष, तीन मास, पाँच

दिन की अल्पावस्था में ही संवत् १३५२ कार्तिक कृष्ण १३ को उन्होंने जीवित समाधि ले ली और उनके समाधि लेने के पश्चात् एक वर्ष के अंदर ही निवृत्तिनाथ, सोपानदेव तथा मुक्ता बाई ने भी अपना शरीर त्याग दिया।

संत ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव नामक दो रचनाएँ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं लेकिन इन दोनों के साथ-साथ उनकी स्फुट कृतियों में हरिपाठ (ओव्या २७), चांगदेव पासष्टि (ओव्या ६५), नमन (ओव्या १०८) व अभंग संख्या ९२७) की भी गणना की जाती है। श्री चांदोरकर जी ने अपनी 'कवि काव्य सूची' में ज्ञानदेव की 'योगवासिष्ट', 'आत्मानुभव', 'लिखित' नामक कृतियों के नाम दिये हैं और इसी प्रकार धळें में श्री समर्थवाग्देवता मंदिर में रखी हुई 'लेखणी' 'पंचमुद्रा' तथा 'भक्तराज' नामक तीन हस्तलिखित प्रतियाँ ज्ञानेश्वर की लिखी हुई कही जाती हैं। श्री वि. का. राजवाड़े ने भी 'प्राकृत गीता' और 'वसिष्ठ बोध' नामक दो और ग्रंथ ज्ञानेश्वर के माने हैं।[1] इस प्रकार ज्ञानेश्वर के नाम से रचे हुए कई ग्रंथ कहे जाते हैं परन्तु डा. श. दा. पेंडसे और प्रो. शं. वा. दांडेकर ने इन सभी को ज्ञानेश्वर का नहीं माना है।[2] इधर यह भी कहा जाता है कि ज्ञानेश्वर एक ही नहीं अपितु दो थे तथा डा. भंडारकर प्रभृति कई विद्वानों ने ज्ञानेश्वरी और अभंग दोनों के रचयिता अलग अलग मानकर दो ज्ञानेश्वर माने हैं। श्री भारद्वाज ने भी ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर को आपेगांव का मानकर उन्हें नाथपंथी हठयोगी, अद्वैतवादी और निर्गुणोपासक माना है तथा इसके विपरीत वे अभंगकर्ता ज्ञानदेव को चौदहवी शताब्दी का मानकर उन्हें वैष्णवपंथी, भक्तिमार्गी, द्वैतवादी और सगुणोपासक मानते हैं। इस प्रकार श्री भारद्वाज ने इ. स. १८९८-९९ में 'सुधारक' पत्र द्वारा दो ज्ञानेश्वर माने हैं लेकिन श्री र. भिंगारकर ने तो अपनी लेखमाला द्वारा ज्ञानदेव एक ही हैं; दो नहीं का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है और उनके विचार सारगर्भित तथा युक्तियुक्त भी हैं।[3] परन्तु इधर अभी भी दो

१. भा. इ. सं. मं. वार्षिक इतिवृत्त शके १८३७।

२. ज्ञानेश्वराचें तत्वज्ञान – डा. शं. दा. पेंडसे (पृष्ठ १२) तथा श्री ज्ञानदेव—प्रो. शं. दा. दांडेकर, प्रकरण ४ थे।

३. श्री र. भिंगारकर 'इंडियन इंटर प्रेटर' जुलै, १९१४

ज्ञानेश्वर माननेवाले विचारक प्रकाश में आ रहे हैं और श्री त्र्यं. ग. धनेश्वर ने पुनः श्री भारद्वाज के विचारों को ही पुनरुच्चारित किया है।[१] परन्तु ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः दो ज्ञानेश्वर स्वीकार करनेवाले कितने विचारक हैं क्योंकि श्री ल. रा. पांगारकर[२], प्रो. शं. वा. दांडेकर[३] और प्रो. कृ. वें. गजेंद्र गड़करी[४] ने तो वस्तुतः एक ही ज्ञानेश्वर माना है। इसी प्रकार डा. शं. गो. तुलपुले ने भी कई प्रमाण प्रस्तुत करते हुए इसी का समर्थन किया है और उनकी राय में "ज्ञानेश्वरीच्या बाजूनंहि विचार करते ज्ञानेश्वरांची विचार सरणी असत्यच करते। ज्ञानेश्वरींत अभंकार आहेत, आणि अभंगांत ज्ञानेश्वरीकार अहे आहेत, हेंच खरें।"[५] इस प्रकार कहा जा सकता है कि ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव और अभंगों के रचयिता ज्ञानेश्वर वस्तुतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं अपितु दोनों एक ही हैं।

वस्तुतः ज्ञानेश्वर एक महान् आत्मानुभवी संत व प्रखर तत्त्वज्ञानी थे और उन्होंने वेद, उपनिषद, हरिवंशपुराण, गीता, भागवत, शंकराचार्य के भाष्यादि ग्रंथ, योगवाशिष्ठ, गोरखनाथ के ग्रंथ आदि का अनुशीलन अवश्य किया था और ज्ञानेश्वरी का मंगलाचरण तो स्वयं उनके व्यापक पांडित्य की साक्षी दे रहा है क्योंकि उन्होंने प्रारंभ में गणेशस्तवन में स्वयं ही वेद, स्मृति, अष्टादश पुराण, काव्यनाटक, षडदर्शन, न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र, वेदांत, बौद्धमत, मीमांसा, द्वैताद्वैत मत तथा दशोपनिषद् आदि का उल्लेख भी किया है। अतएव उनकी विचारधारा का अनुशीलन करते समय एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि वस्तुतः ज्ञानेश्वरी के तत्त्वज्ञान पर सर्वाधिक प्रभाव किन ग्रंथों का पड़ा है।[६]

---

२. ज्ञानेश्वर दर्शन भाग २, शास्त्रीय खंड, पृष्ठ १९४

३. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास—श्री ला. रा. पांगारकर, खंड १, पृष्ठ ५९७-६०१

४. श्री ज्ञानदेव—प्रो. शं. वा. दांडेकर, पृष्ठ ६९-७२

५. श्री ज्ञानेश्वरदर्शन, भाग १, साहित्य खंड, पृष्ठ ३०७

६. महाराष्ट्र सारस्वत, पुरवणीसह, पृष्ठ ८९३-८९५

६. वस्तुतः पूर्ववर्ती ग्रंथों का प्रभाव संत ज्ञानेश्वर की कृतियों पर पड़ा भी है और कहीं-कहीं उन्होंने प्रसंगानुसार उन ग्रंथों के विचार ग्रहण भी किए हैं। 'कठोपनिषद्' की 'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति' नामक पंक्ति 'अमृतानुभव' में भी इसी रूप में दृष्टिगोचर होती है।' विभाती यस्य भासा। सर्वमिदं

ई. स.१९२१ में पंडित पांडुरंग शर्मा ने 'ज्ञानेश्वर महाराज व इतर तत्ववेत्ते'

हा ऐसा। श्रुति काया वायसा। हे करूं देती? (अमता० पृ० ७-२९०)
साथ ही शंकराचार्य के ग्रंथ 'शतश्लोकी' के निम्नांकित श्लोक :—

यद्वत श्रीखंडवृक्षप्रसृतपरिमलेनाभितोऽन्येपि वृक्षाः।
शश्वत्सौगंधभाजोऽप्यतनुतानुभृतां तापमुन्मूलयन्ति ॥२॥

की छाया तो स्पष्ट रूप से ज्ञानेश्वरी पर पड़ी है और उन्होंने भी चंदन का दृष्टांत अपनाया है। 'चंदने वेधिली झाडें। जाली चंदनाचेनि पाडें' (ज्ञा० १८-१७४२) और भी "पाहें पा चंदनाचेनि अंगानिळें। शिवतलें निंब होते जे जवळें।" (ज्ञा० ९-४८४)। इसी प्रकार शंकराचार्य की विवेक चूड़ामणि के इस श्लोक की :—

शब्दादिभिः पंच भैरेव पंच पंचत्वमापुः स्वगुणेन सिद्धाः।
कुरंगमातंग पतंगमीनभृंगा नरः पंचभिरेचितः किम् ॥७८॥

छाया ज्ञानेश्वर के "असे नदिसे" नामक अभंग की "स्पर्शें मातंग दीप्तीं पतंग नादें मृग घ्राणें भृंगा रसेन मीन" नामक पंक्ति पर पड़ी है। साथ ही योगवाशिष्ठ तथा ज्ञानेश्वरी से भी कई स्थलों में साम्यता सी दृष्टिगोचर होती है। एक उदाहरण देखिए :—

अतज्ज्ञायैव विषयाः स्वदन्ते न तु तद्विदः।
न हि पीतामृतायांतः स्वदने कठकांजिकाम् ॥

यही भावधारा ज्ञानेश्वरी के निम्नांकित उदाहरणों में देख पड़ती है —

तैसें आपणमें नाहीं दिले। जयातें स्वसुखाचे सदा खरोटे।
तयासीचि विषय हे गोमटे। आवडती ॥ ज्ञा० ५-११२ ॥
जो अमृतातें ठी ठेवी। तो जैसा कांजी न सेवी।
तैसा स्वसुखानुभवी। न भोगी न ऋद्धि ॥ ज्ञा० २-३६ ॥

यद्यपि कुछ विचारकों ने ज्ञानेश्वरी पर श्रीमद्भागवत का तनिक भी प्रभाव नहीं माना है परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो ज्ञानेश्वरी में बहुत से ऐसे स्थल मिलेंगे जिन पर भागवत का प्रभाव पड़ा है। सैद्धांतिक दृष्टि से श्रीमद्भागवत व ज्ञानेश्वरी में एकरूपता सी दृष्टिगोचर होती है और संत ज्ञानेश्वर ने तो भागवत में वर्णित ध्रुव, प्रल्हाद, अजामिल, गजेन्द्रमोक्ष आदि के दृष्टांत भी ग्रहण किए हैं; साथ ही स्वयं उन्होंने भी श्रीमद्भागवत का नामोल्लेख सम्मान के साथ किया है—ते हे कल्पादि भक्तिप्रियां। श्रीभागवतमिषें ब्रह्मया।
उत्तम म्हणोनि धनंजया। उपदेशिली ॥ १८-११३२।

नामक एक लेखमाला द्वारा इस विषय पर प्रकाश भी डाला था और काफी समय तक इस दिशा में विद्वानों द्वारा विभिन्न मत प्रस्तुत किए जाते रहे लेकिन किसी निश्चित निर्णय को प्रस्तुत करने में प्राय: सभी असमर्थ रहे परन्तु इधर सन् १९४१ में प्रथम बार डा. शंकर दामोदर पेंडसे ने अपनी उल्लेखनीय कृति 'ज्ञानेश्वरांचे तत्वज्ञान' में प्रस्तुत विषय पर सांगोपांग चर्चा कर एक निश्चित निर्णय प्रस्तुत किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ज्ञानेश्वरी के सृजन के पूर्व ज्ञानेश्वर ने शंकराचार्य के भाष्य का सम्यक् अध्ययन अवश्य किया था लेकिन उन्होंने स्वयं ही जो ज्ञानेश्वरी (१८. १७२२) में कहा है—"तैसा व्यासाचा मागोना थेतु। भाष्यकरांते वाट पुसतु" उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वस्तुत: यहाँ किस भाष्यकार की ओर संकेत किया गया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वस्तुत: यहाँ किसी एक भाष्यकार से ही अभिप्राय है या एक से अधिक से और फिर वह भाष्यकार शंकराचार्य हैं या रामानुजाचार्य या फिर कोई अन्य? वस्तुत: इस 'भाष्यकार' शब्द को लेकर ही विचारकों ने विभिन्न मत पुरस्सर किए हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि ज्ञानेश्वर के पूर्व शंकराचार्य और रामानुजाचार्य नामक दो आचार्य हो चुके थे। यद्यपि मध्वाचार्य ने भी गीता पर भाष्य लिखा था परन्तु चूँकि वे उनके समकालीन थे तथा उनका द्वैत संबंधी सिद्धान्त इतना अधिक स्पष्ट था कि उसके कारण उनका संबंध उनसे स्थापित किया ही नहीं जा सकता। साथ ही निम्बार्क ने भी ज्ञानेश्वर के पूर्व 'गीताभाष्य' लिखा था परन्तु वह इतना अधिक प्रसिद्ध नहीं है अत: उसके प्रभाव का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव इतना तो स्पष्ट है कि शंकराचार्य और रामानुजाचार्य में से किसी एक का या दोनों का उल्लेख ही इस पंक्ति में किया गया है। स्मरण रहे कि डा. शं दा. पेंडसे ने तत्त्वज्ञान की दृष्टि से गीता के २१८ स्थानों का तुलनात्मक अभ्यास कर अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"१४६ ठिकाणीं शंकर व ज्ञानेशानीं तत्त्वज्ञान व अर्थाच्या दृष्टीनें सदृश अशी टीका केली आहे. त्यापैकीं ४२ ठिकाणीं शंकराचेंच शब्द ज्ञानेशांनी योजिले आहेत. १० ठिकाणीं दोघाचें दृष्टांतहि सारखे आहेत व ५७ ठिकाणी ज्ञानेशांनी शंकरांचा अर्थ घेऊत रामानुजांचा टाकला आहे. ६८ ठिकाणीं शंकरांचा किंवा रामानुजांचाहि अर्थ न घेतां ज्ञानेशांनी स्वतंत्र अर्थ केले आहेत .... रामानुजांच्या अनुसरणाचें निरपवाद स्थल एकच आहे व तें "यावानर्थ उदपाने..... ।" (गीता २४६) हा श्लोक

होय. तत्त्वज्ञानाच्या दृष्टीने शंकरांना विरोधी असें एकहि स्थळ नाही ।''[1] इसका अर्थ यह है कि डा० पेंडसे की दृष्टि में 'भाष्यकरानें वाटपुसुत'' में भाष्यकार से अभिप्राय आद्य शंकराचार्य से ही है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञानेश्वर ने शांकर भाष्य का ही रूपांतर ज्ञानेश्वरी में कर दिया है अपितु यह कहा जा सकता है कि वे शांकर मत से प्रभावित अवश्य हुए होंगे।

स्मरण रहे नाथपंथ पर विचार करते समय हम स्पष्ट कर चुके हैं कि गुरु-परम्पर से ज्ञानेश्वर भी वस्तुतः नाथपंथी ही थे और उन्होंने स्वयं निवृत्ति-नाथ से नाथपंथ की दीक्षा भी ली थी। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि नाथपंथ की यह शाखा यद्यपि पूर्णतः अद्वैत मत को ही स्वीकार करती थी लेकिन कृष्णोपासना भी उसमें प्रारंभ में थी। वस्तुतः गुरुपरम्परा से प्राप्त अद्वैतानन्द की अनुभूति ही ज्ञानेश्वर के अद्वैतमत का प्रमुख कारण है और श्री शं. वा. दांडेकर के शब्दों में "एक आत्माच सर्वरूपांनी नटलेला आहे, शिवापासून तृणापर्यंत अथवा ब्रह्मदेवापासून मुंगीपर्यंत एक आत्माच स्फुरत आहे, किंबहुना विश्व व त्यांत भरलेला आत्मा एवढें देखील द्वैत संभवत नाहीं, तर अवघा एक आत्माच आहे असें ज्ञानदेवांच्या पूर्णद्वैताचें स्वरूप सांगता येईल।''[2] उदाहरणार्थ—

जालेनि जगें मी झांके। तरी जगत्वें कोंण फांके।
किळेवरी माणिकें। लोपिजे काई ॥

—ज्ञाने० अ. १४.१२४

अळंकारातें आलें। तरी सोनेपण काइ गेलें।
कीं कमळ फांकलें। कमळत्वा मुळें ॥

—ज्ञाने० अ. १४. १२५

म्हणोनि जग परौतें। सारूनि पाहिजे मातें।
तैसा नोहें उखितें। आघवें मीचि ॥

—ज्ञाने० अ. १४. १२७

तेवीं शिवौनि पृथ्वीवरी। भासती पदार्थाचिया परी।
प्रकाशे तें एकसरी। संविच्चि हे ॥

—चांगदेवपासष्टि ओ० १२.

---

१. ज्ञानेश्वरांचे तत्त्वज्ञान—डा० शं. दा. पेंडसे, प्रकरण तिसरें
२. ज्ञानेश्वर—श्री शं. वा. दांडेकर, प्रकरण सहावें

तवा आत्मश्लाघ्या शाखा । न पडेचि दुसरि रेखा ।
जरी विश्वा अशेखा । भरलें आहे ॥

—अमृ. प्र. ७।१४६ ।

कहा जाता है शंकराचार्य के प्रसिद्ध सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है' से ज्ञानेश्वर पूर्ण सहमत नहीं थे और वे सर्वत्र एक आत्मा की ही सत्ता स्वीकार करते थे परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञानेश्वर ने जो जगत को भ्रम मानना अस्वीकार कर दिया था अतः वे जगत् को सत्य समझते थे। जिस प्रकार जड़वादी चार्वाक जगत् को सत्य समझते थे उसी प्रकार ज्ञानेश्वर उसे सत्य नहीं मानते थे और वे जगत् को मिथ्याभ्रम ही मानते थे अपितु जैसा कि हम कह चुके हैं समस्त विश्व में आत्मा की ही सत्ता स्वीकार करते थे। डा० पेंडसे ने जो "ज्ञानेशांनी परमात्मतत्त्व हे सर्व शून्याचा निष्कर्ष आहे असें वर्णन केलें आहे"[1] नामक विचार व्यक्त किए हैं वस्तुतः वे युक्तियुक्त ही हैं। स्मरण रहे शंकराचार्य ने तो इसका वर्णन किया ही नहीं है और ज्ञानेश्वर ने निराली वैशिष्टयता के साथ स्वतंत्र रीति से इस विषय का चित्रण किया है। यद्यपि शंकराचार्य और ज्ञानेश्वर का अद्वैतमत एक समान ही है लेकिन ज्ञानेश्वर की विचारधारा में मौलिकता और निरालापन भी देख पड़ता है।

वस्तुतः अद्वैतमत को स्वीकार करते हुए भी वे भक्ति का महत्त्व भी मानते थे और उनकी दृष्टि में ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मरूप बनकर जगत में प्राणियों के भीतर अंतर्यामी रूप से विद्यमान ब्रह्म की सेवा की जानी चाहिए अर्थात् अद्वैत भाव के साथ-साथ वे भक्ति-साधना के भी समर्थक थे। जिस प्रकार स्वर्ण में स्वर्णता तो रहती ही है और जब उस स्वर्ण के अलंकार बन जाते हैं तो इस स्थिति को अद्वैत कहा जा सकता है लेकिन जिसको स्वर्ण तो दृष्टिगोचर नहीं होता अपितु केवल अलंकार और उसका आकार ही देख पड़ता है वस्तुतः उन दोनों को अविद्या या अज्ञान तथा माया के कारण भ्रमोन्मीलित ही समझा जाना चाहिए। अज्ञानवश ही व्यक्ति को केवल जगत् ही दृष्टिगोचर होता है और ईश्वर नहीं अतएव वे अद्वैतवाद के साथ भक्ति को भी संभव मानते हैं तथा इस तथ्य को उन्होंने आत्मानुभव का उदाहरण माना है जो शब्दों द्वारा ठीक-ठीक नहीं प्रकट किया जा सकता। उनकी दृष्टि में जिस

---

१. ज्ञानेश्वरांचें तत्त्वज्ञान—डा. शं. दा. पेंडसे प्रकरण चौथे

प्रकार साढ़े पन्द्रह के सोने में अर्थात् खरे सोने में खरा चोखा स्वर्ण मिला देने पर ही उत्तम स्वर्ण तैयार होता है उसी प्रकार तद्रूप होने पर ही भगवद्भक्ति उत्पन्न होती है और यदि गंगा समुद्र से भिन्न होती तो वह उसके साथ मिलकर कैसे एकाकार बन जाती—

साढ़े पंधरा मिसळावें । तें साडे पंधरेंचि हो आनें ।
तेविं मी जालिया संभवे । भक्ति माझी ॥
हां गंगा सिंधूसि आनी होती । तरि गंगा कैसेंनि मिळती ।
म्हणौनि मी न होता भक्ती । अन्वयो आहे ॥

—ज्ञानेश्वरी, अ० १५

इस प्रकार ज्ञानेश्वर की दृष्टि में भगवान् का भक्त भगवान् को अद्वैत रीति से जानकर ही उनका सच्चा भक्त बन पाता है । वस्तुत: उनकी इसी स्वतंत्र विचारधारा को लक्ष्यकर डा० शं. गो. तुळपुळे ने लिखा है—"विश्व हे चिद्विळास आहे किंवा जग असिकी वस्तुप्रभा हा त्यांचा सिद्धांत म्हणजे स्फूर्तिवाद गाभा असून या स्फूर्तिवादाचा मायावादिशीं समन्वय करण्यांत त्यांची प्रतिभा दिसून येते ।"[1] स्वयं ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी लिखने का प्रधान कारण जनसाधारण को श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर हिंदूधर्म का रहस्य समझाना माना है—

म्हणोनि व्यासा चाहा थोरू । विश्वा झाला उपचारू ।
श्रीकृष्ण उक्ति आकारू । ग्रंथाचा केला ।
आणि तो मियां आतां । व्यासाची पदें पाहता पाहा ॥
आणिला श्रवणपथा । मज्हाटियां ।

जिस प्रकार कि सहज साधना, नाथपंथ और महाराष्ट्र के एक अन्य प्रमुख संप्रदाय महानुभाव पंथ की सैद्धांतिक विचारधारा पर विचार करते समय स्पष्ट हो जाता है कि उन सभी में आध्यात्मिक उन्नति के हेतु गुरु कृपा की आवश्यकता ही जप, तप, संयम आदि सबसे अधिक मानी गई है उसी प्रकार ज्ञानेश्वर ने भी ज्ञानेश्वरी के तेरहवें अध्याय में विस्तार के साथ गुरुभक्ति तथा उससे होनेवाले लाभों पर प्रकाश डाला है । वे गुरुचरणोदक को तीर्थ मानकर गुरुचरण रज़ को कैवल्य समान समझते हैं तथा अत्युत्कट गुरुभक्ति ही उनकी दृष्टि में 'मूर्तिमंत' ज्ञान के सदृश्य है । उन्होंने गुरु को ही

१. महाराष्ट्र सारस्वत, पुरवणी सह, पृष्ठ ८९७

सम्प्रदाय, धर्म और वर्णाश्रम माना है तथा गुरुसेवा ही उनकी दृष्टि में नित्य-कर्म होना चाहिए। वे गुरु को ही तीर्थक्षेत्र देव और माता-पिता मानते हैं तथा उनकी दृष्टि में गुरुसेवा के अतिरिक्त अन्य दूसरा सुगम मार्ग है ही नहीं तथा जिसके मुख से सर्वदा ही गुरुनाम के मंत्र का उच्चारण होता है और जो गुरुकथित वाक्यों के अतिरिक्त किसी शास्त्र को हाथ से स्पर्श तक नहीं करता वह सच्चा गुरुभक्त है। उन्होंने गुरु को समस्तसुखर्थ, प्रज्ञाप्रभातसूर्य, विशद-विद्यावधूवल्लभ, सुखोदय नामक विशेषणों से विभूषित भी किया है और एक स्थल पर तो रुपक अलंकार की सहायता से उन्होंने 'चित्सूर्य श्री निवृत्तिनाथ' की स्तुति करते समय गुरु को सूर्य से भी श्रेष्ठ माना है।[1] इस प्रकार उनकी

---

१. मावळवीत विश्वाभास। नवल उदयला चंडांश।
अद्‌यार्बजिनीविकास। वंदूं आतां।
जो अविद्याराती रूसोनियां। गिळी ज्ञानाज्ञानचांदणिया।
जो सुदिन करी ज्ञानिया। स्वबोधाचा॥
जेणें विवळतिये सवळे। लाहोनि आत्मज्ञानाचे डोळे।
सांडिती देहाहंतेचीं अविसाळें। जीवपक्षी।
लिंगदेहकमळाचा। पोटीं वेंचतया चिद्‌भ्रमराचा।
बांधमोक्ष जयाचा। उदैला होय।
शब्दाचिया आसकडीं। भेदनदीच्या दोहीं थडीं।
आरडत विरहवेडीं। बुद्धिबोध॥
तयाचक्रवाकांचें मैथुन। सामरस्याचें। समाधान।
भोगवी जो चिद्‌भगन। भुवनदिता।
जेणें पाहालिये पाहंटे। भेदाची चोरळी फिटे।
रिगती आत्मानुभववाटे। पांथिक योगी।
जो प्रत्यग्बोधाचिया माथया। सोहंतेचा माध्यान्हीं आलिया।
लपे आत्मभ्रांतिछाया। आपणपातळीं॥
ते वेळीं विश्वस्वप्नासहितें। कोण अन्यथामती निद्रेतें
सांभाळीं नुरेचि जेथें। मायाराती।

× × × × × ×

तो अहोरात्रांचा पैलकड। कवणें देखावा ज्ञानमार्तंड।
जो प्रकाश्येवीण सुखाड। प्रकाशाचा॥

दृष्टि में गुरुरूपी सूर्य के अध्यात्म आकाश में उदित होते ही प्रपंच रूपी भ्रम नष्ट हो जाते हैं जिससे कि अद्वितीय आनंद प्राप्त होता है। ज्ञानेश्वर की भाँति अमृतानुभव के दूसरे प्रकरण में 'सद्गुरुस्तवन' विषय ही अंकित किया गया है और सद्गुरु के वाच्य सोपाधिक सगुणरूप तथा ब्रह्म स्वरूप नामक दो रूप माने गये हैं और श्रवणमननादि साधनाएँ गुरुकृपा द्वारा ही संभव समझी गयी हैं।

ज्ञानेश्वर की भक्ति-साधना पर विचार करते समय बहुत से विचारक उन्हें योग साधना का अनुयायी भी मानते हैं और ज्ञानेश्वरी में यद्यपि उन्होंने प्रसंगानुसार योग साधना का चित्रण भी किया है परन्तु उसमें पातंजलयोग का वर्णन कर अध्यात्म योग को ही प्रधानता दी गयी है और साथ ही जितेंद्रियता भी उनकी दृष्टि में परमावश्यक है। 'मी माझें ऐसी आठवण। विसरलें जयाचें अंतःकरण' नामक विचारवाला व्यक्ति ही उनकी दृष्टि में वास्तविक सन्यासी और योगी है उनकी दृष्टि में संन्यास व कर्मयोग दोनों का फल भी एक ही है और वे कर्मयोग को ही सहजसाध्य समझते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में उसका आचरण युक्ततर है लेकिन यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उन्होंने कहीं भी यह नहीं कहा कि कर्मों द्वारा स्वतंत्र रूप से मोक्ष प्राप्ति संभव है।

ज्ञानेश्वरी के अठारहवें अध्याय में कर्मयोग का उदात्त स्वरूप व्यक्त करते समय कर्म, ज्ञान व उपासना तीनों की एकरूपता स्वीकार कर तीनों का पारस्परिक संबंध भी माना गया है। ज्ञानेश्वर की दृष्टि में ज्ञान की शक्ति व पवित्रता के सामने पाप, अज्ञान व मोह क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रह सकते। उन्होंने ज्ञान लक्षण के भी लक्षण विस्तार के साथ अंकित किए हैं। अहिंसा, अव्यभिचारी, भक्ति, अध्यात्मज्ञाननित्यत्व, तत्वज्ञानार्थदर्शन नामक ज्ञानलक्षणोंका उल्लेख करते हुए उन्होंने अभय, दान, तप,अहिंसा,दया,सौजन्य, तेज, क्षमा, धृति, शौच और परोपकार नामक दैवीगुण माने हैं। उनकी विचार है कि जिनमें ज्ञान या दैवी संपत्ति के उपर्युक्त लक्षण दृष्टिगोचर हों उनमें ज्ञान विद्यमान है ऐसा समझना चाहिए और वस्तुतः सत्य, अहिंसा, परोपकार, सौजन्य, भक्ति, दया, दान नामक गुण ही ज्ञानबुद्धि करते हैं बल्कि उचित तो यह होगा कि हम उन्हें ही ज्ञान समझ

तथा चित्सूर्या श्रीनिवृत्ती। आतां नमोचि म्हणों पुढतपुढती॥
जे बाधका येईजसे स्तुती। बोलाचिया॥

—ज्ञानेश्वरी १६. १. ११. १६. १७

लें। ज्ञानेश्वर ने मानित्व,दंभित्व, अशांति, अशौच, जन्मजरादिक की अभिज्ञता, आसक्ति, दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पौरुष्य और अज्ञान को अज्ञान अथवा आसुरी प्रकृति का लक्षण माना है।

यह तो हम कह ही चुके हैं कि शंकराचार्य से प्रभावित होते हुए भी और उनके अद्वैत मत का प्रतिपादन करते हुए भी ज्ञानेश्वर ने भक्ति भावना आवश्यक समझी है साथ ही आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी व ज्ञानी नामक चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी को ही श्रेष्ठतम भक्त उन्होंने माना है। "ज्ञानाचेति प्रकाशें। पिटलें, मेदाचें कवडसें" नामक उक्ति द्वारा आत्मज्ञान रूपी आलोक के कारण द्वैताधंकार का अनुभय न कर पानेवाला साधक ही सच्चा भक्त कहलाता है।[1] ज्ञानेश्वरी में नवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक देवों के स्वरूप, सगुण और निर्गुण भक्तिभावना, सगुण भक्ति की सुलभता तथा उनके लक्षण ही विस्तार के साथ अंकित किए गए हैं। साथ ही उन्होंने परमात्मा की व्यापकता भी प्रतिपादित की है।

स्मरण रहे ज्ञानेश्वरी पर तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ा है। फलतः उसमें लोक-व्यवहार संबंधी बहुत से विचार प्रस्तुत किए गये हैं तथा तत्कालीन परिस्थितियों का वास्तविकता पूर्ण चित्रण भी किया गया है। व्यापार, उद्योग धंधे, खेती, नाना प्रकार के व्यक्तियों आदि की प्रवृत्तियों का चित्रण करने की ओर भी ज्ञानेश्वर की दृष्टि गयी है और साथ ही 'पतिपत्नी' की एकरूपता भी उन्होंने प्रतिपादित की है। पतिपत्नी की एकरूपता ही उनकी दृष्टि में संसार है। विवाह और उसके महत्त्व को भी वे स्वीकार करते थे तथा भोजन के विभिन्न पदार्थों का नाम भी उनकी कृतियों में उपलब्ध होता है। उनका यह अमिट विश्वास था कि पतिव्रता नारी ही गृह को स्वर्ग बना सकती है और साथ ही ज्ञानेश्वरी में वात्सल्य रस को ही भक्ति रस का पोषक माना गया है। ज्ञानेश्वर ने वनोपवनों, पुष्पवाटिकाओं तथा विभिन्न वृक्षों और भाँति भाँति के पुरुषों, पशुपक्षियों, कृमिकीटकों का भी वर्णन किया है। इसी प्रकार अनन्य भक्ति का

१—शरीरीं हन् कर्में।
तो भक्त ऐसा गमे।
परी अंतरप्रतीतिधर्में।
मीच जाहला॥

रहस्य प्रतिपादित करने के हेतु उन्होंने चातक और चकोर का अनेक बार उल्लेख भी किया है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार चन्द्र से चकोर का तथा मेघ से चातक का अनुराग है उसी प्रकार चातक के अतिरिक्त मेघ का एक और भी प्रेमी है वह है मयूर।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानेश्वर की प्रतिभा बहुमुखी थी तथा उनकी कृतियों में सर्वत्र ही उनका व्यापक अध्ययन दृष्टिगोचर होता है और इसीलिए उनकी विचार-धारा में प्रत्येक विषय का सांगोपांग निरूपण संभव भी हो सका।



१—घनगर्जनासरिसा। मयूर वोषांडे आकाशा।
आणि नवघनहि मयूरा। वो देत पांवे॥

लेखक की अन्य कृतियाँ—



१. हिंदी कवियों की काव्य-साधना

२. विचार-वीथिका

३. अनुभूति और अध्ययन

४. सेनापति और उनका काव्य

५. प्रभात के प्रसून

६. चिन्तन: मनन

७. सूर-प्रभा और सूरदास

८. हिंदी पंचरत्न

९. कहानी-कला की आधार शिलाएँ

(प्रेस में)

१०. हिंदी कविता: कुछ विचार [प्रथम खंड]